दो शब्द

काव्य-कल्पद्रुम के लेखक विद्वद्वर पोद्दारजी हिंदी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता, सुप्रसिद्ध काव्य-मर्मज्ञ और श्रेष्ठ कवि हैं। आपका यह ग्रंथ हिंदी-संसार में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर चुका है। अब की बार यह संस्करण समुचित संशोधन, संवर्द्धन और संपादन के साथ निकल रहा है। आशा है, हिंदी-संसार इसे पहले की अपेक्षा और अधिक आदर और अनुराग से अपनाएगा, एवं हमें पोद्दारजी-जैसे कुशल कवि-कोविद की दूसरी सुंदर कृति लेकर उपस्थित होने का अवसर देगा।

कवि-कुटीर, लखनऊ
५।२।३४

दुलारेलाल भार्गव

विषय-सूची

(विषय-अनुसंधान के लिये ग्रंथांत में विस्तृत विषयानुक्रमणिका देखिए)

॥ श्रीहरिः ॥

भूमिका

"तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि ;
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ।"

काव्य के अनिर्वचनीय तत्त्व को कोई विरला ही जान सकता है। पुष्पों के सौंदर्य से सभी का मन प्रसन्न होता है। उनकी मधुर गंध से सभी का चित्त प्रफुल्लित होता है। पर उनके मधुर रस का मर्मज्ञ केवल मधुव्रत ही होता है। काव्य को बहुत से लोग पढ़ और सुनकर अपना मनोरंजन करते हैं, किंतु इसके अलौकिक रसास्वादन में ब्रह्मानंद सहोदरत्व का अनुभव केवल सहृदय काव्य-मर्मज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य में यही लोकोत्तर महत्त्व है। इस महत्त्व को जानने के लिये सबसे प्रथम यह जानना आवश्यक है कि काव्य की उत्पत्ति कब और किसके द्वारा हुई? इसके प्रसिद्धाचार्य कौन हैं? इसकी पूर्वकाल में क्या दशा थी? और इसके द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक लाभ क्या हैं?

विचार करने से ज्ञात होता है कि—

वेद ही काव्य का मूल है।

वेद में ध्वनि-गर्भित—व्यंग्यात्मक—और आलंकारिक भाषा दृष्टिगत होती है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ;
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ।"

(मु॰ मुंडकोपनिषद् खंड १, सं॰ १)

इसमें 'अतिशयोक्ति' अलंकार है। ध्वनि आदि परोक्षवाद तो वेद में प्रायः सर्वत्र ही है—'परोक्षवादो वेदोऽयं'। वेद काव्य का मूल है, अतएव सच्चिदानंदघन श्रीपरमेश्वर द्वारा ही लोक में सबसे प्रथम इसकी प्रवृत्ति हुई है।

वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में काव्य-रचना अनेक स्थलों पर विद्यमान है। वाल्मीकीय रामायण को तो महर्षिवर्य ने 'आदि काव्य' के नाम से ही व्यवहृत किया है। महाभारत को परमेष्ठि ब्रह्माजी ने और स्वयं भगवान व्यासजी ने महाकाव्य संज्ञा दी है[1]। और अग्निपुराण में तो साहित्य-विषय का विस्तृत वर्णन है[2]।

जिस प्रकार व्याकरण, न्याय एवं सांख्य आदि के पाणिनि, गौतम और कपिल आदि प्रसिद्ध आचार्य हैं, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के

१ देखिए, महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १।६१ और १।७२।
२ देखिए, अग्निपुराण, आनंदाश्रम सीरिज़, अध्याय ३३७ से ३४७ तक।

प्रसिद्ध आचार्य भगवान् भरतमुनि हैं।

यह महानुभाव भगवान् वेदव्यास के समकालीन या उनके पूर्ववर्ती थे। भगवान् वेदव्यास ने अग्निपुराण में लिखा है—

"भरतेन प्रणीतत्वाद्भारती रीतिरुच्यते।"

(३४०।१)

साहित्य-शास्त्र के उपलब्ध ग्रंथों में सबसे पहला ग्रंथ महानुभाव भरतमुनि का निर्माण किया हुआ 'नाट्यशास्त्र' है। इसके बाद आचार्य भामह, उद्भट, दंडी, वामन, रुद्रट, महाराज भोज, ध्वनिकार श्रीआनंदवर्धनाचार्य, मम्मटाचार्य, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पैय्य दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ आदि अनेक उत्कट विद्वानों ने काव्य-पथ-प्रदर्शक अनेक ग्रंथ-रत्न निर्माण किए हैं। इन महत्त्व-पूर्ण ग्रंथों के कारण हम लोग साहित्य-संसार में सर्वोपरि अभिमान कर सकते हैं। जिस समय ये ग्रंथ निर्माण हुए थे, उस समय साहित्य की अत्यंत उन्नत अवस्था थी। भर्तृहरि, श्रीहर्ष और भोज-जैसे गुणग्राहक, साहित्य-रसिक और उदारचेता राजा-महाराजों की काव्य पर एकांत रुचि रहती थी। यहाँ तक कि ये महानुभाव विद्वानों द्वारा उच्च कोटि के ग्रंथ निरंतर निर्माण कराके उन्हें उत्साहित ही नहीं करते थे, वे स्वयं भी अपूर्व ग्रंथों की रचना द्वारा साहित्य-भंडार की वृद्धि करके हंस-वाहिनी, वीणा-पाणि भगवती सरस्वती की अपार सेवा करते थे। उन्होंने

श्रीलक्ष्मी और सरस्वती के एकाधिकरण में न रहने के लोकापवाद को सचमुच मिथ्या कर दिखाया था। उनके सिद्धांत थे—

'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

(भर्तृहरि)

परिवर्तनशील कराल काल के प्रभाव के कारण इस समय हमारा साहित्य अवनत दशा में पड़ा हुआ है। इस—

अवनति के कारण

अनेक हैं। प्रथम तो राजा-महाराजों में वादृश रुचि का अभाव है। जिसका फल यह है कि विद्वत्समाज हतोत्साहित हो रहा है। दूसरे, भारतीय विद्वान् विदेशी भाषा में अनुराग रखने लगे हैं। आश्चर्य तो यह है कि पाश्चात्य विद्वान् हमारे साहित्य पर मुग्ध हो रहे हैं, और हमारा विद्वत्समाज इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।

जड़-बुद्धि जनों को छोड़ दीजिए, उनके अतिरिक्त कितने ही ऐसे भी साक्षर व्यक्ति हैं जो केवल स्वयं ही यह नहीं समझते हैं कि काव्य केवल कवि-कल्पना है, किंतु वे दूसरों के हृदय में भी यही नीच भाव उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं कि लाभ काव्य से कुछ नहीं होता, यह निःसार है; किंतु ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं।

काव्य से लाभ

क्या हैं ? इस विषय में मम्मटाचार्य ने लिखा है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ;
सद्यः परनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे ।"

(काव्यप्रकाश)

अर्थात् काव्य यश, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दुःख-नाश, शीघ्र परमानंद और कांता के समान मधुरता-युक्त उपदेश का साधन है। इस कथन में आलंकारिकता या अत्युक्ति सर्वथा नहीं है। देखिए, काव्य द्वारा प्राप्त—

यश

कितना चिरस्थायी है। विश्व-विख्यात महाकवि कालिदास और गोस्वामी महात्मा तुलसीदासजी आदि का कैसा अक्षय यश हो रहा है। कालिदास आदि के पैतृक कुल को कोई नहीं जानता, न इनका कोई दान आदि ही प्रसिद्ध है। एकमात्र काव्य ही इनकी आसमुद्रांत प्रसिद्धि का कारण है।

द्रव्योपार्जन के लिये निस्संदेह बहुत मार्ग हैं। किंतु काव्य-रचना द्वारा

द्रव्य-लाभ

करना एक गौरव की बात है। संस्कृत के प्राचीन महा-कवियों की तो बात ही क्या, उद्भट-जैसे विद्वान् को प्रतिदिन

एक लक्ष सुवर्ण-मुद्रा का वेतन मिलना इतिहास-प्रसिद्ध है[१]। हिंदी-भाषा के भी केशवदास, भूषण, पद्माकर, मतिराम आदि को और राजस्थान के महाराजों से चारण जाति के बहुत से प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वान् कवियों को सम्मान-पूर्वक अमित द्रव्य-लाभ होना प्रसिद्ध है। इस समय भी पाश्चात्य देशों में—जहाँ विद्वत्ता का मूल्य है—विद्वानों को प्रचुर पारितोषिक देकर प्रोत्साहित किया जाता है।

सुखोपभोग

देवतों की स्तुतिरूपात्मक काव्य से मनोवांछित फल प्राप्त होना पुराणेतिहासों से सिद्ध है। और

लोक-व्यवहार-ज्ञान

के लिये तो काव्य एक मुख्य और सुख-साध्य साधन है। महाकवियों के काव्य केवल लोक-व्यवहार-ज्ञान के भंडार ही नहीं हैं, किंतु शृंगार-रस के सुमधुर और रोचक वर्णनों द्वारा धार्मिक और नैतिक शिक्षा के भी सर्वोत्कृष्ट साधन हैं।

उपदेश

के लिये जब नीति-शास्त्र हैं तब काव्य से क्या अधिक उपदेश मिल सकता है, ऐसा समझना अनभिज्ञता-मात्र है। काव्य द्वारा जिस रीति से उपदेश मिलता है, वैसा और कोई सुगम साधन नहीं है। शब्द तीन प्रकार के होते हैं—'प्रभु-सम्मित', 'सुहृद्-

---

१ देखिए, राजतरंगिणी।

सम्मित' और 'कांता-सम्मित'। वेद-स्मृति आदि प्रभु-सम्मित शब्द हैं। प्रथम तो उनका अध्ययन सुसाध्य नहीं। दूसरे, इनके वाक्यों का राजाज्ञा के समान भय से ही पालन करना पड़ता है—ये आंतर्य दूषित भावों का निराकरण नहीं कर सकते। पुराण-इतिहास आदि सुहृद्-सम्मित शब्द हैं। ये मित्र के समान सदुपदेश करते हैं, परंतु जो कुमार्गी हैं, उन पर मित्र के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन दोनो से विलक्षण जो काव्य-रूप 'कांता-सम्मित'-शब्द है, वह कांता की तरह रमणीयता से उपदेश देता है। जिस प्रकार कामिनी गुरुजनों के अधीन रहनेवाले अपने प्रियतम को विलक्षण कटाक्षादि भावों की मधुरता से सरसता-पूर्वक अपने में आसक्त कर लेती है, उसी प्रकार काव्य भी सुकुमारमति, नीति-शास्त्र-विमुख जनों को कोमलकांत-पदावली की सरसता से अपने में अनुरक्त करके फिर 'श्रीरामादि की भाँति चलना चाहिए, न कि रावणादि की तरह' ऐसे सार-गर्भित किंतु मधुर उपदेश करते हैं। काव्य की सुमधुर शिक्षा द्वारा हृदय-पटल पर कितना शीघ्र और कैसा चमत्कारक प्रभाव पड़ता है, इसके प्रमाण प्राचीन ग्रंथों में बहुत हैं। एक अर्वाचीन उदाहरण ही देखिए। जयपुराधीश महाराज जयसिंह बड़े विलासी थे। उनकी विलास-प्रियता के कारण उनके राज्य की शोचनीय अवस्था हो रही थी। कविवर बिहारीलाल ने केवल—

'नहिं पराग नहिं मधुरमधु, नहिं विकास इहिकाल ;
अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल।'

इसी शिक्षा-गर्भित शृंगार-रसात्मक एक दोहे को सुनाकर महाराज जयसिंह को अंतःपुर की एक अनखिली कली के बंधन से विमुक्त करके राजकार्य में संलग्न कर दिया था।

उपदेश में मधुरता होना दुर्लभ है। महाकवि भारवि ने कहा है—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।'

परंतु यह अनुपम गुण केवल काव्य में ही है। और—

दुःख-निवारण

के लिये भी काव्य एक प्रधान साधन है। काव्यात्मक देव-स्तुति द्वारा असंख्य मनुष्यों के कष्ट निवारण होने के इतिहास महाभारतादि में हैं। मध्यकाल में भी श्रीसूर्यदेव आदि से मयूरादि*

---

* कहते हैं, मयूर कवि कुष्ठ-रोग से पीड़ित होकर हरिद्वार गए थे। 'या तो सूर्य के अनुग्रह से कुष्ठ दूर हो जायगा, नहीं तो मैं प्राण विसर्जन कर दूँगा' यह प्रण करके वह किसी ऊँचे वृक्ष की शाखा से लटकते हुए एकसौ रस्सी के छींके पर बैठकर श्रीसूर्य की स्तुति करने लगे और एक-एक पद्य के अंत में एक-एक रस्सी को काटते गए। सब रस्सियों के कटे जाने के पहले ही, काव्यमयी स्तुति से भगवान् भास्कर ने प्रसन्न होकर उनका रोग निर्मूल कर दिया।

कवियों के दुःख निःशेष होने के उदाहरण मिलते
काव्य-जन्य आनंद कैसा निरुपम है, इसका अनुभ
काव्यानुरागी ही कर सकते हैं। अत्यंत कष्ट-साध्य
के करने से स्वर्गादिकों की प्राप्ति का आनंद काल
देहांतर में मिलता है, पर काव्य के श्रवण-मात्र ह
के आस्वादन के कारण तत्काल—

परमानंद

प्राप्त होता है। इस आनंद की तुलना में अन्य आनं
प्रतीत होने लगते हैं। कहा है—

१'[illegible] ;
[illegible]।'

(आर्या सप्त

निष्कर्ष यह है कि काव्य द्वारा सभी वांछित फ
हो सकते हैं। त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—के फ
मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। आचार्य भामह ने कह

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ;
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।'

बहुत लोग काव्य-रचना एवं काव्यावलोकन करते हैं

---

१ सुनने से [illegible] दूर से [illegible]
[illegible] है, वह [illegible] के [illegible]
[illegible] हो [illegible] है।

निर्माण और उत्कृष्टता के हेतु हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि काव्यत्व के लिये निपुणता की अपेक्षा नहीं, केवल प्रतिभा ही पर्याप्त है। हां, यह तो निर्विवाद है कि काव्य-निर्माण में प्रतिभा प्रधान है। पर प्रतिभा से केवल हृदय में शब्द और अर्थ का सन्निधान ही साफ होता है, सार का ग्रहण और असार का त्याग व्युत्पत्ति—निपुणता—द्वारा ही हो सकता है। अतएव शास्त्रों के ज्ञान द्वारा प्राप्त निपुणता की नितांत आवश्यकता है, और इसी प्रकार काव्य के अभ्यास की भी परमावश्यकता है। अतः अधिकतर आचार्यों का मत यही है कि *तीनो ही काव्य के लिये अपेक्षित हैं।*

जिसके द्वारा काव्य के निर्माण और रसानुभव का, एवं उसके स्वरूप, दोष, गुण आदि का ज्ञान प्राप्त होता है, उसे

साहित्य-शास्त्र

कहते हैं। जिस प्रकार भाषा-ज्ञान के लिये व्याकरण आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य के निर्माण और रसास्वादन के लिये साहित्य-शास्त्र अर्थात् रीति-ग्रंथों के अध्ययन की आवश्यकता है।

काव्य क्या है? १

इस विषय में यहाँ पर केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि काव्य में—

---

१ काव्य के लक्षण के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मतों का

ध्वनि और अलंकार

ही मुख्य हैं। ध्वनि कहते हैं व्यंग्यार्थ को। व्यंग्यार्थ शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं कहा जाता। कहा है—

> 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्;
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु।'
>
> (ध्वन्यालोक)

अर्थात् महाकवियों की वाणी में वाच्य अर्थ से अतिरिक्त जो प्रतीयमान अर्थ—ध्वनि रूप व्यंग्य अर्थ—है, वह एक विलक्षण पदार्थ है। यह अर्थ उसी प्रकार शोभित होता है, जैसे कामिनी के शरीर में हस्तपाद आदि प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त लावण्य। काव्य के प्राण रस, भाव आदि हैं। ये प्रतीयमान ही होते हैं—'रस', 'भाव'-शब्द कह देने मात्र से ही आनंद नहीं होता—उनकी व्यंजना ही आस्वादनीय होती है। अलंकार कहते हैं आभूषण को। जिस प्रकार सौंदर्यादि गुण-युक्त रमणी आभूषणों से और भी अधिक रमणीयता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार

विस्तृत विवेचन भूमिका में करने के लिये प्रथम खण्ड के प्रारंभ में लिखा गया था। पर विस्तार-भय से यहाँ इस विषय पर नहीं लिख सके हैं। हमारा 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' शीघ्र ही प्रकाशित होगा। उसमें इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है।

अलंकारों के कारण काव्य भी सहृदयों के लिये अधिक आह्लादक हो जाता है। भगवान् वेदव्यासजी ने कहा है—

> 'अलंकरणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते ;
> तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्।
>
> (अग्निपुराण ३४४।०२)

बहुत-से पश्चिमीय 'सभ्यता' के प्रेमी विद्वान् व्यंग्य और अलंकार-युक्त काव्य को उत्कृष्ट नहीं मानते। वे केवल *सृष्टि-वैचित्र्य-वर्णनात्मक काव्य में ही काव्यत्व की* चरम सीमा समझते हैं। यही कारण है कि काव्य-पथ-प्रदर्शक ग्रंथ उनको अनावश्यक प्रतीत होते हैं। इस विषय में यह कहना ही पर्याप्त है कि सृष्टि-वर्णनात्मक काव्य के साथ जब व्यंग्य और अलंकार का संयोग हो जाता है, तभी वे उत्कृष्ट काव्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। देखिए—

> 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ;
> यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।'
>
> (वाल्मीकीय रामायण)

वाल्मीकीय रामायण का यही मूल-भूत श्लोक है। महर्षि वाल्मीकि के देखते हुए क्रौंच पक्षी के जोड़े में से कामोन्मत्त नर क्रौंच को व्याध ने मार डाला। भूमि में गिरे हुए, रुधिर-लिप्तांग उस मृत सहचर की तादृश दशा देखकर वियोग-व्यथा से व्याकुल होकर क्रौंची ने अत्यंत कारुणिक क्रंदन किया। उसे सुनकर दयालु महर्षि के चित्त में उस समय जो

शोक—करुणरस—उत्पन्न हुआ, वही इस श्लोक में ध्वनित होता है। वही शोक-कृपार्द्र-हृदय महर्षि के मुख से क्रौंच-घाती व्याध के प्रति इस श्लोक द्वारा परिणत हुआ है। यह एक साधारण स्वाभाविक वर्णन है। इस वर्णन के वाच्यार्थ में कुछ चित्ताकर्षक चमत्कार नहीं, परंतु इसके व्यंग्यार्थ में जो करुणोत्पादक संवाद है, उसमें महानुभाव महर्षि के करुणा-प्लावित चित्त का अप्रतिम मृदुल भाव व्यक्त होता है। और, वह सहृदयों के मन को बलात् आकर्षित कर लेता है। कहा है—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ;
क्रौञ्चद्वंद्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।'

(ध्वन्यालोक)

यह मानसिक ध्वनि-गर्भित अंतःसृष्टि-वर्णन है। ध्वनि-गर्भित बाह्य सृष्टि-वर्णन भी देखिए—

'एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ;
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि।'

(उत्तररामचरित)

शंबूक का वध करके अयोध्या को लौटते हुए श्रीरामचंद्र पूर्वानुभूत दंडकारण्य को देखकर कह रहे हैं—'यह वही मयूरों की केका-युक्त पर्वतों का मनोहारी दृश्य है। यह वही मत्त

हरिणों से सुशोभित वनस्थली है। ये वे ही सौ
वंजुल लताओं से युक्त नीरंध्र-सघन-निचुलवाले नदि
हैं।' यह एक नैसर्गिक वर्णन है। यहाँ दण्डकवन
स्मरण से भगवती जनकनंदिनी के साथ पहले कि
आनंदमय विहार स्मरण हो आने से भगवान् श्री
हृदय में जानकीजी के वियोग के कारण जो आंतर
यह व्यंग्य है—'अवश्य ही ये सारी वस्तुएँ वे ही
रमणीय दृश्य से जनकनंदिनी की अलौकिक भाव
प्रमोदित मेरे हृदय में अनुपम आनंद का स्रोत
जाता था। हाय! अब उसके वियोग में यही व
कुछ और ही प्रतीत हो रहा है—मुझे अत्यंत व
दे रहा है'। और यह व्यंग्य ही, जो 'एते, त प
इत्यादि पदों में ध्वनित हो रहा है, इस नैसर्गि
पद्य का जीवन सर्वस्व है। अब एक अ
नैसर्गिक वर्णन भी देखिए—

[illegible]

इसमें कवि-कुल-भूषण कालिदास ने मन
... का वर्णन किया है। [illegible]

और से बाण निकालते हुए राजा को अपने पीछे आते देखकर इतर-वितर हुए मृग-समूह ने अश्रु-प्लावित र सभय दृष्टि-पात से वन को श्यामल कर दिया है— न पादों में यह नैसर्गिक वर्णन है और चौथे पाद में मृग-समूह के उस दृष्टि-पात को, पवन-वेग से सरोवर में चलित हुए नील कमल-दलों के वृंद की उपमा दी गई । इस उपमा के संयोग से इस नैसर्गिक वर्णन की मन-हिनी छटा में अपरिमित आनंद की घटा वस्तुतः छा ई है।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यंग्य-अलंकार-युक्त काव्य निकृष्ट कहना सहृदयता पर प्रहार करना है। वास्तव व्यंग्य-काव्य सहृदयों के अंतःकरण को आप्लावित कर ता है, और सर्वोत्कृष्ट कवित्व का ही एक परम मनोहर मधेय है। हाँ, यह बात और है कि जो वस्तु विशेष सी को परमप्रिय होती है, वही वस्तु दूसरे को तादृश ख़कारक न होकर कदाचित् अरुचिकर भी हो सकती है। महाकवि कालिदास ने कहा है—

'अथाङ्गराजादवतार्य चक्षु-
र्याहीति जन्यामवदत्कुमारी ;
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्-
द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोके ।'

(रघुवंश ६ । ३०)

य-सम्मेलन की परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में हो स्थान
य हो सका था। काव्य-कल्पद्रुम बी० ए०, एम्० ए०
पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचित हो गया है।

तुत संस्करण बहुत परिवर्द्धित हो गया है। द्वितीय
ण से इसका दूने से अधिक कलेवर है। द्वितीय
ण में लक्षणा, व्यंजना एवं ध्वनि और नवरस का
संक्षिप्त रूप से था, और अलंकार-विषय पर भी
विवेचन न था। इस संस्करण में प्रत्येक विषय का,
तः नवरस का, बहुत विस्तार के साथ निरूपण किया
। कुछ विद्वान् मित्रों का यह भी अनुरोध था कि नव-
र कोई ऐसा ग्रंथ लिखा जाय, जिसके द्वारा रस-विषय
ार्थ स्वरूप का ज्ञान हो सके। इस अनुरोध को यथासाध्य
करने की इस संस्करण में चेष्टा की गई है।

तुत संस्करण दो भागों में विभक्त कर दिया गया है।
भाग में प्रधानतः रस-विषय है। इसमें रस, भाव आदि के
का सविस्तर निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा,
ा और ध्वनि का जो विवेचन इस भाग में किया गया
रस-विषय के अध्ययन करने के लिये परमावश्यक
स-संप्रदाय (School) प्राचीन होने के कारण स्वतंत्र
य है, पर 'रस' व्यंग्यार्थ है—रस ध्वनित होता है—
व 'रस' ध्वनि का ही एक प्रधान भेद है। जब तक ध्वनि
ध्वनि के सर्वस्व व्यंग्यार्थ को न समझ लिया जायगा,

'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' में और पं० रमाशंकर शुक्लजी 'रसाल' ने 'अलंकार-पीयूष' में, अनेक स्थलों पर इस ग्रंथ के प्रथम संस्करण (अलंकार-प्रकाश) और द्वितीय संस्करण (काव्य-कल्पद्रुम) के पद्य और गद्य-प्रकरण अविकल रूप में और अनेक स्थलों पर कुछ परिवर्तित करके उद्धृत करने की कृपा की है। उन ग्रंथों की आलोचनाएँ 'माधुरी' और 'साहित्य-समालोचक' आदि में हुई हैं। वास्तव में तो इन महानुभावों ने इस ग्रंथ का आदर ही किया है। यहाँ इस विषय का इसलिये उल्लेख किया जाना आवश्यक समझा गया कि 'भानुजी' आदि महाशयों ने इस ग्रंथ से उद्धृत अंश को अवतरण रूप में न लिखकर अपनी निजी कृति की तरह उपयोग किया है। यह तीसरा संस्करण उन महाशयों के ग्रंथों के बाद निकल रहा है। अतएव इस ग्रंथ में तदनुरूप गद्य और पद्य देखकर समालोचक महोदय यही दोषारोपण इस क्षुद्र लेखक पर न करें।

तृतीय संस्करण के संबंध में दो शब्द

हर्ष का विषय है कि भगवान श्रीराधागोविंददेव की कृपा से इस ग्रंथ के तृतीय संस्करण का सुअवसर प्राप्त हुआ है। निस्संदेह साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों की गुण-ग्राहकता और उनके अनुग्रह का ही यह फल है।

प्रथम संस्करण (अलंकार-प्रकाश) का जितना आदर हुआ था, उससे कहीं अधिक दूसरा संस्करण (काव्य-कल्पद्रुम) लोक-प्रिय सिद्ध हुआ है। अलंकार-प्रकाश को केवल हिंदी-

साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में ही स्थान उपलब्ध हो सका था। काव्य-कल्पद्रुम बी० ए०, एम० ए० के भी पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचित हो गया है।

प्रस्तुत संस्करण बहुत परिवर्द्धित हो गया है। द्वितीय संस्करण से इसका दूने से अधिक कलेवर है। द्वितीय संस्करण में लक्षणा, व्यंजना एवं ध्वनि और नवरस का विषय संक्षिप्त रूप से था, और अलंकार-विषय पर भी अधिक विवेचन न था। इस संस्करण में प्रत्येक विषय का, विशेषतः नवरस का, बहुत विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। कुछ विद्वान् मित्रों का यह भी अनुरोध था कि नवरस पर कोई ऐसा ग्रंथ लिखा जाय, जिसके द्वारा रस-विषय के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो सके। इस अनुरोध को यथासाध्य पालन करने की इस संस्करण में चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत संस्करण दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम भाग में प्रधानतः रस-विषय है। इसमें रस, भाव आदि के विषय का सविस्तर निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि का जो विवेचन इस भाग में किया गया है, वह रस-विषय के अध्ययन करने के लिये परमावश्यक है। रस-संप्रदाय (School) प्राचीन होने के कारण स्वतंत्र अवश्य है, पर 'रस' व्यंग्यार्थ है—रस ध्वनित होता है—अतएव 'रस' ध्वनि का ही एक प्रधान भेद है। जब तक ध्वनि और ध्वनि के सर्वस्व व्यंग्यार्थ को न समझ लिया जायगा,

'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' में और पं० रमाशंकर शुक्लजी ने
'अलंकार-पीयूष' में, अनेक स्थलों पर इस ग्रंथ के प्रथम स
(अलंकार-प्रकाश) और द्वितीय संस्करण (काव्य-कल
के पद्य और गद्य-प्रकरण अविकल रूप में और
स्थलों पर कुछ परिवर्तित करके उद्धृत करने की कृपा की है।
ग्रंथों की आलोचनाएँ 'माधुरी' और 'साहित्य-समालोचक' में
में हुई हैं। वास्तव में तो इन महानुभावों ने इस ग्रंथ का आ
ही किया है। यहाँ इस विषय का इसलिये उल्लेख कि
जाना आवश्यक समझा गया कि 'भानुजी' आदि महाशय
ने इस ग्रंथ से उद्धृत अंश को अवतरण रूप में न लिखकर
अपनी निजी कृति की तरह उपयोग किया है। यह तीसरा
संस्करण उन महाशयों के ग्रंथों के बाद निकल रहा है। अत-
एव इस ग्रंथ में तदनुरूप गद्य और पद्य देखकर समालोचक
महोदय यही दोपारोपण इस क्षुद्र लेखक पर न करें।

तृतीय संस्करण के संबंध में दो शब्द

हर्ष का विषय है कि भगवान् श्रीराधागोविंददेव की कृपा
से इस ग्रंथ के तृतीय संस्करण का सुअवसर प्राप्त हुआ है।
निस्संदेह साहित्य-मर्मज्ञ विद्वानों की गुण-ग्राहकता और उनके
अनुग्रह का ही यह फल है।

प्रथम संस्करण (अलंकार-प्रकाश
हुआ था, उससे कहीं अधिक दूसरा
लोक-प्रिय सिद्ध हुआ है।

साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में ही स्थान उपलब्ध हो सका था। काव्य-कल्पद्रुम बी० ए०, एम्० ए० के भी पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचित हो गया है।

प्रस्तुत संस्करण बहुत परिवर्द्धित हो गया है। द्वितीय संस्करण से इसका दूने से अधिक कलेवर है। द्वितीय संस्करण में लक्षणा, व्यंजना एवं ध्वनि और नवरस का विषय संक्षिप्त रूप से था, और अलंकार-विषय पर भी अधिक विवेचन न था। इस संस्करण में प्रत्येक विषय का, विशेषतः नवरस का, बहुत विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। कुछ विद्वान् मित्रों का यह भी अनुरोध था कि नवरस पर कोई ऐसा ग्रंथ लिखा जाय, जिसके द्वारा रस-विषय के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो सके। इस अनुरोध को यथासाध्य पालन करने की इस संस्करण में चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत संस्करण दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम भाग में प्रधानतः रस-विषय है। इसमें रस, भाव आदि के विषय का सविस्तर निरूपण किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि का जो विवेचन इस भाग में किया गया है, वह रस-विषय के अध्ययन करने के लिये परमावश्यक है। रस-संप्रदाय (School) प्राचीन होने के कारण स्वतंत्र अवश्य है, पर 'रस' व्यंग्यार्थ है—रस ध्वनित होता है—अतएव 'रस' ध्वनि का ही एक प्रधान भेद है। जब तक ध्वनि और ध्वनि के सर्वस्व व्यंग्यार्थ को न समझ लिया जायगा,

रस का वास्तविक रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। ध्व
व्यंग्यार्थ को समझने के लिये शब्द, अर्थ और अभिध
शब्द-शक्तियों का अध्ययन आवश्यक है।

रस-संबंधी दोष और उनके परिहार का विषय भं
भाग में है। 'गुण' रस के धर्म हैं, अतएव उनका नि
भी इसी भाग में किया गया है।

हिंदी में रस-विषयक अनेक ग्रंथ हैं। उनमें कुछ
सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के प्रणीत किए हुए हैं। संभव
इस ग्रंथ में उन ग्रंथों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता है
क्या अपूर्वता है, यह कहना अनावश्यक है।

इस विषय के हिंदी के प्रचलित रस-संबंधी ग्रंथों में नायिक
भेद को प्रधान स्थान दिया गया है। उस विषय के पिष्ट
पेषण से इस ग्रंथ का कलेवर व्यर्थ न बढ़ाकर, रस-विषयक
अन्य अत्यंत महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी विषयों का, जो
प्राचीन एवं आधुनिक हिंदी के ग्रंथों में तो कहाँ किंतु
संस्कृत के सुप्रसिद्ध ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रस-
गंगाधर आदि ग्रंथों में भी कुत्रचित् दृष्टिगत होते हैं, समावेश
किया गया है।

प्रसिद्ध साहित्याचार्यों का जिन-जिन विषयों में मत-भेद
है, उन मत-भेदों का, विषय को सुगम्य करने के लिये, प्रसंग-
प्राप्त उल्लेख, दिग्दर्शन रूप में, कर दिया गया है।

द्वितीय भाग में अलंकार-विषय है ...

भी बहुत कुछ परिवर्तित और परिवर्द्धित कर दिया गया है। इस विषय को भी यथासाध्य स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत संस्करण में अधिकतया सुप्रसिद्ध प्राचीन कवियों के भाव-गर्भित एवं हृदयग्राही पद्य उदाहरणों में रक्खे गए हैं। बहुत-से ऐसे महत्त्व-पूर्ण ग्रंथों से भी उदाहरण लिए गए हैं, जो इस समय अप्राप्य हो रहे हैं। हिंदी के प्राचीन रीति-ग्रंथों से जो उदाहरण चुने गए हैं, वे जिस विषय का जो उदाहरण उन ग्रंथों में दिया गया है, उसे उसी विषय के उदाहरण में, मक्षिका स्थाने मक्षिका, न रखकर जिस पद्य को जहाँ विषय-विशेष के उदाहरण में दिया जाना उपयुक्त समझा गया, वहीं उसे दिया गया है।

पहले संस्करण की आलोचना करते हुए कुछ महानुभावों ने यह आक्षेप किया है कि इसमें संस्कृत-साहित्य के आचार्यों के मतों का ही उल्लेख है, हिंदी के आचार्यों के मत को प्रदर्शित नहीं किया गया है। सत्य तो यह है कि हिंदी के आचार्यों का कोई स्वतंत्र मत नहीं है—उनके ग्रंथों का मूल-स्रोत संस्कृत-साहित्य-ग्रंथ ही हैं। जैसे, महाकवि केशवदासजी की कविप्रिया का मूल-आधार दंडी का काव्यादर्श, राजशेखर की काव्य-मीमांसा और केशव मिश्र का अलंकारशेखर या इसी श्रेणी का अन्य कोई ग्रंथ है। श्रीहरिचरणदास के सभाप्रकाश, श्रीभिखारी-

अब अधिक कुछ निवेदन न करके सहृदय महानुभाव काव्य-मर्मज्ञों की सेवा में कविराज भट्ट नारायण की निम्न-लिखित सूक्ति प्रार्थना-रूप उद्धृत की जाती है—

> कुसुमांजलिरपर इव प्रकीर्यते काव्यबन्ध एषोऽत्र ;
> मधुलिह इव मधुबिन्दून्विरलानपि भजत गुणलेशान् ।'

विनीत

साहित्य का एक नगण्य सेवक

कन्हैयालाल पोद्दार

॥ श्रीहरिः ॥

काव्य-कल्पद्रुम

प्रथम स्तवक

मंगलाचरण

विघनहरन हौ असरन-सरन मुद-करन विमल-मति सुमन करौ ही जे ;
बरन करन पुनि बरन धरन सदा बरन बरन आदि पूरन करौ ही जे ॥
बंदन चरन जुग ध्यान हिय धारि करौं विनयकरन सुनि भूलन हरौ ही जे ।
बारन-बदन प्रभु! मदन-कदनजू के भूषन-सदन ग्रंथ भूषन करौ ही जे १॥

---

१ हे गजानन! आप विघ्नों को हरनेवाले, अशरण को शरण देनेवाले और आनंदप्रद हैं, अतः मेरी बुद्धि की मलिनता अवश्य दूर करेंगे। आप वर्णों को शोभित करनेवाले हो। महाभारत की रचना के समय उसके आप ही लेखक थे, जगत् के वर्णों होने के कारण ब्राह्मणादि वर्णों की व्यवस्था करनेवाले भी आप हैं, अथवा वरन, अनेक वर-प्रदान करनेवाले हैं, अतः इस ग्रंथ का पोषण भी अवश्य करेंगे। ध्यान-मग्न होकर मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। आप मेरी विनय सुनकर मेरी भूलों को हरेंगे—मेरी इच्छा पूर्ण अवश्य करेंगे। आप श्रीमहादेवजी के गृह-भूषण हैं, अब आप स्वयं भूषण हैं, तो लालायित मुझ किंकर के इस ग्रंथ को भूषित क्यों न करेंगे?

बंदौं व्यासरु आदि कवि सक्र-चाप-जिमि बंक[1] ;
विहित-घनाझंकार[2] पुनि बरन-बिचित्र[3] निसंक[4] ॥

श्लिष्ट सभंग[5] सुवर्ण-मृदु[6] गुनजुत सरस निदोस ;
कालिदास बानादि कवि जय-जय नवकृति कोस ॥

कहि हरि-जस न अघाय वाल्मीकि मुनि व्यास मनु ;
प्रकटे भुवि पुनि आय बंदौं तुलसी-सूर-पद ॥

विघन-हरन[7] सुधि नाम कामदतरुवर-सुमति-सिधि ;
सेवहिं बुध सब जास कविपति गनपति जयति नित ॥

काव्य

काव्य किसे कहते हैं ? इसके लिये प्रथम काव्य का लक्षण
और उसके सामान्य भेदों का निरूपण किया जाता है—

दोप-रहित और गुण एवं अलंकार-सहित
अथवा कहीं अलंकार न भी हो, ऐसे शब्द और
अर्थ दोनो को काव्य कहते हैं ।

---

१ इंद्र-धनुष के समान टेढ़े, काव्य-पक्ष में वक्रोक्ति-युक्त । २ इं
धनुष के पक्ष में मेघ-घटा से शोभित और काव्य-पक्ष में अलंका
से युक्त । ३ इंद्र-धनुष के पक्ष में अनेक रंगोंवाला, काव्य-पक्ष
विचित्र वर्णों की रचना-युक्त । ४ धनुष-पक्ष में शंका-रहित, का
पक्ष में भी शंका-रहित । ५ अभंग श्लेष-युक्त होके भी सभंग श्ले
युक्त । ६ सुवर्ण सुंदर होकर भी कोमल । ७ इसमें श्लेष
श्रीगणेशजी और जोधपुर-निवासी कविवर स्वामी गणेशपुरीजी, जिन
ग्रंथ-कर्ता ने सबसे प्रथम भाषा-भूषण पढ़ा था, की स्तुति है ।

अर्थात् काव्य-संज्ञा उन्हीं शब्द और अर्थ—दोनों की मिलकर है, जिनमें दोष न हो, और जो गुण एवं अलंकार-युक्त हों। किंतु किसी रचना में अलंकार न भी हो या स्पष्टतया अलंकार की स्थिति न हो, तो भी दोष-रहित और गुण-सहित शब्दार्थ काव्य कहा जाता है। काव्य का यह लक्षण आचार्य श्रीमम्मट-प्रणीत काव्यप्रकाश के अनुसार है। संस्कृत-रीति-ग्रंथों में काव्य के लक्षण विभिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न बतलाए गए हैं। इस विषय में बड़ा मतभेद है, जिसका विवेचन भूमिका-भाग में सविस्तर किया गया है। शब्द-अर्थ एवं गुण-दोष और अलंकारों की स्पष्टता यथास्थान आगे की जायगी।

काव्य के मुख्य तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है, अतएव काव्य की उत्तम, मध्यम और अधम संज्ञा व्यंग्यार्थ पर ही अवलंबित है, अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो, उसे उत्तम, जहाँ व्यंग्यार्थ गौण हो, उसे मध्यम और जहाँ व्यंग्यार्थ न हो, केवल वाच्यार्थ ही में चमत्कार हो, उसे अधम काव्य माना गया है। इन तीनों भेदों के नाम क्रमशः ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अलंकार (चित्र) है। यद्यपि काव्य के भेदों के विषय में भी साहित्याचार्यों का मतभेद है, किंतु काव्यप्रकाशादि अनेक ग्रंथों में उपर्युक्त यही तीन भेद स्वीकार किए गए हैं। इनके सामान्य लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

ध्वनि

वाच्यार्थ की अपेक्षा जहाँ व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे ध्वनि कहते हैं।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की स्पष्टता आगे—द्वितीय स्तवक में—की जायगी। ध्वनि का ही काव्य में सर्वोच्च स्थान है, इसी से इसे उत्तम काव्य की संज्ञा दी गई है।

ध्वनि-उदाहरण—

ये ही अपमान मेरे सत्रु को बखानौं पुनि
    ताको इन आगौं गरबंड मैं जिवावौं मैं।
सोऊ है तापस, पौन बंध बानुबानन को
    देखौं हौं जीवित, धिक रावन कहावौं मैं।
इंद्र के जितैया को हजार है धिकार और
    जागौं हौं वृथा जो कुंभकर्न को जगावौं मैं।
लूटयो स्वर्ग तुच्छ का घमंड सों अखंड भरो
    भागो क्यों न व्यर्थ भुजदंड को फुलावौं मैं।

यहाँ श्रीरघुनाथजी द्वारा असंख्य राक्षस वीरों का विध्वंस हो जाने पर अपने को धिक्कारते हुए रावण का अपने आप पर अधिक्षेप है। इसके पद-पद में ध्वनि है। रावण कहता है कि प्रथम तो मेरे शत्रु का होना ही अपमान है (यहाँ 'मेरे' पद में यह ध्वनि है कि मुझ अलौकिक बलशाली इंद्रादि के विजेता रावण के साथ शत्रुता का साहस किया जाना बड़े आश्चर्य और दुःख का कारण है)। इस पर भी वह शत्रु

तापस है (यहाँ 'वह' पद में हीन दशा की ध्वनि नि
और 'तापस' में यह ध्वनि है कि वह कोई देवता
बलवान् नहीं, किंतु घर से निकाला हुआ, वन में
युद्ध-कला-अनभिज्ञ, फिर स्त्री-वियोग से व्यथित
और मनुष्यों में भी तापस—पुरुषार्थ-हीन, जो ह
मदय, यह और भी मेरा अपमान है), कि
('यहाँ' में यह ध्वनि है कि मेरे समीप ही न
लंका में आ जाना ('लंका' में यह ध्वनि है कि
स्थान में नहीं, किंतु समुद्र के मध्य में मेरे द्वा
में) फिर ऐसे तुच्छ शत्रु द्वारा मेरा घिर जा
कुल का विनाश किया जाना और ऐसे अन
हुआ अपने नेत्रों के सामने ही देख
ध्वनि है कि ऐसा घोर अपमान होने पर
'जीवित' पद में काकाक्षिप्त ध्वनि यह है कि
हूँ ? नहीं, जीता हुआ भी मरे हुए के सम
ऐसे नगण्य शत्रु का परिहार करने में
हूँ) । धिक्कार है मेरे रावण कहाने को (
यह है कि मैं सारे संसार को रुलानेवाला
रावण सार्थक है, पर हाय ! वो यह
कर रहा है, इससे बढ़कर क्या अ
केवल मुझे ही नहीं, किंतु इंद्रविजेता
बार धिक्कार है (इसमें ध्वनि यह है

अपने को विश्व-विजयी समझकर मेघनाद का गर्व करना भी व्यर्थ है, जब कि वह भी इसे परास्त करने में असमर्थ है)। और, कुंभकर्ण का जगाया जाना भी व्यर्थ हो गया है (ध्वनि यह है कि जिस कुंभकर्ण को मैंने अभूतपूर्व पराक्रमी समझकर जगाया था, वह भी कुछ न कर सका), अतएव स्वर्ग-जैसे एक छोटे-से गाँव को लूटकर जिस गर्व से मैं अपनी भुजाओं को फुला रहा था। वह व्यर्थ ही फुला रहा था (ध्वनि यह कि जिन भुज-दंडों के अनुपम पराक्रम का अनुभव श्रीशंकर के कैलास को हो चुका है, उन भुजाओं द्वारा इस दो भुजावाले तुच्छ तपस्वी को मैं पराजित नहीं कर सका, तो इन अपनी भुजाओं के बल पर गर्व करना मेरा भ्रम-मात्र था)। इस पद्य में वाच्यार्थ तो वही है, जो स्पष्ट अर्थ ज्ञात होता है, और व्यंग्यार्थ वह है, जो ऊपर ब्रैकटों में दिखाया गया है। यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में ही अधिक चमत्कार है, अतः यह ध्वनि काव्य है।

ध्वनि के विशेष भेदों का निरूपण चतुर्थ स्तवक में किया जायगा।

गुणीभूत व्यंग्य

जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न हो अथवा समान या कम चमत्कार हो—व्यंग्यार्थ प्रधान न हो, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।

उदाहरण—

रुधिर रक्त अरविंद लगे दिखाने,
गुंजार मंजु अलि-पुंज लगे सुनाने।
ए देख तू उदय भानु लगा सुहाने,
बंधूक-पुष्प-छवि सूर्य लगा चुराने।

प्रभात होने पर भी शयन से न उठनेवाली कि
के प्रति उसकी सखी का यह वाक्य है। यहाँ सू
बंधूक-पुष्प की कांति का चुराया जाना कहा
वाच्यार्थ है, और इसमें प्रभात का हो जाना व्यं
व्यंग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ के समान ही स्पष्ट ज्ञा
इसमें कोई अधिक चमत्कार नहीं, अतएव यहाँ
नहीं, किंतु गौण है, नीची श्रेणी का है। इसके
स्तवक में निरूपण किए जायँगे।

अलंकार

जहाँ व्यंग्य के बिना वाच्यार्थ
हो, उसे चित्र अर्थात् अलंकार क

यद्यपि व्यंग्यार्थ प्रायः सर्वत्र रहता है,
इच्छा व्यंग्यार्थ की तरफ़ नहीं होती, अर्थ
ज्ञान विना ही केवल वाच्यार्थ में चमत्का
कार होता है। अलंकारों के सामान्यत
शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थ

शब्दालंकार-उदाहरण—

फूलन के ग्याने कै कमानैं लगी फूलन की,
फूलन ही के बाने सु सुहाने मनै हरै;
फूलन की माला मैं बिसाल युग कंचन को,
बीच बहुलाल बाल-रवि सो लसै परै ॥
सिंहिमैं बिराजैं रघुराजैं दुति भ्राजैं भाल,
तुलसी मुकुट मनि तुरसी करै धरै।
देखि छबि याके बिन बैन हाय आखैं
आखैं बैनहू न राखैं तासों भाखैं ना बनै परै ॥

इसमें फ, म, न आदि व्यंजनों की कई बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास और एक ही अर्थवाले 'आखैं' पद का दो बार प्रयोग होने से लाटानुप्रास, यह दोनों शब्दालंकार हैं। इसमें श्रीरघुनाथजी के विषय में प्रेम-सूचन होता है, यह व्यंग्य यहाँ अवश्य है, पर उस व्यंग्यार्थ के ज्ञान बिना केवल शब्द-सादृश्य में ही यहाँ चमत्कार है।

अर्थालंकार-उदाहरण—

"भाल गुहे गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुखदैनी,
ताहि बिलोकत आरसी लै कर आरस सों इक सारस-नैनी।
'केसव' कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति को अति पैनी,
सूरज-मंडल मैं ससि-मंडल मध्य धसी जनु जाहि त्रिबेनी।[१]।"

दर्पण में मुख देखती हुई किसी गोपांगना के मुख के वर्ण

---

१ जिन छंदों के आदि और अंत में " " ऐसे चिह्न—इन्वर्टेड कॉमा—हैं, उन्हें अन्य कवि-कृत समझना चाहिए।

हृदय में, जिसके केश-कलाप में रक्त सूत्र की डोरियाँ और मोतियों की लड़ी गुँथी हुई थी, सूर्य-मंडल में चंद्र-मंडल और उस चंद्र-मंडल में शोभित त्रिवेणी की उत्प्रेक्षा की गई है। यहाँ भी उत्प्रेक्षा अलंकार जो वाच्यार्थ है, उसी में चमत्कार है।

शब्दार्थ उभयालंकार का उदाहरण—

"कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।
कहै 'पद्माकर' पराग हू में पौन हू में,
पानन में पीकन पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखी दीप दीपन में दीपत दिगंत है;
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है।"

यहाँ क, प, द आदि व्यंजनों की कई बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है, और एक ही वसंत के कुसुम आदि अनेक आधार वर्णन किए गए हैं, अतः 'पर्याय' अर्थालंकार भी है। इन दोनों में ही चमत्कार है। यहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार एकत्र होने से उभयालंकार है।

अलंकारों के विशेष भेद आगे अष्टम, नवम और दशम स्तबकों में वर्णन किए जाएँगे।

द्वितीय स्तवक

शब्द और अर्थ

काव्य शब्द और अर्थ के ही आश्रित है, अतएव सबसे प्रथम शब्द और अर्थ की स्पष्टता की जाती है।

काव्य में शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक या लाक्षणिक और (३) व्यंजक। इन तीनों प्रकार के शब्दों के अर्थ भी तीन प्रकार के क्रमशः (१) वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ और (३) व्यंग्यार्थ होते हैं। ये अर्थ जिन शक्तियों द्वारा व्यक्त होते हैं, वे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कही जाती हैं। अर्थात् 'अभिधा' आदि शक्तियाँ शब्द के व्यापार हैं। 'कारण' जिसके द्वारा कार्य करता है, उसे व्यापार कहते हैं। जैसे घट बनाने में मिट्टी, कुम्हार, कुम्हार का दंड और चाक आदि कारण हैं। और भ्रमि (चाक के बार-बार फिरने की क्रिया) व्यापार है। क्योंकि इसी क्रिया द्वारा घट बनता है। इसी प्रकार अर्थ का बोध कराने में 'शब्द' कारण है, और अर्थ का बोध करानेवाली अभिधा, लक्षणा और व्यंजना व्यापार है। इन शक्तियों को वृत्ति भी कहते हैं, इनकी स्पष्टता इस प्रकार है—

'वाचक'-शब्द

साक्षात् संकेत किए हुए अर्थ को बतलाने-वाले शब्द को वाचक कहते हैं।

संकेत—किसी वस्तु को प्रत्यक्ष दिखाकर कहा जाय कि 'इसका यह नाम है' अथवा 'इस नाम का यह वस्तु अर्थ है', इस प्रकार के निर्देश को—बतलाने को—संकेत कहते हैं। जैसे शंख की ग्रीवा (गरदन) के आकारवाली वस्तु को दिखलाकर बतलाया जाय कि इसका नाम 'घड़ा' है, अथवा 'घड़ा'-शब्द का अर्थ शंख की गरदन-जैसे आकारवाली यह वस्तु है, इस तरह के निर्देश से 'घड़ा'-शब्द और शंख की गरदन-जैसे आकारवाली वस्तु (घड़ा) का जो परस्पर संबंध बतलाया जाता है, वही संकेत है, और जो शब्द साक्षात् संकेत की हुई वस्तु को बतलाता है, वह वाचक-शब्द है।

यहाँ 'साक्षात्' इसलिये कहा गया है कि संकेत दो प्रकार से किया जाता है। साक्षात् और परंपरा-संबंध से। जैसे 'वट'-वृक्ष को प्रत्यक्ष दिखलाकर कहा जाय कि 'यह वट है', यह तो साक्षात् संकेत है, और किसी गाँव में होने से वट का एक वृक्ष प्रसिद्ध है, उस प्रसिद्ध वट के संबंध से उस गाँव को भी लोग 'वट' नाम से कहने लगें, उस अवस्था में उस गाँव का नाम 'वट' हो जाता है, अतः उस गाँव का भी 'वट'-शब्द संकेत तो हो

सकता है, पर वह साक्षात् संकेत नहीं, किंतु वट-वृक्ष के संबंध से वह परंपरा-संबंध से संकेत माना जायगा, अतः 'वट'-शब्द उस गाँव का वाचक नहीं माना जायगा, क्योंकि जो परंपरा-संबंध से संकेतित होता है, वह 'वाचक'-शब्द नहीं, किंतु लाक्षणिक शब्द होता है, जिसकी स्पष्टता आगे की जायगी।

संकेत का ग्रहण—व्यवहार से, प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य (समीप होने) से, आप्त-वाक्य से, उपमान से, व्याकरण से और कोष आदि अनेक कारणों से होता है। जैसे—

व्यवहार से संकेत ग्रहण—किसी वृद्ध मनुष्य के द्वारा अपने भृत्य से यह कहने पर कि 'गैया ले आओ' यह सुनकर उस भृत्य द्वारा गैया ले आने पर पास में बैठा हुआ बालक, जो अब तक इन शब्दों का अर्थ नहीं जानता था, समझ लेता है कि दो सींग, फटी हुई खुरी के आकारवाले जीव को गैया कहते हैं। इसी प्रकार लोगों के व्यवहार से संकेत ग्रहण होता है।

प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से—यद्यपि 'मधुकर'-शब्द का शहद की मक्खी और भौंरा दोनों अर्थ हैं, पर 'कमल पर बैठा हुआ मधुकर मधु-पान करता है', इस वाक्य में 'मधुकर'-शब्द का अर्थ 'कमल'-शब्द के समीप होने से भौंरा ही ग्रहण हो सकता है, न कि शहद की मक्खी, क्योंकि कमल-शब्द प्रसिद्ध है, और कमल का रस-पान भौंरे ही किया करते हैं,

अतः ऐसे प्रयोगों में प्रसिद्ध शब्द के साहचर्य से संकेत ग्रहण होता है।

आप्त-वाक्य से—आप्त कहते हैं प्रामाणिक पुरुष को। कहीं आप्त के वाक्य से संकेत ग्रहण होता है। जैसे किसी बालक को उसका पिता बतला देता है कि 'इसे घोड़ा कहते हैं', तो वह बालक घोड़े-शब्द का संकेत उस पशु में समझ लेता है।

उपमान द्वारा—जिसने यह सुन रक्खा हो कि गैया के-जैसा गवय (बनगाय) होता है, वह जब कभी जंगल में गैया के-जैसा जीव देखेगा, तो झट समझ जायगा कि यह 'बनगाय' है। 'उपमान' कहते हैं सादृश्य को। यहाँ सादृश्य ज्ञान से संकेत ग्रहण होता है।

व्याकरण द्वारा—जैसे 'दशरथस्यापत्यं दाशरथिः'—दशरथ का पुत्र दाशरथी कहा जाता है, यहाँ व्याकरण से संकेत ग्रहण है।

इस प्रकार अनेक कारणों से संकेत का ग्रहण किया जाता है। यह संकेत उपाधि में रहता है। वस्तु के धर्म को उपाधि कहते हैं। वस्तु के धर्म चार प्रकार के होते हैं, अर्थात् वाचक-शब्द के चार भेद हैं—जाति-वाचक, गुण-वाचक, क्रिया-वाचक और यहच्छा-वाचक। इन्हीं में शब्द के संकेत का ज्ञान होता है—

(१) जाति—यह वस्तु का प्राण-भूत धर्म है, किसी भी

पदार्थ का नाम उस पदार्थ की जाति पर ही स्थिर किया जाता है। जैसे गैया को गैया इसलिये कहा जाता है कि गोत्व (गैयापन) अर्थात् दो सींग, फटी हुई खुरी, दूध देना इत्यादि गो-जाति के जो धर्म हैं, वे उसमें हैं, अतः गैया, ६ , मनुष्य आदि शब्द जाति-वाचक हैं, क्योंकि ऐसे शब्द जाति को बतलाते हैं।

(२) गुण—यह वस्तु की विशेषता बतलानेवाला धर्म है। जैसे 'सफ़ेद गाय' यहाँ सफ़ेद गुण है। यह गोत्व प्राप्त करने के लिये नहीं, क्योंकि गो-जाति का अस्तित्व तो पहले 'गो' कहने-मात्र से सिद्ध हो चुका। गुण तो अस्तित्व प्राप्त वस्तु में विशेषता (दूसरे से जुदापन) बतलाता है, जैसे काली, पीली गायों में से सफ़ेद गाय को जुदा बतलाने की इच्छा हो, तब 'सफ़ेद' यह गुण-वाचक विशेषण दिया जाता है। जिसके द्वारा अन्य रंगों की गायों को छोड़कर सफ़ेद गाय का बोध होता है, अतः दूसरे से भेद बतलानेवाले शब्द गुण-वाचक कहे जाते हैं।

(३) क्रिया—जो शब्द क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होते हैं, वे क्रिया-वाचक होते हैं। जैसे 'पाचक' (पाक बनाने-वाला), यहाँ पाक क्रिया के निमित्त से पाचक-शब्द का प्रयोग किया जाता है, अतः पाचक, पाठक आदि क्रिया-वाचक शब्द हैं।

(४) यदृच्छा—यह उपाधि वक्ता की इच्छा से व्यक्ति

पर संकेतित होती है। जैसे किसी का नाम देवदत्त, किसी का धर्मदत्त इत्यादि नाम रखनेवाले की इच्छा पर निर्भर है, जिसका जो नाम वक्ता की इच्छा से रक्खा जाय, वही उसका संकेत है।

वाच्यार्थ

वाचक-शब्द के अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। जाति-वाचक शब्दों में जाति, गुण-वाचक शब्दों में गुण, क्रिया-वाचक शब्दों में क्रिया और यदृच्छा-वाचक शब्दों में यदृच्छा रूप वाच्यार्थ होता है, यह महाभाष्यकार का मत है। यद्यपि नैयायिक विद्वान् उक्त चारों प्रकार के शब्दों का एक 'जाति' ही वाच्यार्थ मानते हैं। इसी वाच्यार्थ को मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं। यह मुख्यार्थ तो इसलिये कहा जाता है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रथम यही—वाच्यार्थ—उपस्थित होता है, और अभिधेयार्थ इसलिये कहा जाता है कि यह अभिधा-शक्ति का व्यापार है—अभिधा से बोध होता है। अतः अब अभिधा किसे कहते हैं, उसकी स्पष्टता की जाती है—

अभिधा-शक्ति

साक्षात् संकेतित अर्थ[1] का बोध करानेवाली मुख्य क्रिया (व्यापार) को अभिधा कहते हैं।

---

१. देखो पेज १२।

'अभिधा' में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़।

(१) रूढ़ शब्द—जिन शब्दों की व्युत्पत्ति न हो, अर्थात् अवयवार्थ न हो, उन्हें 'रूढ़' कहते हैं—'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दाः रूढा आखंडलादयः'। जैसे 'आखंडल' इस पूरे शब्द का अर्थ इंद्र है—इस शब्द के अवयवों (जुदे-जुदे खंडों) का अर्थ नहीं हो सकता। 'रूढ़'-शब्द में प्रकृति-प्रत्ययार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। समूचे शब्द के प्रयोग की किसी खास अर्थ में प्रसिद्धि होती है। कहा है—'प्रकृति-प्रत्ययार्थमनपेक्ष्य शब्दबोधजनकः शब्दः रूढः'— शब्द-कल्पद्रुम। 'डित्थ', 'गड' आदि शब्द भी रूढ़ हैं।

(२) यौगिक शब्द—जिन शब्दों का अर्थ उनके अवयवों से बोध होता है, उन्हें 'यौगिक' कहते हैं। जैसे 'सुधांशु' शब्द में 'सुधा' और 'अंशु' दो अवयव (खंड) हैं। सुधा का अर्थ है अमृत और अंशु का अर्थ है किरण। इन दोनों अवयवों का अर्थ है 'अमृत की किरणोंवाला', अतः अमृत की किरण-वाले चंद्रमा का सुधांशु नाम यौगिक है। 'नृप'[१], 'दिवाकर'[२] आदि शब्द भी यौगिक हैं।

योगरूढ़—जो शब्द यौगिक होता हुआ भी रूढ़ हो, अर्थात्

---

१ 'नृप'-शब्द में 'नृ' और 'प' दो अवयव हैं। 'नृ' का अर्थ है नर और 'प' का अर्थ पति है, अतः 'नृप' यह राजा का यौगिक नाम है। २ दिवाकर में 'दिवा' और 'कर' दो अवयव हैं, दिन को करनेवाला होने से सूर्य का दिवाकर नाम यौगिक है।

जिसे किसी खास वस्तु के लिये ही प्रयुक्त किए जाने की रूढ़ि-प्रसिद्धि हो, उसे योगरूढ़ कहते हैं। जैसे 'वारिज'। 'वारि' नाम जल का है, कमल जल में उत्पन्न होता है, इसलिये कमल का 'वारिज' नाम यौगिक तो है, पर जल से केवल कमल ही नहीं, शंख, सीपी आदि भी उत्पन्न होते हैं—वे यद्यपि वारिज ही हैं, किंतु उनको 'वारिज' नहीं कहा जाता, क्योंकि वारिज केवल कमल को ही कहने की रूढ़ि-प्रसिद्धि है, अतः ऐसे शब्द यौगिक होते हुए भी रूढ़ होने के कारण 'योगरूढ़' कहे जाते हैं। पयोद[1] त्रिफला[2] आदि शब्द भी योगरूढ़ हैं।

पद्यात्मक उदाहरण—

> नूपुर सिंजित चारु चरन चरन अंबुज सरिस;
> भुज मृनाल अनुहार वदन सुधाकर-सम रुचिर।

यहाँ 'नूपुर'-शब्द रूढ़ है। 'अंबुज' शब्द योगरूढ़ है, और 'सुधाकर' शब्द यौगिक है। ये सभी वाचक शब्द हैं, और इनका सरल अर्थ ही वाच्यार्थ है।

'लक्षणा'-शक्ति

लाक्षणिक शब्द और लक्ष्यार्थ

जो शब्द लक्षणा-शक्ति से अर्थ को लक्ष्य कराता है, उसे

---

१ पयोद का यौगिक अर्थ है पय (जल) देनेवाला, अतः जल देनेवाले कूप, तड़ाग सभी पयोद हैं, किंतु पयोद केवल मेघ को ही कहने की प्रसिद्धि है। २ त्रिफला का यौगिक अर्थ है तीन फल, पर चाहे जिन तीन फलों को त्रिफला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि त्रिफला केवल हरड़, बहेड़ा और आँवला, इन्हीं तीन फलों को कहने की रूढ़ि है।

लाक्षणिक शब्द कहते हैं, और लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्षित होनेवाले लाक्षणिक शब्द के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।

लक्षणा

मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से संबंध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे 'लक्षणा' कहते हैं।

जिस प्रकार पूर्वोक्त अभिधा-शक्ति शब्द के ज्ञान के साथ तत्काल उपस्थित होकर अपने वाच्यार्थ का बोध करा देती है, उस प्रकार लक्षणा तत्काल उपस्थित होकर लक्ष्यार्थ का बोध नहीं करा सकती, किंतु लक्षणा तभी होती है, जब (१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ योग (संबंध) और (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन, ये तीन कारण होते हैं।[1]

(१) मुख्यार्थ का बाध उसे कहते हैं, जहाँ मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) के ग्रहण करने में बाध हो, अर्थात् प्रत्यक्ष विरोध हो, अथवा जहाँ वक्ता (कहनेवाले) का अभिप्राय मुख्यार्थ से न निकलता हो।

---

१ कहा है—'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे ।
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।'
—वार्तिककार कुमारिल भट्ट

(२) मुख्यार्थ का योग, अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होने पर जो दूसरा अर्थ[1] ग्रहण किया जाय, वह ऐसा हो, जिसका मुख्यार्थ के साथ संबंध हो।

(३) 'रूढ़ि' कहते हैं प्रसिद्धि को, अर्थात् किसी वस्तु को खास तरह से कहने की प्रसिद्धि हो।

(४) 'प्रयोजन' अर्थात् किसी कारण विशेष से या खास बात की सूचना करने के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाय।

इन चारों में पहले दो—मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ—के साथ योग (संबंध) तो लक्षणा में सर्वत्र होना अनिवार्य है, किंतु पिछले दो में एक ही होता है, रूढ़ि अथवा प्रयोजन अर्थात् लक्षणा उपर्युक्त चारों में तीन कारणों के समूह होने पर होती है। जैसे—

(१) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से संबंध और रूढ़ि, यह एक कारण-समूह है।

(२) मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध और प्रयोजन, यह दूसरा कारण-समूह है।

इन दोनों में मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध तो दोनों में ही है, किंतु तीसरा कारण एक समूह में रूढ़ि है, और दूसरे में प्रयोजन है, अतः इस तीसरे कारण द्वारा लक्षणा दो भेदों में विभक्त है, रूढ़ि और प्रयोजनवती।

---

[1] संबंध अनेक प्रकार के होते हैं, जिनका खुलासा आगे किया जायगा।

रूढ़ि लक्षणा

जहाँ केवल रूढ़ि के कारण, अर्थात् लोगों के प्रयोग-बाहुल्य या यों कहिए, लोक-प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ को छोड़कर दूसरा अर्थ (लक्ष्यार्थ) ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ि लक्षणा होती है।

रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण है—'महाराष्ट्र साहसी है'।

यहाँ 'महाराष्ट्र' शब्द लाक्षणिक है, इसका मुख्यार्थ है 'महाराष्ट्र देश' इसमें लक्षणा का पहला कारण समुद है।

(१) 'महाराष्ट्र' का मुख्यार्थ है महाराष्ट्र देश। किंतु यहाँ इस मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि देश जड़ वस्तु है, देश में साहस का होना संभव नहीं, अतः देश को साहसी नहीं कहा जा सकता। यही मुख्यार्थ का बाध यहाँ लक्षणा का एक कारण है।

(२) मुख्यार्थ का बाध होने के कारण यहाँ 'महाराष्ट्र'-शब्द से उस देश से संबंध रखनेवाले—महाराष्ट्र के निवासी पुरुष—यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, अर्थात् महाराष्ट्र देश के निवासी साहसी हैं, ऐसा लक्ष्यार्थ समझा जाता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ जो 'महाराष्ट्र देश' है, उसके साथ आधारा-धेय संबंध है, अर्थात् महाराष्ट्र देश में वहाँ के निवासी रहते हैं, यह संबंध है। यही मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ संबंध रूप यहाँ लक्षणा का दूसरा कारण है।

(३) तीसरा कारण यहाँ रूढ़ि है। क्योंकि यहाँ किसी खास प्रयोजन के लिये ऐसा प्रयोग नहीं किया गया है, किंतु महाराष्ट्र-निवासियों को महाराष्ट्र कहने का रिवाज पड़ा हुआ है, अतः इसमें रूढ़ि ही कारण होने से यहाँ रूढ़ि लक्षणा है।

रूढ़ि का दूसरा उदाहरण—'यह तैल शीतकाल में उपयोगी है'। तैल का मुख्यार्थ है तिलों से निकाला हुआ तिलों का तैल, पर सरसों, नारियल आदि से बने हुए को भी तैल कहा जाता है। सरसों आदि के बने हुए स्निग्ध द्रव्य को तैल कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि वे तिलों से नहीं बने, फिर तैल कैसे कहे जा सकते हैं। पर उनको भी तैल कहे जाने की रूढ़ि—रिवाज—पड़ी हुई है, अतः यहाँ भी रूढ़ि लक्षणा है।

रूढ़ि लक्षणा का पद्यात्मक उदाहरण—

> "छिगत पानि छिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ,
> कंप किसोरी दरस ते खरे लजाने लाल"।
>
> —बिहारी

'ब्रज' का मुख्य अर्थ गाँव, या गोपालकों का निवास-स्थान है, अतः वह जड़ है। जड़ का बेहाल होना संभव नहीं, अतः ब्रज को बेहाल कहने में मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ ब्रज-शब्द का अर्थ ब्रज के निवासियों का लक्षणा द्वारा समझा जाता है। यहाँ भी रूढ़ि ही कारण है।

प्रयोजनवती लक्षणा

जहाँ किसी ख़ास प्रयोजन के लिये लाक्षणिक

शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहां प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

'गंगा पर ग्राम है' (गंगायां घोषः[1])—यहाँ 'गंगा' शब्द लाक्षणिक है। गंगा का मुख्यार्थ है गंगा का प्रवाह (धारा)। यहाँ इस लाक्षणिक शब्द के प्रयोग किए जाने में खास प्रयोजन है, अतः यहाँ पूर्वोक्त दूसरा कारण समूह है।

(१) गंगा-शब्द के मुख्यार्थ प्रवाह का यहाँ बाध है, क्योंकि गंगाजी की धारा पर गाँव का होना संभव नहीं, अतः ऐसा कथन नहीं बन सकता, यही बाध है।

(२) गंगा-शब्द के मुख्यार्थ का बाध होने से इसका लक्ष्यार्थ 'तट' ग्रहण किया जाता है। क्योंकि लक्ष्यार्थ 'तट' का मुख्यार्थ 'प्रवाह' के साथ सामीप्य (समीप में होना) संबंध है, अतः यहाँ मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का संबंध है। यह लक्षणा का दूसरा कारण है।

ये दोनो कारण—मुख्यार्थ का बाध और मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का संबंध—जो पूर्वोक्त रूढ़ि लक्षणा के समान ही इस 'प्रयोजनवती' लक्षणा में हुआ करते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

---

[1] गोपालक—ग्वालों के गाँव को या उनके रहने के स्थान को घोष कहते हैं।

इस तालिका में गौणी के दो और शुद्धा के चार भेद, अर्थात् सब छ भेद जो बतलाए गए हैं, वे गूढ़-व्यंग्य में भी होते हैं, और अगूढ़-व्यंग्य में भी। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के काव्य प्रकाश में यही १२ भेद निरूपित हैं; और रूढ़ि का एक। इस प्रकार कुल १३ भेद वहाँ बतलाए गए हैं, किंतु साहित्य-दर्पण में शुद्धा लक्षणा के समान गौणी के भी उपादान और लक्षण-लक्षणा, ये दो भेद अधिक बतलाकर फिर दोनो को सारोपा और साध्यवसाना में विभक्त करके गौणी के भी चार भेद माने गए हैं। गौणी के ये चार और शुद्धा के चार भेद मिलकर आठ, और ये आठो ही गूढ़-व्यंग्य और अगूढ़-व्यंग्य भेद से १६, फिर ये सोलह भी पदगत और वाक्यगत भेद से ३२, ये ३२ भी कहीं धर्मगत और कहीं धर्मिगत भेद से प्रयोजनवती लक्षणा के ६४ भेद स्वीकार किए गए हैं, और रूढ़ि लक्षणा के भी साहित्य-दर्पण में निम्न-लिखित १६ भेद बतलाए गए हैं—
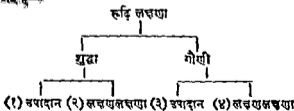
ये चारो भेद सारोपा और साध्यवसाना दोनो प्रकार के होने पर आठ और फिर वे आठो भी कहीं पदगत और कहीं

वाक्यगत होने पर १६ होते हैं। इस प्रकार रूढ़ि के १६ और प्रयोजनवती के उपर्युक्त ६४, सब मिलाकर लक्षणा के ८० भेद वहाँ स्वीकार किए गए हैं, किन्तु वे महत्त्व-पूर्ण न होने से विस्तारभय से उनमें से पदगत और वाक्यगत एवं धर्मगत और धर्मिगत भेदों के सिवा अन्य भेदों के उदाहरण यहाँ न दिखाकर काव्य-प्रकाश के अनुसार १२ भेदों को सोदाहरण स्पष्टता की जाती है—

गौणी लक्षणा

जहाँ सादृश्य संबंध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, उसे गौणी लक्षणा कहते हैं।

ऊपर कहा गया है कि लक्षणा तीन कारण-समूह से होती है, उनमें एक कारण मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का संबंध होना भी कहा गया है। जहाँ सादृश्य संबंध से, अर्थात् आह्लादकता, जड़ता आदि गुणों की समानता के कारण लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है[१], वहाँ गौणी लक्षणा होती है। इस लक्षणा का मूल उपचार है। उपचार कहते हैं *अत्यंत पृथक्-पृथक् रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले दो पदार्थों में सादृश्य के अतिशय से—अत्यंत समानता होने के प्रभाव से—भेद की प्रतीति न होना*[२]।

---

१ 'गुणतः सादृश्यमस्याः प्रवृत्तिनिमित्तम्'—एकावली की तरल टीका, पृ० ३८। २ 'अत्यंतविशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः' साहित्य-दर्पण परि० २

गौणी लक्षणा का उदाहरण—

'मुखचंद्र'।

इसका मुख्यार्थ है 'मुख चंद्रमा है', किंतु इस मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि मुख और चंद्रमा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, अतः मुख को चंद्रमा नहीं कहा जा सकता, किंतु चंद्रमा में आह्लादक—आनंददायक—जो गुण है, वह मुख में भी है—मुख भी आनंददायक है, अर्थात् आह्लादक गुण चंद्रमा और मुख दोनों में समान है, इस समान गुण के संबंध से 'चंद्रमा के समान मुख है' इस लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है। यह लक्ष्यार्थ यहाँ सादृश्य के संबंध से किया जाता है, अतः गौणी लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा

सादृश्य संबंध के बिना जहाँ अन्य किसी संबंध से लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।

मुख्यार्थ के साथ जहाँ लक्ष्यार्थ का सादृश्य संबंध होता है, वहाँ गौणी, और सादृश्य के बिना अन्य किसी तरह का संबंध जहाँ होता है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। शुद्धा लक्षणा के अनेक [illegible]
जैसे [illegible] किया जाता है।

का ग्रहण नहीं, किंतु मुख्यार्थ प्रवाह के साथ लक्ष्यार्थ तट का सामीप्य संबंध है, जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है।

तादात्म्य[१] *संबंध से लक्षणा*—जैसे यज्ञ में काष्ठ के स्तंभ को इंद्र कहा जाता है। इंद्र का मुख्यार्थ इंद्र देवता है, स्तंभ को इंद्र कहने में मुख्यार्थ का बाध है, वहाँ इंद्र। शब्द का लक्ष्यार्थ 'स्तंभ' अर्थ तादात्म्य संबंध से ग्रहण किया जाता है, क्योंकि यज्ञ-क्रिया में इंद्र का स्थानापन्न स्तंभ मान लिया जाता है। यज्ञ में इंद्र की पूजा का विधान है। उसके स्थानापन्न स्तंभ की पूज्य सूचन करने के लिये उसे इंद्र कहा जाता है, यही प्रयोजन है।

अंगांगीभाव-संबंध से लक्षणा—

> "अपने कर गुहि आपु हठि हिय पहिराई लाल ;
> मौलसिरी औरै चढ़ी मौलसिरी की माल"।

यहाँ मौलसिरी की माला को 'अपने कर गुही' कहा गया है, इसका मुख्यार्थ है 'हाथ से गूँथी हुई'। किंतु माला हाथ के अग्रभाग—उँगलियों—से गूँथी जाती है, न कि हाथ से। अतः उँगली को हाथ कहने में मुख्यार्थ का बाध है, पर हाथ अंगी है, और उँगली उसके अंग हैं, इसलिये यहाँ अंगांगी भाव के संबंध से 'हाथ' शब्द का 'उँगली' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है।

तात्कर्म्य[२] *संबंध से लक्षणा*—जैसे जाति का बढ़ई न होने

---

१ किसी कार्य के लिये जो नियत हो, उसके स्थानापन्न दूसरे को करना 'तादात्म्य' है। २ तात्कर्म्य का अर्थ है, किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किए जानेवाले काम को करनेवाला।

पर भी बढ़ई का काम करनेवाले को बढ़ई कहने में मुख्यार्थ 'बढ़ई-जाति' का बाध है। पर वह बढ़ई का काम करता है, इस तात्कर्म्य-संबंध से यहाँ 'बढ़ई' अर्थ ग्रहण किया जाता है। इनके सिवा कुछ अन्य संबंधों के उदाहरण भी आगे दिए जायँगे।

अब ऊपर की तालिका के अनुसार गौणी और शुद्धा लक्षणा के अन्य भेदों की स्पष्टता की जाती है। पृष्ठ २४ की तालिका में शुद्धा लक्षणा के उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा, दो भेद दिखाए गए हैं।

उपादान लक्षणा

अपने अर्थ की सिद्धि के लिये दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं।

उपादान का अर्थ है लेना, अर्थात् इसमें मुख्यार्थ अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अपना अर्थ (मुख्यार्थ) न छोड़ता हुआ दूसरे अर्थ को खींचकर ले आता है, अतः इस लक्षणा को 'अजहत् स्वार्था' भी कहते हैं—अजहत्=नहीं छोड़ा, स्वार्था=(स्व अर्थ) अपना अर्थ जिसने। निष्कर्ष यह कि इसमें मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, लक्ष्यार्थ के साथ वह भी लगा रहता है।

उपादान लक्षणा का उदाहरण—

'ये कुंत (भाले) आ रहे हैं' (एते कुंताः प्रविशन्ति) इसका मुख्यार्थ है 'ये भाले आ रहे हैं', किंतु भाले जड़ वस्तु

ये आने-जाने का कार्य नहीं कर सकते, अतः मुख्यार्थ का बाध है। इसलिये 'भाले आ रहे हैं' यह मुख्यार्थ अपने इस अर्थ की सिद्धि करने के लिये—'भाले: धारण किए हुए पुरुष आ रहे हैं' इस लक्ष्यार्थ का आक्षेप करता है—खींचकर ले आता है। इस लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ 'भालों' के साथ संयोग-संबंध[1] अथवा धार्य-धारक-संबंध[2] है। यहाँ 'भाले'-शब्द ने अपना मुख्यार्थ नहीं छोड़ा है, और 'भाले धारण किए हुए पुरुष' यह लक्ष्यार्थ खींचकर ले लिया है, क्योंकि इस लक्ष्यार्थ के बिना उसकी (मुख्यार्थ की) सिद्धि नहीं हो सकती थी, अर्थात् इस वाक्य के कहनेवाले का मतलब नहीं निकल सकता था। यहाँ भालेवाले पुरुषों में भालों जैसी तीक्ष्णता सूचन करने के लिये इस लाक्षणिक वाक्य का प्रयोग है, अतः प्रयोजनवती उपादान लक्षणा है। आगे ध्वनि-प्रकरण में लिखी जानेवाली अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि में यही लक्षणा हुआ करती है। अच्छा, इसका एक और उदाहरण भी देखिए—

'कौओं से दही की रक्षा करो' (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्)—इस वाक्य का मुख्यार्थ है 'कौओं से दही की रक्षा करने को कहा जाना।' यद्यपि इस अर्थ में कुछ असंभवता प्रतीत न होने से साधारणतः मुख्यार्थ का बाध प्रतीत नहीं होता। किंतु यहाँ मुख्यार्थ का बाध इसलिये है कि इस वाक्य के वक्ता

---

१ भालेवालों के साथ भाले हैं, यह संयोग-संबंध है । २ भाले धार्य हैं और भालेवाले धारक हैं, यह धार्य-धारक-संबंध है ।

का तात्पर्य केवल कौओं से ही दही की रक्षा करने को कहने मात्र का नहीं है—कौआ-शब्द तो उपलक्षण[1] मात्र है, वास्तव में कौओं के सिवा जितने भी और बिल्ली आदि दही के भक्षक हैं, उन सभी से रक्षा करने के लिये कहने का है। यह बात मुख्यार्थ द्वारा नहीं जानी जाती, इसलिये यहाँ वक्ता का तात्पर्य जो मुख्यार्थ है, उसका बाध है, इसीलिये पहले मुख्यार्थ के बाध की स्पष्टता में मुख्यार्थ के अन्वय का बाध और वक्ता के तात्पर्य का बाध दोनों ही को मुख्यार्थ का बाध बतलाया गया है। यहाँ 'कौआ'-शब्द अपना मुख्यार्थ न छोड़ता हुआ अन्य दधि-भक्षकों का आक्षेप कराता है, अतः ऐसे प्रयोगों में भी उपादान-लक्षणा ही होती है। एक उदाहरण और भी देखिए—

जैसे बहुत-से मनुष्य आ रहे हैं, उनमें एक आगेवाले मनुष्य के पास छत्री (छाता) है, और सब बिना छाते के हैं, उनको देखकर कहा जाता है 'वे छत्रीवाले आ रहे हैं' इस वाक्य में 'आ रहे हैं' यह बहुवचन की क्रिया है, अतः इसका मुख्यार्थ है सब छत्रीवाले आ रहे हैं, पर उनमें छत्रीवाला तो एक ही है, जो उस मनुष्य-समूह के सबसे आगे है, अतः मुख्यार्थ का बाध है, किंतु 'आ रहे हैं' इस क्रिया में उस एक प्रधानभूत आगे के छत्रीवाले

[1] एक पद के कहने से उसी अर्थवाले अन्य पदार्थों का कथन जिसके द्वारा किया जाय, उसे 'उपलक्षण' कहते हैं—'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थकथनम् उपलक्षणम्'।

के साथ होने के संबंध से अन्य छत्री-रहित आते हुए सभी का आना लक्षणा द्वारा समझा जाता है। यहाँ साहचर्य[१] संबंध है।

लक्षण-लक्षणा

जहाँ वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है।

पूर्वोक्त उपादान लक्षणा अजहत् स्वार्था है, क्योंकि वहाँ मुख्यार्थ अपना अर्थ नहीं छोड़ता, और यह लक्षण-लक्षणा जहत् स्वार्था है, क्योंकि इसमें मुख्यार्थ स्वार्था=अपना अर्थ, जहत्=छोड़ देता है। आगे ध्वनि-प्रकरण में लिखी जानेवाली 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि' में यही लक्षणा होती है। इसका उदाहरण पूर्वोक्त यही है 'गंगा पर गाँव'। इसमें मुख्यार्थ जो प्रवाह है, वह सर्वथा छोड़ दिया जाता है। इस उदाहरण की अधिक स्पष्टता पहले (पृष्ठ २२ में) की गई है।

पद्यात्मक उदाहरण—

> "कच समेटि करि भुज उलटि खए सीस पट डारि;
> काको मन बाँधै न यह जूरा बाँधनि हारि।"
>
> (बिहारी)

यह जूरा (केश-पाश) बाँधते समय की किसी युवती की

---

१ साथ में रहना।

चेष्टा का वर्णन है। 'मन बाँधै' इस पद में 'बाँधै'-शब्द का मुख्यार्थ बाँधना है, पर मन कोई स्थूल वस्तु नहीं, जिसको बाँधा जाय, अतः मुख्यार्थ का बाध है, अतः इस मुख्यार्थ को सर्वथा छोड़कर 'मन को आसक्त करना' यह लक्ष्यार्थ लिया जाता है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अनुपम सौंदर्य सूचन करना यहाँ प्रयोजन है। एक और उदाहरण देखिए—

सुजनता भवदीय अपार है,
अकथनीय किया उपकार है।
सुहृद! यों करते रहिए कृपा,
मुदित जीवित भी रहिए सदा।

बार-बार अपकार करनेवाले किसी कुटिल के प्रति उसके दिए हुए परितापों से दुःखित किसी व्यक्ति की यह उक्ति है। इसका मुख्यार्थ यह है कि 'हे मित्र! आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया, आपने अत्यंत सज्जनता दिखलाई है।' किंतु ऐसे वाक्य अपकारी के प्रति नहीं कहे जा सकते, अतः इस मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ उपकार का अपकार एवं सज्जनता का दुर्जनता आदि लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। यहाँ मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का विपरीत संबंध है। अपकार की अधिकता सूचन करना प्रयोजन है। ऐसे उदाहरणों में भी लक्षण-लक्षणा होती है। और, लक्ष्यार्थ विपरीत होने से इसे विपरीत लक्षणा भी कहते हैं।

उपर्युक्त गौणी लक्षणा और उपादान एवं लक्षण-लक्षणा,

जो कि शुद्धा के दो भेद हैं, ये सीनो ही लक्षणा दो प्रकार की होती हैं—सारोपा और साध्यवसाना। जैसा कि तालिका में दिखलाया गया है। इन (सारोपा और साध्यवसाना) की स्पष्टता इस प्रकार है—

सारोपा लक्षणा

जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप के विषय, दोनो का शब्द द्वारा कथन किया जाय, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है।

पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कही हुई दो वस्तुओं में एक वस्तु के स्वरूप की दूसरी वस्तु में तादात्म्य प्रतीति (अभेद ज्ञान) को आरोप कहते हैं। और जिस वस्तु का आरोप किया जाय, उसे आरोप्यमाण और जिस वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया जाय, उसे आरोप का विषय कहते हैं। 'सारोपा' लक्षणा में विषयी (जिसका आरोप किया जाय) और विषय (जिसमें आरोप किया जाय), दोनो का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है। और, विषयी के साथ विषय की तादात्म्य प्रतीति होती है, अर्थात् उन दोनो में अभेद ज्ञान रहता है।

सारोपा गौणी लक्षणा का उदाहरण—

'वाहीक बैल है' (*गौर्वाहीकः*)।

वाहीक कहते हैं असभ्य (गँवार) को। यहाँ गँवार में बैल का आरोप है। वाहीक तो आरोप का विषय है, और

बैल जो आरोप्यमाण है, इन दोनों का शब्द से स्पष्ट कथन है, अतः सारोपा है। गँवार को बैल कहने में मुख्यार्थ का बाध है। बैल में जड़ता, मंदता आदि धर्म हैं, गँवार में भी जड़ता और मंदता होती है, अतः इस सादृश्य-संबंध से 'वाहीक बैल के समान है' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, अतः गौणी है। वाहीक (गँवार) में मूर्खता का आधिक्य सूचन किया जाना प्रयोजन है। पूर्वोक्त 'मुखचंद्र' उदाहरण में भी यही सारोपा गौणी लक्षणा है। रूपक अलंकार में यही लक्षणा अंतर्गत रहती है।

सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण—'वे भाले आ रहे हैं।' इस पूर्वोक्त उदाहरण में 'भाले' आरोप्यमाण है, और भालेवाले पुरुष आरोप के विषय हैं, इन दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, क्योंकि 'वे' इस सर्वनाम से भाले धारण करनेवाले पुरुषों का भी शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा है। लक्ष्यार्थ जो भालेवाले पुरुष हैं, उनके साथ मुख्यार्थ जो 'भाले' हैं, वह भी लगा रहता है, अतः उपादान लक्षणा है। यहाँ धार्य-धारक-संबंध है, जैसा कि पहले बतलाया गया है, अतः शुद्धा है।

सारोपा शुद्धा लक्षण-लक्षणा का उदाहरण—

'घृत आयु है' (आयुर्घृतम्)।

इसमें घृत को आयु कहा गया है। अतः घृत आरोप का विषय है, और आयु आरोप्यमाण है। घृत को आयु कहने

में मुख्यार्थ का बाध है, अतः घृत आयु बढ़ानेवाला है, आयु का कारण है, यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। घृत आयु का कारण है, और 'आयु' कार्य है, अतः कार्य-कारण संबंध होने से शुद्धा है। घृत ने अपना मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अन्य पदार्थों से घृत को विलक्षण आयु-वर्द्धक सूचन करना यहाँ प्रयोजन है। आयु के साथ घृत की तादात्म्य प्रतीति अर्थात् अभेद बतलाया गया है, और घृत तथा आयु दोनो का स्पष्ट शब्द द्वारा कथन है, अतः सारोपा है। इसका पद्यात्मक उदाहरण—

"कोऊ कोरिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार।
मो संपति यदुपति सदा विपद-विदारन हार॥"

(बिहारी)

यहाँ यदुपति में संपत्ति का आरोप है—यदुपति को ही संपत्ति कहा गया है। इन दोनो का शब्द द्वारा कथन होने से सारोपा है। मुख्यार्थ संपत्ति का त्याग है। संपत्ति का लक्ष्यार्थ पालक, सुखद आदि ग्रहण किया जाता है, अतः लक्षण-लक्षणा है। साधर्म्य संबंध होने से शुद्धा है। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र में प्रेम सूचन करना ही प्रयोजन है, अतः प्रयोजनवती है।

साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ आरोप के विषय का शब्द द्वारा निर्देश

(कथन) न होकर केवल आरोप्यमाण का ही कथन हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा का उदाहरण—जैसे किसी गँवार को देखकर कहा जाय कि 'यह बैल है' (गौरयम्)। इसकी स्पष्टता पूर्वोक्त सारोपा गौणी के 'वाहीक बैल है' इस उदाहरण में की जा चुकी है। किंतु वहाँ आरोप का विषय जो वाहीक (गँवार) है, उसका और आरोप्यमाण बैल दोनों का शब्द द्वारा कथन है। और, यहाँ आरोप के विषय 'वाहीक' का कथन नहीं, केवल आरोप्यमाण 'बैल' का ही कथन है, अतः साध्यवसाना है। बस सारोपा और साध्यवसाना में यही अंतर है। इसके सिवा वहाँ बैलपन और गँवारपन आदि परस्पर में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति होने पर भी अत्यंत सादृश्य के प्रभाव से तादात्म्य अर्थात् अभेद की प्रतीति कराना-मात्र प्रयोजन है, किंतु यहाँ—साध्यवसाना के 'यह बैल है' इस उदाहरण में 'वाहीक' पद नहीं है, जो विशेष्य-वाचक है, अतएव लक्ष्यार्थ के समझने के प्रथम ही मुख्यार्थ के ज्ञान-मात्र से ही बैलपन और गँवारपन जो परस्पर में इनके भेद बतलानेवाले धर्म हैं, उनकी प्रतीति के बिना ही सर्वथा अभेद कथित है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि गँवार को बैल के समान जड़ और मंद तो दोनों ही में सूचन किया गया है, तथापि सारोपा में भेद की प्रतीति होते हुए अर्थात् गँवार और

बैल दो पृथक्-पृथक् वस्तु समझते हुए एकता का—तद्रूपता का—ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है, और साध्यवसाना में दोनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति कराए बिना ही सर्वथा अभेद अर्थात् 'यह बैल ही है' ऐसा ज्ञान कराया जाना प्रयोजन होता है। इन दोनों लक्षणाओं में यही उल्लेखनीय भेद है, जो प्राचीन आचार्यों की सूक्ष्मदर्शिता का परिचायक है। इसका पद्यात्मक उदाहरण—

> लावण्य-पूरित नवीन नदी सुहाती,
> देखो, यहाँ द्विरद-कुंभ-तटी दिखाती ;
> अकिंद्र चंद्र अरविंद प्रफुल्लशाली—
> है कांचनीय कदली-युग-दंडवाली ।

किसी सुंदरी को उद्देश्य करके यह किसी युवक का वाक्य है। सुंदरी में लावण्य की नदी का और उसके अंगों में—उरोज, मुख, नेत्र और जंघाओं में—तट, पूर्णचंद्र, प्रफुल्लित कमल और सुवर्ण के कदली-दंडों का आरोप है। यहाँ आरोप के विषय सुंदरी और उसके अंगों का कथन नहीं किया गया है, केवल आरोप्यमाण 'तट' आदि का कथनमात्र है, अतः साध्यवसाना है । सुंदरी के अंगों के साथ गज-कुंभ आदि का सादृश्य-संबंध होने से गौणी है । यहाँ अत्यंत सौंदर्य सूचन करना प्रयोजन है। 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार में यही लक्षणा अंतर्गत रहती है ।

साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा का उदाहरण—

'कुंत (भाले) आ रहे हैं' (कुंताः प्रविशंति)

पूर्वोक्त (पृष्ठ ३५) सारोपा उपादान लक्षणा के—'वे कुंत रहे हैं', इस उदाहरण में और तो सब स्पष्टता की जा चुकी है। उ और इसमें भेद यही है कि वहाँ 'वे' इस सर्वनाम के प्र द्वारा आरोप के विषय भालेवाले पुरुषों का भी कथन कि गया है, अतः सारोपा है, किंतु यहाँ केवल 'कुंत आ रहे कहा गया है, अतः केवल आरोप्यमाण 'कुंत' का ही कथन न कि आरोप के विषय का, अतः साध्यवसाना है। और उदाहरण—'वंसी गावत है वहाँ'। इसमें श्रीकृष्ण में वंसी आरोप है। आरोप का विषय जो श्रीकृष्ण है, उनका क नहीं है, आरोप्यमाण वंसी मात्र का कथन है—श्रीकृष्ण वंसी में अभेद कथन है, अतः साध्यवसाना है। वंसी ज वह गान नहीं कर सकती। अतः मुख्यार्थ वंसी का बाध है, इसका लक्ष्यार्थ 'वंसीवाला' ग्रहण किया जाता है, और लक्ष्यार्थ के साथ मुख्यार्थ वंसी भी लगा रहता है, उपादान है। धार्य-धारक संबंध होने से शुद्धा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षण-लक्षणा का उदाहरण—जैसे को दिखलाकर कहा जाय कि 'यही आयु है।' इसको । सारोपा के 'घृत आयु है' इस उदाहरण में हो चुकी है। और इसमें एक भेद तो यह है कि वहाँ घृत और आयु—अ के विषय और आरोप्यमाण—दोनों का कथन किया ग सारोपा है, और यहाँ आरोप के विषय घृत का कथन न

जाकर केवल आरोप्यमाण 'आयु' का ही कथन है, अतः यहाँ साध्यवसाना है। इसके सिवा दूसरा भेद प्रयोजन में है, यहाँ पूर्वोक्त सारोपा में आयुवर्द्धक अन्य पदार्थों से घृत को विशेष आयुवर्द्धक सूचन करना-मात्र प्रयोजन है, और इस साध्यवसाना में घृत को अव्यभिचार तथा अव्यर्थ आयुवर्द्धक सूचन किया गया है, यद्यपि इन दोनो (सारोपा और साध्यवसाना के) उदाहरणों में कार्य-कारण संबंध समान है। पूर्वोक्त 'गंगा पर गाँव' इसमें भी साध्यवसाना लक्षणा ही है, क्योंकि 'तट' में गंगा के प्रवाह का आरोप है, और आरोप के विषय 'तट' का कथन नहीं।

प्रयोजनवती लक्षणा के इन्हीं भेदों के लक्षण और उदाहरण जो ऊपर दिखाए गए हैं, उनमें जिसे प्रयोजन कहा जाता है, वह व्यंग्यार्थ होता है, क्योंकि न तो वह वाच्यार्थ है, और न लक्ष्यार्थ ही, जैसा कि आगे लक्षणा-मूला व्यंजना के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। व्यंग्यार्थ दो प्रकार का होता है— गूढ़ और अगूढ़। अतः पूर्वोक्त इन्हीं लक्षणा भी प्रत्येक गूढ़-व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या होती है।

गूढ़-व्यंग्या लक्षणा

जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ़ होता है, अर्थात् जिसे केवल काव्य-मर्मज्ञ ही जान सकते हैं, वहाँ गूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है।

उदाहरण—

मुख में बिकस्यो मुसकान बसीकृत बंकता चारु बिलोकन
गति में उघरें बहु बिभ्रम त्यों मति में मरजादहु छोपन
मुकुलीकृत हैं स्तन, उद्धर त्यों जघनस्थल चित्त प्रलोभन
इहि चंद्रमुखी-तन में है उदै हुलसाय रह्यो नव-यौवन

किसी तरुणी को देखकर किसी युवक की उक्ति है। इ
मुख्य अर्थ यह है कि (१) इस चंद्रमुखी के अंगों में यं
का उदय मुदित हो रहा है। (२) इसके मुख में मुसकान-
विकसित है। (३) वंकता को वश करनेवाला कटा
है। (४) गति में विभ्रमों का उल्लास है। (५) बुि
परिमित विषयता का त्याग है। (६) कुच अर्धखिली
हैं। (७) जघनस्थल उद्धर है। इनमें लक्षणा और
क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) यौवन कोई चेतन वस्तु नहीं, जो मुदित हो
अतः मुख्यार्थ का बाध है। इसका लक्ष्यार्थ है यौवन-ज
जनित उत्कर्ष अर्थात् अत्यंत सौंदर्य और नायिका में
लाषा होना व्यंग्य है।

(२) 'विकस्यो' का मुख्यार्थ है प्रफुल्ल होना, किंतु
सित होना, यह पुष्पों का धर्म है, न कि मुख की मुसका
अतः मुख को विकसित कहने में मुख्यार्थ का बाध है।
सित का लक्ष्यार्थ उत्कर्ष ग्रहण किया जाता है। मुख्यार्थ
सित के साथ लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' का असंकोच रूप

संबंध है, क्योंकि विकास और आधिक्य दोनों में असंकोच रहता है। मुख को पुष्पों के समान सुगंधित सूचन करना व्यंग्य है। इसमें सादृश्य संबंध होने से गौणी और मुख एवं विकसित दोनों का कथन होने से सारोपा तथैव विकसित ने अपना मुख्यार्थ छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है।

(३) 'वशीकृत' का मुख्य अर्थ है किसी को अपने वश में कर लेना। किंतु कटाक्षों द्वारा बाँकेपन को वश में करना असंभव है, अतः इस मुख्यार्थ का बाध है। वशीकृत का लक्ष्यार्थ स्वाधीन करना ग्रहण किया जाता है। अपने अभिलषित विषय में प्रवृत्ति रूप संबंध है। अपने प्रेमी में अनुराग सूचन करना प्रयोजन है।

(४) विभ्रम अर्थात् हाव ऐसी वस्तु नहीं, जो उछले। अतः मुख्यार्थ का बाध है; उछले का लक्ष्यार्थ 'अधिकता' ग्रहण किया जाता है। प्रेर्य-प्रेरक भाव संबंध है। मनोहारी सूचन करना व्यंग्य है।

(५) मर्याद का लोप कहने में मुख्यार्थ का बाध है, इसका लक्ष्यार्थ 'अधीरता' है। कार्य-कारण भाव संबंध है। अनुराग का आधिक्य व्यंग्य है।

(६) मुकुलीकृत का मुख्यार्थ अधखिली कली है, किंतु स्तनों को अधखिली कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि कली फूलों की होती है, न कि मनुष्य के अंगों की। इसका लक्ष्यार्थ काठिन्य

है। अवयवों की सघनता रूप सादृश्य संबंध है। मनोहरता सूचक व्यंग्य है।

(७) जघनस्थल को उद्धर कहने में मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि यह चेतन का धर्म है। उद्धर का लक्ष्यार्थ है—विलक्षण रति योग्य होना। भार को सहन करने का सादृश्य संबंध है रमणीयता सूचक व्यंग्य है।

इनमें जहाँ सादृश्य संबंध है, वहाँ गौणी और जहाँ अन्य संबंध है, वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इनमें व्यंग्य हैं, वे सभी गूढ़ हैं, साधारण व्यक्ति द्वारा सहज में नहीं समझे जा सकते—इन्हें काव्य-मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। पूर्वोक्त 'सुजनता भवदीय अपार है' इस उदाहरण में भी गूढ़ व्यंग्य ही है।

अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा

जहाँ ऐसा व्यंग्य हो, जो सहज ही में समझा जा सकता हो, वहाँ अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है।

उदाहरण—

> जिन परिचय सों मूढ़हू जानहिं चतुर चरित्र ;
> जोवन मद उमगित ललित सिखवत हाव विचित्र ।

यहाँ सिखवत पद लाक्षणिक है, सिखाने का मुख्यार्थ है उपदेश[1] करना। यह चेतन का कार्य है, यौवन जड़ है, उसके

---

[1] उपदेश का अर्थ है न जानी हुई बात को शब्द द्वारा कथन करके समझाना।

द्वारा उपदेश असंभव होने से मुख्यार्थ का बाध है। सिखवत का लक्ष्यार्थ है 'प्रकट होना' प्रकट करना यह सामान्य वाक्य है, और 'सिखाना' यह विशेष वाक्य है, अतः यहाँ सामान्य-विशेष भाव संबंध होने से शुद्धा है। अनायास लालित्य का ज्ञान होना व्यंग्य है। यह व्यंग्य गूढ़ नहीं—सहज ही में समझा जा सकता है। अतः अगूढ़ व्यंग्या है। सिखवत ने *अपना मुख्यार्थ छोड़ दिया है, अतः लक्षण-लक्षणा है। अगूढ़-*गुणीभूत व्यंग्य में यही लक्षणा होती है।

गूढ़ के समान अगूढ़ व्यंग्य भी सभी लक्षणाओं के भेदों में हो सकता है। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं बतलाए गए हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लक्षणा का मूल लाक्षणिक शब्द है, अतः लक्षणा, लाक्षणिक शब्द पर ही अवलंबित है।

पदगत और वाक्यगत लक्षणा

जहाँ एक ही पद लाक्षणिक हो, वहाँ पदगत लक्षणा समझना चाहिए। जैसे पूर्वोक्त 'गंगा पर गाँव' इस उदाहरण में 'गंगा' यह एक ही पद लाक्षणिक है। अतः ऐसे उदाहरण पदगत लक्षणा के होते हैं। और, जहाँ अनेक पदों के समूह से बना हुआ सारा वाक्य लाक्षणिक होता है, वहाँ वाक्यगत लक्षणा कही जाती है, जैसे पूर्वोक्त 'गुजनना मनहोय अपार है' इस उदाहरण में सारा वाक्य लाक्षणिक है।

धर्मगत और धर्मिगत लक्षणा

यहाँ 'धर्मि' से लक्ष्यार्थ और 'धर्म' से लक्ष्यार्थ का धर्म
समझना चाहिए। अर्थात् लक्षणा का प्रयोजन रूप फल जहाँ
लक्ष्यार्थ में हो, वहाँ धर्मिगत लक्षणा और जहाँ वह (प्रयोजन)
लक्ष्यार्थ के धर्म में हो, वहाँ धर्मगत लक्षणा होती है।

धर्मिगत लक्षणा का उदाहरण—

> चातक मोरन धुनि बढ़ी, छयो घटा घुनि घाय,
> सहिहौं सब हौं राम पै बैदेही किमि हाय!

वर्षाकालिक उद्दीपन विभावों को देखकर श्रीजानकीजी के
योग में किष्किंधा-स्थित श्रीरघुनाथजी के वाक्य हैं कि
द वर्षाकालिक विरह-ताप मैं तो सब सहन कर सकता हूँ,
ऐसे समय में वैदेही की क्या दशा होगी?' यहाँ 'हौं
' के मुख्यार्थ का बाध है, क्योंकि जब श्रीराम स्वयं वक्ता
तब 'हौं राम' कहा जाना व्यर्थ है। इसका—'मैं वन-
आदि अनेक दुःख सहन करनेवाला कठोर हृदय राम
यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। और, कठोरता के
ताप रूप प्रयोजन को सूचन करने के लिये 'हौं राम'-
का प्रयोग किया गया है, अतः यहाँ इस लक्ष्यार्थ में
न होने के कारण यह धर्मिगत लक्षणा है।

र धर्मगत लक्षणा का उदाहरण पूर्वोक्त 'गंगा पर गौर
इसमें गंगा पद का लक्ष्यार्थ 'तट' है, और तट का धर्म

पवित्रता आदि हैं। वहाँ तट के धर्म पवित्रतादि का अतिशय सूचन प्रयोजन है, अतः वहाँ धर्मगत लक्षणा है।

यहाँ तक अभिधा और लक्षणा का निरूपण किया गया। आगे क्रमप्राप्त 'व्यंजना' शक्ति का निरूपण किया जायगा।

तृतीय स्तवक

व्यंजक और व्यंग्यार्थ

जिस शब्द का व्यंजना शक्ति द्वारा वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत हो, उसे व्यंजक शब्द कहते हैं। और व्यंजना से प्रतीत होनेवाले अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि वाचक और लाक्षणिक तो केवल शब्द ही होते हैं, अर्थ नहीं, पर 'व्यंजक' केवल शब्द ही नहीं, किन्तु वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य जो तीन प्रकार के अर्थ हैं, वे भी व्यंजक होते हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा। और यह—व्यंग्यार्थ 'व्यंजना' द्वारा प्रतीत होता है।

व्यंजना

अपने-अपने अर्थ का बोध कराके अभिधा और लक्षणा के विरत (शांत) हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना कहते हैं।

वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के भिन्न अर्थ जो व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है, उसे 'व्यंग्य' कहते हैं।

व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा नहीं करा सकतीं, क्योंकि शब्द का, बुद्धि का और क्रिया का एक व्यापार करके विरत (शांत) हो जाने पर फिर व्यापार नहीं हो सकता—"शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।" अभिप्राय यह कि एक बार उच्चारण किए गए शब्द का एक ही बार अर्थ बोध हो सकता है, अनेक बार नहीं। बुद्धि (ज्ञान) उदय होकर एक ही बार प्रकाश करती है, अर्थात् 'घट' आकार से परिणत बुद्धि घट का ही ज्ञान करा सकती है, न कि पट का। तथैव क्रिया भी उत्पन्न होकर एक ही बार अपना कार्य करती है, जैसे बाण एक बार छोड़ा जाने से एक ही बार चलेगा, अनेक बार न जा सकेगा। क्योंकि ये तीनों ही क्षणिक हैं—उत्पन्न होकर अत्यंत अल्प समय ठहरते हैं। इसी न्याय के अनुसार वाच्यार्थ का बोध कराना अभिधा का और लक्ष्यार्थ का बोध कराना लक्षणा का व्यापार है। जब यह अपने-अपने एक-एक व्यापार का अर्थात् अभिधा अपने वाच्यार्थ को और लक्षणा अपने लक्ष्यार्थ का बोध करा देती हैं, फिर उनकी शक्ति क्षीण हो जाने से वे विरत हो जाती हैं—छूट जाती हैं, फिर वे किसी अन्य अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं। किंतु ऐसी अवस्था में यदि कहीं वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न किसी अर्थ की प्रतीति होती है, तो वह व्यंजना-शक्ति ही करा सकती है। क्योंकि जिस प्रकार अभिधा द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध न हो सकने पर लक्ष्यार्थ के लिये लक्षणा शक्ति का

वीकार किया जाना अनिवार्य हुआ, उसी प्रकार अभिधा और
क्षणा जिस अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं, उस अर्थ के लिये
सी तीसरी शक्ति का स्वीकार किया जाना भी अनिवार्य
और व्यंजना ही ऐसे अर्थ का बोध करा सकती है।

व्यंजना का नामार्थ—अप्रकट वस्तु को प्रकट करनेवाले
र्थ को अंजन (नेत्रों में लगाने का सुरमा) कहा जाता है।
वन में 'वि' उपसर्ग लगाने से 'व्यंजन' शब्द बनता है,
उका अर्थ है एक विशेष प्रकार का अंजन। साधारण
ान दृष्टि-मालिन्य को नष्ट करके अप्रकट वस्तु को प्रकट
ा है, और यह 'व्यंजन' अभिधा और लक्षणा से अप्रकट
को प्रकट करता है, अतएव इस शब्द-शक्ति का नाम
ञना' है।

व्यंजना से जाने हुए अर्थ को व्यंग्यार्थ, ध्वन्यार्थ, सूच्यार्थ,
पार्थ और प्रतीयमान आदि कहते हैं। क्योंकि यह वाच्यार्थ
रह न तो कथित ही होता है, और न लक्ष्यार्थ की तरह
ा ही, किंतु यह व्यंजित, ध्वनित, सूचित, आक्षिप्त और
होता है। काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि महत्व-पूर्ण पदार्थ
एव उत्तम काव्य वही माना गया है, जिसमें व्यंग्यार्थ की
ा हो, जैसा कि पहले कहा गया है।

भिधा और लक्षणा का व्यापार (क्रिया) केवल शब्दों में
ा है, किंतु व्यंजना का शब्द और अर्थ दोनों में। व्यंजना
नलिखित भेद होते हैं—

- व्यंजना
  - शाब्दी
    - अभिधा-मूला—जिसके संयोगादि नियंत्रित वाच्या आदि १४ भेद होते हैं—इनकी स्पष्टता आगे की जायगी।
    - लक्षणा-मूला—प्रयोजनवती लक्षणा के काव्य-प्रकाश के अनुसार १२ भेद एवं साहित्य दर्पण के अनुसार ६४ भेद हैं, जो पद दिखाए गए हैं, और जिनकी स्पष्टता आगे की जायगी।
  - आर्थी
    - वक्तृ वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - बोधव्य वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - काकु वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - वाक्य वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - वाच्य वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - अन्य सन्निधि वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - प्रस्ताव वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - देश वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - काल वैशिष्ट्यप्रयुक्ता
    - चेष्टा वैशिष्ट्यप्रयुक्ता

    } ये प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की होती हैं—वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्य-संभवा—इस प्रकार कुल ३० भेद होते हैं।

इस तालिका के अनुसार व्यंजना शाब्दी और आर्थी दो भेदों में विभक्त है। शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद हैं—(१) अभिधा-मूला और (२) लक्षणा-मूला।

अभिधा-मूला व्यंजना

'संयोग' आदि से अनेकार्थी शब्दों की वाचकता

का नियंत्रण हो जाने पर जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा-मूला व्यंजना कहते हैं।

जिन शब्दों के एक से अधिक—अनेक—अर्थ होते हैं, वे अनेकार्थी शब्द कहे जाते हैं। अनेकार्थी शब्दों की वाचकता को, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध करानेवाली अभिधा की शक्ति को, 'संयोग' आदि (जिनकी स्पष्टता नीचे की जायगी) एक ही खास अर्थ में नियंत्रित कर देते हैं। अतएव उस खास अर्थ के सिवा अनेकार्थी शब्द के अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। अर्थात् वे अन्य अर्थ अभिधा द्वारा न हो सकने के कारण वाच्यार्थ नहीं होते। ऐसी अवस्था में अनेकार्थी शब्द के वाच्यार्थ से भिन्न जिस किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधा-मूला व्यंजना द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि अभिधा की शक्ति तो 'संयोग' आदि से एक अर्थ बोध कराके रुक जाती है, और पूर्वोक्त मुख्यार्थ के बाध आदि तीन कारणों के समूह के बिना लक्षणा उपस्थित नहीं हो सकती। अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही इसे उपस्थित होने का अवसर मिलता है। क्योंकि यह व्यंजना अभिधा के आश्रित है, इसलिये यह अभिधा-मूला कही जाती है।

अनेकार्थी शब्दों के एक मुख्यार्थ का बोध कराके अभिधा की शक्ति को नियंत्रण करनेवाले 'संयोग' आदि जिन

कारणों का ऊपर उल्लेख हुआ है, वे (१) संयोग, (२) वियोग, (३) साहचर्य, (४) विरोध, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिंग, (८) अन्यसन्निधि, (६) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) व्यक्ति और (१४) स्वर आदि हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) संयोग—जैसे 'शंख-चक्र-सहित हरि।' हरि-शब्द के इंद्र, विष्णु, सिंह, वानर, सूर्य और चंद्रमा आदि अनेक अर्थ हैं। किंतु शंख-चक्र का सदंध केवल भगवान् श्रीविष्णु के साथ ही प्रसिद्ध है, अतः यहाँ 'शंख-चक्र' के संयोग ने 'शंख-चक्र-सहित' कहने से 'हरि' शब्द को केवल 'विष्णु' के अर्थ में ही नियंत्रित कर दिया है। यहाँ हरि-शब्द के इंद्र आदि अन्य अर्थ बोध कराने में अभिधा शक्ति 'शंख-चक्र-सहित' कथन से रुक गई है। इसी प्रकार—

पुष्कर सोहत चंद सों वन पलास के फूल।

पुष्कर और वन अनेकार्थी शब्द हैं—पुष्कर का अर्थ आकाश है और तालाब भी। वन का अर्थ जंगल है और जल भी। किंतु यहाँ चंद्रमा के संयोग ने 'पुष्कर' को आकाश के अर्थ में और पलाश के फूल के संयोग ने 'वन' को जंगल के अर्थ में ही नियंत्रित कर दिया है। अतः यहाँ इनका क्रमशः आकाश और जंगल ही अर्थ हो सकता है, दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

(२) वियोग—जैसे 'शंख-चक्र-रहित हरि।' इसमें शंख-

चक्र के वियोग ने 'हरि' शब्द को श्रीविष्णु के अर्थ में नियंत्रित कर दिया है। 'हरि' शब्द का यहाँ विष्णु के सिवा दूसरा अर्थ बोध होने में शंख-चक्र के वियोग ने रुकावट कर दी है। इसी प्रकार—

सोहत नाग न मद बिना, तान बिना नहिं राग।

'नाग' और 'राग' अनेकार्थी शब्द हैं। नाग का अर्थ हाथी है और सर्प भी। राग का अर्थ अनुराग और रंग है, तथा गाने की रागिनी भी। यहाँ मद के वियोग ने नाग का अर्थ केवल हाथी और तान के वियोग ने राग का अर्थ केवल गाने की रागिनी बोध कराके अन्य अर्थों में रुकावट कर दी है।

(३) साहचर्य—जैसे 'राम लक्ष्मण।' राम और लक्ष्मण दोनो अनेकार्थी हैं। 'राम' का अर्थ दाशरथी श्रीराम, परशुराम और बलराम आदि है, और लक्ष्मण का अर्थ दशरथ-पुत्र लक्ष्मण, सारस पक्षी और दुर्योधन का पुत्र आदि है। यहाँ लक्ष्मण शब्द के साहचर्य से—साथ होने से—'राम' शब्द का श्रीदाशरथी राम और राम शब्द के साहचर्य से लक्ष्मण का अर्थ दशरथ-कुमार लक्ष्मण ही बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने में साहचर्य के कारण रुकावट हो जाती है। इसी प्रकार—

विजय जहाँ, वैभव जहाँ, हरि-अर्जुन जिहि ओर।

हरि और अर्जुन दोनो शब्द अनेकार्थी हैं। इनके

ही होगा, और बाहर जाने के समय कहा जायगा, तो घोड़ा अर्थ होगा। प्राकरणिक अर्थ का बोध कराके दूसरे अर्थ के बोध कराने में अभिधा रुक जायगी।

(७) लिंग—लिंग का अर्थ यहाँ लक्षण या विशेषता-सूचक चिह्न है। जैसे

'कुपित मकरध्वज हुआ, मर्याद सब जाती रही।'

मकरध्वज का अर्थ समुद्र है और कामदेव भी। यहाँ कोप के चिह्न (लिंग) से कामदेव का अर्थ ही बोध होता है, क्योंकि समुद्र में वस्तुतः कोप संभव नहीं। इसमें पूर्वोक्त

(१४) स्वर—आचार्यों का मत है कि स्वर का प्रायः वेद ही में प्रयोग होता है, पर बातचीत में भी स्वर की विलक्षणता से वाक्य का एक खास अर्थ निर्णय किया जा सकता है।

ऊपर के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि इन 'संयोग' आदि कारणों से अनेकार्थी शब्दों का एक वाच्य अर्थ ही अभिधा द्वारा बोध हो सकता है—अन्य अर्थ बोध कराने में अभिधा की शक्ति इनके द्वारा नियंत्रित हो जाती है, अतः अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में अन्य अर्थों के अवाच्य हो जाने पर जब किसी अनेकार्थी शब्द में किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, तो ...

अभिधा-मूला व्यंजना का व्यापार है। इस व्यंग्यार्थ को यहाँ अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही उपस्थित होने का अवसर मिला है। 'भद्रात्म' के स्थान पर 'कल्याणात्मक' और 'शिली-मुख' आदि के स्थान पर 'बाण' आदि पर्याय शब्द बदल देने पर हाथी के वर्णनवाले व्यंग्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, इसलिये यह व्यंजना शब्द के आश्रित होने से शाब्दी है।

इस प्रसंग में एक महत्त्व-पूर्ण बात यह भी उल्लेखनीय है कि अनेकार्थी शब्दों के प्रयोग में 'श्लेष' अलंकार भी होता

लक्षणा-मूला शाब्दी व्यंजना

जिस प्रयोजन के लिये लाक्षणिक शब्द
प्रयोग किया जाता है, उस प्रयोजन की प्र
करानेवाली शक्ति को लक्षणा-मूला व्यं
कहते हैं।

लक्षणा प्रकरण में कह चुके हैं कि प्रयोजनवती लक्षण

है, क्योंकि पवित्रतादि धर्म गंगा के प्रवाह के हैं न कि तट के। और न पवित्रतादि धर्मों का (जो स्वयं प्रयोजन हैं) बोध होने में कोई दूसरा प्रयोजन ही है, अर्थात् पवित्रतादि धर्म तट में सूचन करने के प्रयोजन के लिये तो लाक्षणिक गंगा शब्द का प्रयोग ही किया गया है, फिर प्रयोजन में दूसरा प्रयोजन क्या हो सकता है ? यदि एक प्रयोजन में दूसरा, दूसरे में तीसरा, तीसरे में चौथा प्रयोजन स्वीकार किया जाय, तो इस प्रयोजन-शृंखला का तो कहीं अंत ही न हो सकेगा, फलतः अनवस्था१ के कारण मूलभूत प्रयोजन भी— जिसके लिये लक्षणा की जाती है—निर्मूल हो [illegible]

शाब्दी इसलिये हैं कि ये शब्द पर अवलंबित हैं—अभिधा-मूला तो अनेकार्थी शब्दों पर निर्भर है, और लक्षणा-मूला लाक्षणिक शब्दों पर।

आर्थी व्यंजना

(१) वक्तृ, (२) बोधव्य, (३) काकु, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्यसन्निधि, (७) प्रस्ताव, (८) देश और (९) काल आदि के वैशिष्ट्य (विशेषता या विलक्षणता) से जिस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वह आर्थी व्यंजना कही जाती है।

(१) वक्तृ वैशिष्ट्य—वाक्य के कहनेवाले को वक्ता कहते हैं। वक्ता स्वयं कवि होता है या कवि-निबद्ध पात्र अर्थात् कवि द्वारा कल्पित व्यक्ति। वक्ता की उक्ति की विशेषता से जहाँ व्यंग्यार्थ सूचित होता है, उसे वक्तृवैशिष्ट्य कहते हैं।

उदाहरण—

"प्रीतम की यह रीति सखि, मोपै कही न जाय।
छिनकहु छूँ ढिग ही रहत, पल न वियोग सुहाय।"

यहाँ कवि-कल्पित नायिका वक्ता है। उसकी इस उक्ति के वैशिष्ट्य से यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'मैं अत्यंत रूपवती हूँ, मेरा पति मुझ पर अत्यंत आसक्त है।' यह आर्थी व्यंजना इसलिये है कि यहाँ 'छिनकहु' के स्थान पर 'अनादर' आदि

और 'ढिंग' के स्थान पर 'समीप' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द बदल देने पर भी उक्त व्यंग्यार्थ प्रतीत होता रहता है, अर्थात् यहाँ व्यंग्यार्थ शाब्दी व्यंजना की तरह शब्दों पर अवलंबित नहीं, किंतु अर्थ के आश्रित है। आर्थी व्यंजना के सभी उदाहरणों में भी शब्द-परिवर्तन करने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती रहती है।

इसी प्रकार—

"मनरंजन अंजन के तन में अँगराग रचै रति रंगन में;
गृह के सिगरे नित काज करैं गुरु लोगन के सतसंगन में।
कहिए कहि कौन सों कौन सुनैं सु सहैं बनैं प्रेम-प्रसंगन में;

उसके साथ रमण करके लौटी हुई, पर अपने को वापी (तालाब) पर स्नान करके आई हुई बतलानेवाली दूती से यह अन्यसंभोगदुःखिता नायिका की उक्ति है। यहाँ दूती बोधव्य (सुननेवाली) है। नायिका के इन वाक्यों से 'तू वापी स्नान करने को कब गई थी? तुझे तो नायक के पास बुलाने को भेजा था, और तू उसके साथ रमण करके आई है!' जो व्यंग्यार्थ सूचित होता है, वह तभी सूचित हो सकता है, जब तादृश दूती—श्रोता—के प्रति ये वाक्य कहे जायँ। यदि इस प्रकार की दूती के अतिरिक्त दूसरे किसी को कहे जायँ, तो उक्त व्यंग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता। इसलिये बोधव्य की विशेषता से ही इसमें व्यंग्यार्थ है।

और भी—

---

१ इस पद्य में स्नान के कथन की पुष्टि करने के लिये जो वाक्य नायिका के हैं, उनमें रति-चिह्न-सूचक व्यंग्यार्थ हैं। जैसे '*कुचों के तट का चंदन छुट गया*' कहने में *व्यंग्य यह है कि स्नान करने से केवल* ऊपरी भाग का चंदन ही छुटता है, न कि संधि-भाग का। संधि-भाग का चंदन मर्दनाधिक्य से ही छुट सकता है। अधर की अरुणता छुट जाने में व्यंग्य यह है कि स्नान से ऊपर के होठ का भी रंग धुले बिना नहीं रह सकता, काम-शास्त्र में नीचे के अधर के चुंबन का ही विधान है। नेत्रों के प्रांत भाग का अंजन भी चुंबनाधिक्य से ही छुटता है, न कि स्नान-मात्र से। रोमांच का होना स्नान और रति दोनों में समान है।

"घाम घरीक निवारिए कलित ललित अलि-पुंज,
यमुना तीर तमाल तरु मिलत मालती कुंज।"

स्वयंदूतिका नायिका के इस वाक्य में संकेत-स्थान का सूचित किया जाना व्यंग्यार्थ है। यहाँ नायक वोधव्य होने ही व्यंग्यार्थ प्रतीत हो सकता है।

(२) काकु-वैशिष्ट्य—एक विशेष प्रकार की कंठ-ध्वनि कहे हुए वाक्य को 'काकु' कहते हैं—'भिन्नकण्ठध्वनि- रः काकुरित्यभिधीयते।' जहाँ केवल काकु उक्ति से व्यंग्यार्थ

तजी न कुल-गली'—पर यह बता कि वंशी की मनोहर ध्वनि को सुनकर किसने कुल की मर्यादा नहीं छोड़ी? (सभी ने तो छोड़ दी है।) यहाँ इन काकु उक्तियों के आगे कोष्ठक में जो वाक्य लिखे गए हैं, वे काकु उक्ति के व्यंग्य अर्थ हैं, उन्हीं में इन काकु उक्तियों के प्रश्नों का उत्तर हो जाता है, काकु उक्ति द्वारा इससे अधिक कुछ व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता। किंतु निम्न-लिखित जो व्यंग्यार्थ इस उक्ति में प्रतीत होता है, वह काकु वैशिष्ट्य द्वारा ही है। "तू जो अब मुझे उपदेश दे रही है, क्या कभी मुरलीमनोहर की मुरली की चेतोहारी ध्वनि सुनकर और मेरे-जैसी दशा को प्राप्त होकर तथा उस अवसर पर तुझे भी वैसी शिक्षा मिलने पर क्या तू श्रीनंदकुमार के समीप न पहुँची थी? फिर मुझे यह झूठा उपदेश क्यों सुना रही है? सच है, उपदेश दूसरों को ही देने के लिये हुआ करते हैं।" यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है, और यही व्यंग्यार्थ प्रधान है। यह काकु उक्ति द्वारा आक्षिप्त नहीं होता—काकु उक्ति तो केवल सहायक मात्र है। अतः यहाँ काकु-वैशिष्ट्य है। गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद 'काकाक्षिप्त व्यंग्य' है। उसमें भी काकु उक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ होता है, पर इसमें और उसमें यह भेद है कि वहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं, किंतु गौण होता है। वह काकाक्षिप्त-मात्र है—काकु उक्ति के साथ तत्काल ही खिंचकर सूचित हो जाता है, जैसा कि ऊपर की दोनों काकु उक्तियों के आगे कोष्ठक में दिखाए हुए वाक्यों के

व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के प्रश्न के साथ ही तत्काल प्रतीत हो जाते हैं।

(४) वाक्य-वैशिष्ट्य—सारे वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ का प्रतीत होना।

उदाहरण—

> मम कपोल तजि अनत तव दृग न कियो कित गौन ?
>
> मैं हूँ वही, कपोल वह, अब यह पिय ! न चितौन !

ये अपने प्रच्छन्न कामुक नायक को नायिका के वाक्य हैं। 'तव अर्थात् जब मेरे समीप बैठी हुई तुम्हारी प्रेमिका का प्रतिबिंब मेरी कपोलस्थली पर पड़ रहा था, मेरे कपोलों को छोड़कर तुम्हारी दृष्टि अन्यत्र कहीं भी नहीं जाती थी, किंतु अब, जब कि वह आपकी प्रेमिका यहाँ से चली गई है,

मलयानिल सीतल मंद यहै, हिय काम-उमंग बढ़ावनो है;
अवलोकु प्रिये! जमुना-तट कों सहजैं यह कैसो लुभावनो है।

यहाँ श्रेणी-बद्ध सघन कदली और कदंब-वृक्ष, लता-कुंजों में भ्रमरों का गुंजार और मलय-मारुत आदि कामोद्दीपक *विशेषणोंवाले वाक्यार्थ की विशेषता द्वारा रमणोत्सुक नायक की* नायिका के प्रति रति-प्रार्थना-रूप व्यंग्यार्थ का सूचन होता है।

(६) अन्य सन्निधि—वक्ता और संबोध्य (जिसको कहा जाय) के *अतिरिक्त तीसरे पुरुष की समीपता के कारण* व्यंग्यार्थ का सूचित होना।

उदाहरण—

सौंप्यौ सब गृह-काज सुहि अहो निरदई सास!
साँझ समय हू छिनक अलि! हो न होय अवकास।

अपने प्रेम-पात्र को सुनाकर अपने समीप बैठी हुई सखी के प्रति यह परकीया नायिका की उक्ति है। *यहाँ वक्ता नायिका* है और संबोध्य उसकी सखी, क्योंकि सखी के प्रति ही उसने यह वाक्य कहा है। यहाँ तीसरे व्यक्ति को—अपने प्रेम-पात्र को—यह वाक्य सुनाकर उससे संध्या समय में *मिलने का* व्यंग्यार्थ में सूचन किया गया है।

(७) प्रकरण-वैशिष्ट्य—विशेष प्रकरण होने के कारण *जहाँ व्यंग्यार्थ का सूचित होना।* उदाहरण—

घुमिवत तव पिय आत है साँझ समय सखि आज,
करत न क्यों उपकरम तू, क्यों बैठी बेकाज!

यह उप-नायक के समीप अभिसार को जाने के लिये उद्यत नायिका के प्रति उसकी अंतरंग सखी की उक्ति है। यहाँ अभिसार को रोकना व्यंग्यार्थ है। यह व्यंग्य अभिसार को जाने का प्रकरण होने से ही सूचित हो सकता है।

(८) देश-वैशिष्ट्य—स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ का सूचित होना। जैसे—

चित्रकूट-गिरि है यही, जहँ सिय लछमन साथ—
पास सरित मंदाकिनी वास कियो रघुनाथ।

यहाँ श्रीरघुनाथजी के निवास के कारण चित्रकूट के स्थल की विशेषता से उसकी परम पावनता व्यंग्यार्थ में सूचन होती है। और भी—

यहाँ वसंत-काल के कारण यह व्यंग्यार्थ सूचन होता है कि 'वसंत का समय घर पर आने का है, न कि विदेश गमन का। आप भले ही जाइए, पर मेरी दशा आप वहीं यह सुनेंगे कि वह जीती नहीं है।'

(१०) चेष्टा-वैशिष्ट्य—चेष्टा द्वारा व्यंग्यार्थ का सूचित होना। जैसे—

"न्हाय पहरि पट उठि कियो बेंदी मिस परनाम ;
दृग चलाय घर को चली, बिदा किए घनश्याम।"

कोई गोपांगना यमुना-तट पर स्नान कर रही थी, वहाँ श्रीनंदनंदन को आए देखकर नेत्रों की चेष्टा से उसने संकेत-स्थल पर अपना आना सूचन किया है।

ये सब उदाहरण एक-एक वैशिष्ट्य के हैं। कहीं वक्तृ, बोधव्य आदि अनेक वैशिष्ट्य एक ही पद्य में एकत्रित हो जाते हैं। जैसे—

यह काल रसाल वसंत अहो! कुसुमायुध बान चलावतु री।
त्रिय धीर-समीर सुगंधित पै उरनीन अधीर बनावतु री।
वन मंजुल वंजुल कुंजनली सजनी मैं घनी छबछावतु री।
यदि पास पिया, कहिए तु कहा! अब तू ही तो क्यों न बतावतु री!

अंतरंग सखी के प्रति यह नायिका की उक्ति है। वसंत के कथन से काल-वैशिष्ट्य और वंजुल-कुंज के कथन से देश-वैशिष्ट्य है। नायिका वक्ता है, अतः वक्तृ-वैशिष्ट्य है। संपूर्ण वाक्यार्थ में सखी को प्रच्छन्न कामुक के बुलाने के लिये

कहा जाना वाक्य-वैशिष्ट्य भी है। इसमें वक् आदि वैशिष्ट्य से पृथक्-पृथक् व्यंग्यार्थ सूचित होता है। कहीं अनेक वैशिष्ट्यों के संयोग से एक ही व्यंग्यार्थ सूचित होता है। जैसे—

हौं इत सोवतु, सास उत, लखि किन लै दिन माय।
अरे पथिक! निसि-अंध तू गिरियौ जिन कहुँ आय।

यह कामुक पथिक के प्रति स्वयंदूतिका नायिका की उक्ति है। 'मैं यहाँ सोती हूँ, और मेरी सास वहाँ। तू दिन में यह स्थान देख ले। तुझे रतौंध आती है। रात में कहीं हम लोगों के ऊपर आकर न गिर जाना।' इस उक्ति में वक्ता नायिका और बोधव्य पथिक दोनों के वैशिष्ट्य से नायिका द्वारा अपना शयन-स्थल सूचन-रूप व्यंग्यार्थ है। इसी प्रकार दो से अधिक वैशिष्ट्य के मिलने पर भी व्यंजना होती है।

आर्थी व्यंजना का व्यंग्यार्थ कवि के इच्छानुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीनों अर्थों में हो सकता है, अतः उपर्युक्त वक् आदि वैशिष्ट्यों द्वारा होनेवाली व्यंजना तीन प्रकार की होती है—वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा और व्यंग्य संभवा। इनके उदाहरण देखिए—

वाच्यसंभवा व्यंजना का उदाहरण—

गृह-उपकरन सु आज बहु तू न चलावति मातु,
करहु कहा कारन्ध बन चोल चल्यो यह जातु।

उप-नायक से मिलने [illegible] अपनी माता के

प्रति यह वाक्य है—'अरी अम्मा ! गृह-उपकरण—ईंधन, शाक आदि—आज तू घर में नहीं बतलाती है, क्या कुछ बाजार से लाना है ? दिन छिपना चाहता है।' इस वाच्यार्थ द्वारा वक्ता के वैशिष्ट्य से 'उस तरुणी की अपने प्रेम-पात्र के समीप जाने की इच्छा' व्यंग्यार्थ है। अतः यहाँ वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ का व्यंजक है।

लक्ष्यसंभवा व्यंजना का उदाहरण—

तन स्वेद कढ्यो, अति स्वास बढ्यो छिन-ही-छिन आइवे-जाइवे में;
अरी मो हित तू बहु खिन्न भई, पिय मेरे को एतो मनाइवे में।
कछु दोस न हीं सिर तेरे मढ़ौं, अब का बनी बात बनाइवे में;
सब तेरे ही जोग कियो सखि, तू त्रुटि राखी न नेह निभाइवे में।

अपने नायक को बुलाने को भेजी हुई, पर उसके साथ रमण करके लौटी हुई दूती के प्रति अन्यसंभोग-दुःखिता नायिका की यह उक्ति है। वाच्यार्थ में दूती के कार्य की प्रशंसा है। पर जिस दूती के अंगों में थकावट आदि रति-चिह्न देखकर यह जान लेने पर कि यह मेरे प्रिय के साथ रमण करके आई है, उसको नायिका द्वारा प्रशंसात्मक वाक्य कहना असंभव है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। उक्त वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का लक्ष्यार्थ विपरीत लक्षणा से यह ग्रहण किया जाता है कि 'तूने उचित कार्य नहीं किया। मेरे प्रियतम के साथ रमण करके विश्वासघात किया है। तूने मेरे साथ स्नेह नहीं, किंतु शत्रुता की है।' इस लक्ष्यार्थ द्वारा बोधव्य (दूती)

के वैशिष्ट्य से उस दूती का अपराध-प्रकाशन-रूप व्यंग्यार्थ जो प्रतीत होता है, वह तो लक्षणा का प्रयोजन-रूप व्यंग्यार्थ है। इसके सिवा नायिका के इस वाक्य में अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचन-रूप व्यंग्यार्थ है, वह इस लक्ष्यार्थ द्वारा सूचित होता है। अतः लक्ष्यसंभवा व्यंजना है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना होती है, वहाँ लक्षणा-मूला शाब्दी व्यंजना भी उसके अंतर्गत लगी रहती है, क्योंकि जो व्यंग्य लक्षणा का प्रयोजन-रूप होता है, वह लक्षणा-मूला शाब्दी व्यंजना का विषय है, और दूसरा व्यंग्यार्थ जो लक्ष्यार्थ द्वारा प्रतीत होता है, वह लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना का विषय है। जैसे ऊपर के इस उदाहरण में दूती के विषय में विश्वासघात सूचक व्यंग्य, जो लक्षणा का प्रयोजन-रूप है, लक्षणा-मूला व्यंजना का विषय है। और अपने नायक के विषय में जो अपराध-सूचक व्यंग्यार्थ है, वह लक्ष्यसंभवा आर्थी व्यंजना का विषय है। इसके द्वारा शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना का विषय विभाजन भी स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है।

व्यंग्यसंभवा व्यंजना का उदाहरण—

> नलिनी-दल पै देखु यह लसत अचल बक पाँति ;
> मरकत-भाजन माँहि ज्यों संख-सीप बिलसाति।

नायक के प्रति किसी युवती की उक्ति है—"देखो, कमलिनी के पत्ते पर बैठी हुई बक-पंक्ति बड़ी सुंदर लगती है, जैसे

नीलमणि के पात्र में स्थित शंख की सीप (शंख के आकार की बनी कटोरी), इस वाच्यार्थ में वकों की निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ है । और इस निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ द्वारा उस स्थान का एकांत होना सूचित होने के कारण रति-प्रार्थना-सूचक दूसरा व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, अर्थात् एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ का व्यंजक है, अतः व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यंजना है। पहले व्यंग्य को प्रतीत करानेवाली वाच्यसंभवा और दूसरे व्यंग्य को प्रतीत करानेवाली व्यंग्यसंभवा है।

उक्त तीनों ही प्रकार की व्यंजनाओं के पूर्वोक्त 'वक्तृ', 'बोधव्य' आदि वैशिष्ट्यों से अनेक भेद होते हैं। उनकी वाच्य-संभवा वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता, लक्ष्यसंभवा वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता, व्यंग्यसंभवा वक्तृ-वैशिष्ट्य-प्रयुक्ता इत्यादि संज्ञा होती हैं, जैसा कि पहले व्यंजना की तालिका में बतलाया गया है।

शाब्दी और आर्थी व्यंजना का विषय-विभाजन

उपर्युक्त शाब्दी और आर्थी व्यंजना के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य तो शब्द और अर्थ उभयात्मक है अर्थात् शब्द और अर्थ परस्पर में अन्योन्याश्रित हैं, फिर शाब्दी और आर्थी इस प्रकार व्यंजना के दो भेद बतलाकर ... और अर्थ का विषय-विभाग क्यों किया गया ? इसका ... यह है कि काव्य अवश्य ही शब्दार्थ उभयात्मक है,

और व्यंजना व्यापार में भी एक के कार्य में दूसरे की सहकारिता अवश्य रहती है—शाब्दी व्यंजना में अर्थ की और आर्थी व्यंजना में शब्द की सहायता रहती है। अर्थात् केवल शब्द या केवल अर्थ द्वारा व्यंजन व्यापार नहीं हो सकता। पर बात यह है कि जहाँ शब्द की प्रधानता होती है, वहाँ शाब्दी और जहाँ अर्थ की प्रधानता होती है, वहाँ आर्थी व्यंजना मानी गई है। शाब्दी में शब्द की प्रधानता और आर्थी में अर्थ की प्रधानता किस प्रकार है, इसकी स्पष्टता पहले की जा चुकी है। जिसकी जहाँ प्रधानता होती है, उसको उसी नाम से कहा जाता है—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।'

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्तियों के सिवा एक वृत्ति 'तात्पर्याख्या' भी होती है। यद्यपि यह सर्वमान्य नहीं, किंतु साहित्याचार्य श्रीमम्मट आदि ने इसको स्वीकार किया है।

तात्पर्याख्या वृत्ति

वाक्य के पदों के अर्थ का परस्पर अन्वय अर्थात् एक पद के अर्थ का दूसरे पद के अर्थ के साथ संबंध का बोध करानेवाली शक्ति को तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं।

इस वृत्ति को समझने के लिये पद और वाक्य किसे कहते हैं, यह जानना आवश्यक है।

पद उस वर्ण-समूह को कहते हैं, जो प्रयोग करने के योग्य, अनन्वित अर्थात् किसी दूसरे पद के अर्थ से असंबद्ध (न जुटा हुआ), एक और अर्थबोधक हो। जैसे 'घट' यह दो वर्णों का समूह 'पद' है। व्याकरणादि से शुद्ध होने के कारण इसका प्रयोग हो सकता है। यह किसी दूसरे पद के अर्थ से जुटा हुआ भी नहीं है, और एक है, तथा घट अर्थ का बोधक भी है। 'पद' को अनन्वित इसलिये कहा गया है कि यह वाक्य की तरह दूसरे पद के अर्थ से जुटा हुआ नहीं होता, और 'एक' इसलिये कहा गया है कि 'पद' आकांक्षा-रहित होता है—वाक्य की तरह दूसरे पदों की आकांक्षावाला नहीं होता[1]। अर्थ-बोधक कहने का तात्पर्य यह है कि क, प, ट, प, इत्यादि निरर्थक वर्ण-प्रयोग के योग्य होने पर भी पद नहीं कहे जाते, जिसका अर्थ हो सके, वही 'पद' कहा जाता है। यदि सार्थक हो, तो एक वर्ण भी पद कहा जा सकता है।

---

[1] श्रीनागेश भट्ट ने कहा है—'वाक्यसमयग्राहिका आकांक्षा। सा चैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा यस्य यत्पदं [illegible] कस्य पुरुषनिष्ठैव तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः। [illegible] व्यवहारः' (परमलघुमंजूषा पृ० ११)

वाक्य उस पद-समूह को कहते हैं, जो योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि से युक्त हो।

योग्यता—एक पद के अर्थ का अन्य पदों के अर्थों के साथ संबंध करने में बाध न होना। जैसे 'पानी से सींचता है' इस वाक्य में योग्यता है, किंतु 'अग्नि से सींचता है' इसमें योग्यता नहीं, क्योंकि अग्नि जलाने का साधन है, न कि सींचने का। अतः अग्नि का 'सींचने' पद के अर्थ के साथ संबंध विपरीत होने से बाधित है। जहाँ ऐसा 'बाध' न हो, वह योग्यता है।

आकांक्षा—किसी ज्ञान की समाप्ति (पूर्ति) का न होना अर्थात् वाक्यार्थ को पूरा करने के लिये किसी दूसरे पद की जिज्ञासा का रहना आकांक्षा है। जैसे 'देवदत्त घर को' इतना कहने पर 'जा रहा है' इत्यादि क्रिया की जिज्ञासा रहती है। क्योंकि 'जा रहा है' कहे बिना वाक्यार्थ के ज्ञान की पूर्णता नहीं होती। अतः गाय, घोड़ा, पुरुष इत्यादि निराकांक्ष (एक पद दूसरे पद से संबंध न रखनेवाला) पद-समूह वाक्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे निराकांक्ष स्वतंत्र पद हैं—निराकांक्ष तो पद होता है, न कि वाक्य।

सन्निधि—एक पद का उच्चारण करने के बाद दूसरे पद के उच्चारण में विलंब न होना अर्थात् जिस पद के अर्थ की जिस पद के साथ संबंध की अपेक्षा हो, उसके बीच में व्यवधान न होना सन्निधि है। व्यवधान दो प्रकार का हुआ करता

है—काल द्वारा और अनुपयुक्त शब्द द्वारा। एक पद के कहने के बाद दूसरे पद के कहे जाने में अधिक समय होना काल द्वारा व्यवधान है। जैसे 'रामगोपाल' यह तो आज कहा जाय और 'जा रहा है' यह दूसरे दिन या घंटे-दो घंटे बाद कहा जाय, तो विलंब हो जाने से किसी को 'रामगोपाल' और 'जा रहा है' इन पदार्थों का संबंध मालूम न होगा। और अनुपयुक्त पद द्वारा व्यवधान वह है, जब प्रकरणोपयोगी पदों के बीच में प्रयोग के अयोग्य पद आ जाय। जैसे 'पर्वत भोजन किया ऊँचा है देवदत्त ने' इसमें दो वाक्य हैं—'पर्वत ऊँचा है' और 'देवदत्त ने भोजन किया'। पर्वत का संबंध 'ऊँचा है' के साथ है, पर बीच में 'भोजन किया' यह पद अनुपयुक्त आ पड़ा है, और 'देवदत्त ने' के पहले 'ऊँचा है' पद अनुपयुक्त आ पड़ा है। इस व्यवधान से सन्निधि के न रहने से इन पदों का संबंध ज्ञात नहीं हो सकता। इसलिये वाक्य वही कहा जा सकता है, जिसके बीच में व्यवधान न हो।

निष्कर्ष यह कि 'वाक्य' में योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि का होना आवश्यक है। वाक्य अनेक पदों से युक्त होता है। वाक्य में जो एक-एक पद स्वतंत्र होते हैं, उनके पृथक्-पृथक् अर्थ का बोध कराके अर्थात् संबंध-रहित पदों का अर्थ बतलाना अभिधा का कार्य है। फिर उन बिखरे हुए पदों के अर्थों को परस्पर—एक को दूसरे के साथ—जोड़कर जो वाक्य के अर्थ का बोध कराती है, वह तात्पर्या-या वृत्ति

है। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है, और उसका बोधक वाक्य होता है।

इस वृत्ति का स्थान अभिधा के बाद दूसरा है, किंतु जहाँ अभिधा के वाच्यार्थ के तात्पर्य का बाध होने पर लक्षणा को आती है, वहाँ अभिधा के बाद लक्षणा और लक्षणा के बाद तात्पर्याख्या वृत्ति आती है।

चतुर्थ स्तवक

ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। प्रधान का अर्थ है अधिक चमत्कारक होना। ध्वनिकार ने कहा है—

'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्य विवक्षा'।

अर्थात् चमत्कार के उत्कर्ष पर ही वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता निर्भर है—जहाँ वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, वहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता और जहाँ व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता समझी जाती है।

वाच्यार्थ का तो शब्द द्वारा कथन किया जाता है, किन्तु व्यंग्यार्थ का शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता—व्यंग्यार्थ की तो ध्वनि ही निकलती है। जैसे घड़ावल (घड़ियाल) पर चोट लगाने पर पहले टंकार होता है, फिर उसमें से मीठी-मीठी झंकार—ध्वनि—निकलती है, उसी प्रकार वाच्यार्थ को टंकार और व्यंग्यार्थ को झंकार समझना चाहिए।

ध्वनि के भेद नीचे की तालिका के अनुसार होते हैं—

अर्थशक्ति-मूलक
३६ भेद
कविनिबद्ध पात्रप्रौढ़ोक्ति—१२ भेद
कविप्रौढ़ोक्ति—१२ भेद
स्वतःसंभवी—१२ भेद
वस्तु से वस्तु व्यंग्य
वस्तु से अलंकार व्यंग्य
अलंकार से वस्तु व्यंग्य
अलंकार से अलंकार व्यंग्य
प्रबंधगत
वाक्यगत
पदगत
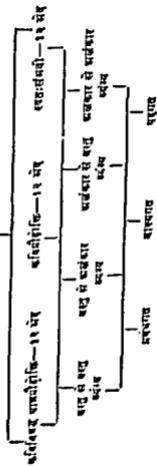
इस तालिका के अनुसार ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) लक्षणा-मूला और (२) अभिधा-मूला। इनकी स्पष्टता इस प्रकार है—

लक्षणा-मूला ध्वनि

लक्षणा-मूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं।

अविवक्षितवाच्य का अर्थ है वाच्यार्थ की विवक्षा न रहना अर्थात् इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बाध[1] रहने के कारण वह अनुपयुक्त होता है—उपयोग में नहीं लाया जा सकता (वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता), जैसा लक्षणा-प्रकरण में स्पष्ट किया गया है। अतः इस ध्वनि के मूल में लक्षणा रहती है, और इसी से इसे लक्षणा-मूला कहते हैं। इसमें प्रयोजनवती गूढ़-व्यंग्या लक्षणा रहती है, न कि रूढ़ि लक्षणा। क्योंकि रूढ़ि लक्षणा में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं, और ध्वनि तो व्यंग्यार्थ रूप ही है। ध्वनि में व्यंग्यार्थ की प्रधानता रहने के कारण अगूढ़-व्यंग्य भी ध्वनि का विषय नहीं, किंतु वह (अगूढ़ व्यंग्य) गुणीभूत व्यंग्य के अंतर्गत है।

---

१ बाध का स्पष्टीकरण लक्षणाप्रकरण (पृष्ठ ११) में देखिए।

पुनरुक्ति से वाच्यार्थ के अनुपयोगी होने का उदाहरण—

कदली कदली ही अहै करभ हु करभ लखाय ;
मृगनैनी के उरुन की समता कितहु न पाय।
(प्रसन्नराघव नाटक भावानुवाद)

ऊरुओं को केले के वृक्ष के स्तंभ की तथा करभ[1] की उपमा दी जाती है। किंतु यहाँ कहा गया है—'कदली कदली ही है' अर्थात् केला केला ही है और करभ करभ ही। मृगनयनी के ऊरुओं (जंघाओं) का सादृश्य तीनों लोकों में कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ दुबारा कहे हुए 'कदली' और 'करभ' शब्दों का वाच्यार्थ कदली और करभ ही है। यदि इसी वाच्यार्थ को ग्रहण किया जाय, तो पुनरुक्ति दोष हो जाता है, क्योंकि एकार्थक शब्दों का दो बार कहा जाना व्यर्थ है। अतः यहाँ वाच्यार्थ का बाध है—अनुपयोगी होने के कारण यह ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये यहाँ दुबारा कहे हुए कदली और करभ का जो वाच्यार्थ है, वह 'कदली कदली ही है, अर्थात् जड़ है; और करभ करभ ही है, अर्थात् हथेली के एक तरफ़ का भाग-मात्र है' इस दूसरे अर्थ में (जो वाच्यार्थ का ही विशेष रूप है) परिणत हो जाता है। यही अर्थांतर में संक्रमण है। और, यह अर्थांतर वही व्यंग्यार्थ

---

[1] हाथ की छोटी उँगली से पहुँचे तक हथेली के बाहरी भाग का नाम करभ है।

है, जिसको उपादान लक्षणा में प्रयोजन कहते हैं। किसी के गुण या अवगुण को सूचन करने के लिये ही एक शब्द को प्रायः दो बार कहा जाता है, जैसे 'कौआ कौआ ही है; और कोकिल कोकिल ही'। इस वाक्य में भी दूसरी बार कहे हुए कौआ और कोकिल का वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जाता, किंतु दूसरी बार कहे हुए कौआ का 'कर्णकटु शब्द करनेवाला' और कोकिल का 'मधुर ध्वनि करनेवाली' अर्थ ग्रहण किया जाता है, जो वाच्यार्थ का विशेष रूप लक्ष्यार्थ है—वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न नहीं जैसा कि पहले उपादान लक्षणा के विवेचन में स्पष्ट किया गया है[१]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'व्यंग्यार्थ' शब्द द्वारा कहा नहीं जा सकता, उसकी वाच्यार्थ से ध्वनि ही निकलती है। जैसे 'कदली कदली' आदि के वाच्यार्थ में दूसरे अर्थ की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की सर्वत्र ध्वनि ही निकलती है। और भी उदाहरण देखिए—

तब ही गुन सोभा लहैं, जब सहृदय सु सराहिं;
कमल कमल हैं तबहि, जब रवि-कर सों विकसाहिं।

यहाँ भी दूसरी बार प्रयुक्त कमल शब्द का 'कमल' ही अर्थ ग्रहण किया जायगा, तो पुनरुक्ति दोष होता है, अतः यह वाच्यार्थ अनुपयोगी है। दूसरी बार के 'कमल' शब्द का

---

१ देखिए पृष्ठ २१-२०।

वाच्यार्थ 'सौरभ और सौंदर्य-युक्त विकसित कमल' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है।

दूसरे प्रकार के अनुपयोगी वाच्यार्थ का उदाहरण—

स्याम घटा घन घोर भजैं उमड़ैं चहुँ ओरन सों यह ओरन,
सीतल धीर समीर चलै भयँ होइ घनी धुनि चातक मोरन।
राम हौं, मेरो कठोर हियो हौं, सहौंगो सबैं दुख ऐसे करोरन,
हा! हा! बिदेह-सुता की दसा अब ह्वै है कहा ये लगैं झकझोरन।

वर्षाकालिक उद्दीपक सामग्रियों को देखकर जानकीजी के वियोग में श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। इसमें 'राम हौं' इस पद के मुख्यार्थ का यहाँ कुछ उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि इस वाक्य के वक्ता जब स्वयं श्रीराम ही हैं, तब 'राम हौं' कहना क्या आवश्यक था—केवल 'हौं सहौंगो' कहनेमात्र ही से वाक्य पूरा हो जाता है। अतः यहाँ 'राम हौं' का वाच्यार्थ बाधित है। इसलिये यहाँ 'राम हौं' पद राज्यभ्रष्ट, वनवासी, जटा-वल्कल धारण करनेवाला और प्राणप्रिया जानकी के हरण आदि के असह्य दुःखों को सहन करनेवाला क्रूर-हृदय 'मैं राम हूँ', इस अर्थांतर (व्यंग्यार्थ) में संक्रमण करता है। और भी—

सुंदर सेत परंबर कों कसि कै म्रट सौंनि पै बाँधि सँवारिए,
भाल में बाल-मयंक-किरीट दु पञ्चग के गन साजि सुधारिए;
पापी हजारन तारन की-सी सधारन बात न याहि निहारिए,
मोहि उधारन को है समौ यह भागीरथी! प्रिय क्यों न बिचारिए।

है, जिसको उपादान लक्षणा में प्रयोजन कहते हैं। किसी के गुण या अवगुण को सूचन करने के लिये ही एक शब्द को प्रायः दो वार कहा जाता है, जैसे 'कौआ कौआ ही है; और कोकिल कोकिल ही'। इस वाक्य में भी दूसरी वार कहे हुए कौआ और कोकिल का वाच्यार्थ ग्रहण नहीं किया जाता, किंतु दूसरी वार कहे हुए कौआ का 'कर्णकटु शब्द करनेवाला' और कोकिल का 'मधुर ध्वनि करनेवाली' अर्थ ग्रहण किया जाता है, जो वाच्यार्थ का विशेष रूप लक्ष्यार्थ है—वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न नहीं जैसा कि पहले उपादान लक्षणा के विवेचन में स्पष्ट किया गया है१।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'व्यंग्यार्थ' शब्द द्वारा कहा नहीं जा सकता, उसकी वाच्यार्थ से ध्वनि ही निकलती है। जैसे 'कदली कदली' आदि के वाच्यार्थ में दूसरे अर्थ की ध्वनि निकलती है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की सर्वत्र ध्वनि ही निकलती है। और भी उदाहरण देखिए—

तब ही गुन सोभा लहैं, जब सहृदय सु सराहिं।
कमल कमल हैं तबहि, जब रवि-कर सों विकसाहिं।

यहाँ भी दूसरी वार प्रयुक्त कमल शब्द का 'कमल' ही अर्थ ग्रहण किया जायगा, तो पुनरुक्ति दोष होता है, अतः यह वाच्यार्थ अनुपयोगी है। दूसरी वार के 'कमल' शब्द का

१ देखिए पृष्ठ ३६-४०।

वाच्यार्थ 'सौरभ और सौंदर्य-युक्त विकसित कमल' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है।

दूसरे प्रकार के अनुपयोगी वाच्यार्थ का उदाहरण—

स्याम घटा घन घोर भरें उमरें चहुँ ओरन सों यह ओरन,
सीतल धीर समीर चलै भयें होइ घनी धुनि चातक मोरन।
राम हीं, मेरो कठोर हियो हीं, सहौंगो सबैं दुख ऐसे करोरन,
हा! हा! बिदेह-सुता की दसा अब है है कहा ये जगें झकझोरन।

वर्षाकालिक उद्दीपक सामग्रियों को देखकर जानकीजी के वियोग में श्रीरघुनाथजी की यह उक्ति है। इसमें 'राम हौं' इस पद के मुख्यार्थ का यहाँ कुछ उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि इस वाक्य के वक्ता जब स्वयं श्रीराम ही हैं, तब 'राम हौं' कहना क्या आवश्यक था—केवल 'हौं सहौंगो' कहने-मात्र ही से वाक्य पूरा हो जाता है। अतः यहाँ 'राम हौं' का वाच्यार्थ बाधित है। इसलिये यहाँ 'राम हौं' पद राज्यभ्रष्ट, वनवासी, जटा-वल्कल धारण करनेवाला और प्राणप्रिया जानकी के हरण आदि के असह्य दुःखों को सहन करनेवाला क्रूर-हृदय 'मैं राम हूँ', इस अर्थांतर (व्यंग्यार्थ) में संक्रमण करता है। और भी—

सुंदर श्वेत परंबर कों कसि कै अरु सौंति पै बाँधि सँवारिए,
भाल में बाल-मयंक-किरीट डु पन्नग के गन साजि सुधारिए।
पानी हजारन तारन को-सो सधारन बात न याहि बिहारिए,
मोहि उधारन को है सम्हो यह भागीरथी! प्रिय क्यों न बिचारिए।

ही है। फिर उसे अंधा कैसे कह सकते हैं? अतः यहाँ 'अंध' शब्द के मुख्य अर्थ का बाध है—सर्वथा छोड़ दिया जाता है, और इसका लक्ष्यार्थ 'प्रकाश-हीन' ग्रहण किया जाता है। यहाँ प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा है। 'अंध' इस एक पद में ध्वनि है, अतः यह पदगत ध्वनि है।

इस ध्वनि का विपरीत लक्षणा के रूप में भी उदाहरण दिया जा सकता है। जैसे—

> कहि न सकौं तव सुजनता, अति कीन्हों उपकार;
> सखे! करत यों रहु सुखी जीवहु बरस हजार।

यह अपकार करनेवाले के प्रति उसके कार्यों से दुःखित किसी पुरुष की उक्ति है। वाच्यार्थ में उसकी प्रशंसा है, किंतु अपकारी के प्रति प्रशंसात्मक वचन नहीं कहे जा सकते, अतः वाच्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़कर विपरीत लक्षणा से उपकार का 'अपकार', सुजनता का 'दुर्जनता' और सखे का 'शत्रु' लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है। इसमें अत्यंत अपकार करना व्यंग्यार्थ है। इसी प्रकार—

> "हमको तुम एक, अनेक तुम्हैं, उनहीं के विवेक बनाय बहौ,
> इत चाह तिहारी विहारी, उतै सरसाय कै नेह सदा निबहौ;
> अब कीबौ 'मुबारक' सोई करौ अनुराग-लता जिन बोय दहौ,
> घनस्याम! सुखी रहौ आनँद सौं, तुम नीकै रहौ, उनही के रहौ।"

यह अन्यासक्त नायक के प्रति नायिका के वाक्य हैं। वाच्यार्थ में तो 'सुखी रहौ', 'उनही के रहौ' कहा गया है, किंतु

लंपट नायक के प्रति नायिका द्वारा ऐसा कथन असंभव है, अतः वाच्यार्थ का बाध है। इस वाच्यार्थ के विपरीत 'उसके पास न रहो' इत्यादि लक्ष्यार्थ समझा जाता है।

कहीं वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत होने पर भी अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि नहीं होती। देखिए—

इत न स्वान वह आज, अहो भगत ! निधरक विचर ;
हत्यो ताहि मृगराज, जो या सरिता-तट रहत ।

किसी कुलटा स्त्री के संकेत कुंज के समीप कोई धार्मिक भक्त पुष्प लेने आने लगा था। कुलटा अपने कुत्ते को उसके पीछे लगा दिया करती थी, जिससे वह तंग आकर वहाँ आना छोड़ दे, और उसके एकांत स्थल में विघ्न न हो। पर जब वह फिर भी आता ही रहा, तो एक दिन उस कुलटा ने (इस पद्य में) कहा—"भक्तजी, अब आप यहाँ निःशंक आया करें, क्योंकि जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था, उसे इसी वन के निवासी सिंह ने मार डाला है।" 'निधरक बिचर' के कथन से यद्यपि वाच्यार्थ में उसे आने के लिये कहा गया है, किंतु कुत्ते से डरनेवाले उस पुरुष को उस कुलटा के कहने का अभिप्राय यह है कि 'जो कुत्ता तुम्हें तंग किया करता था, वह तो मारा गया, पर जिसने उसे मारा है, वह सिंह इस नदी-तट के वन में ही रहता है, कभी उसकी झपेट में आ गए, तो मारे जाओगे'। निष्कर्ष यह है कि वाच्यार्थ में तो आने को कहा गया है, पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध

है, अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ विपरीत है। यहाँ न तो विपरीतलक्षणा ही है और न यह लक्षणा-मूला अत्यंत-तिरस्कृतवाच्यध्वनि ही। विपरीत लक्षणा तो वहीं हो सकती है, जहाँ वाच्यार्थ के अन्वय का या वक्ता के तात्पर्य का बाध होने के कारण वाक्य कहने के साथ ही वाच्यार्थ विपरीत अर्थ में अर्थात् लक्ष्यार्थ में बदल जाता है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध नहीं, क्योंकि वाच्यार्थ असंभव नहीं। यहाँ प्रकरणादि का विचार करने पर वाच्यार्थ विपरीत अर्थ में परिणत होता है। अतः ऐसे स्थलों में लक्षणा-मूला ध्वनि नहीं होती, किंतु अभिधा-मूला ध्वनि हुआ करती है, जो नीचे लिखी जाती है।

अभिधा-मूला ध्वनि

इस ध्वनि को 'विवक्षित अन्यपरवाच्य' ध्वनि कहते हैं।

इसमें वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है, अर्थात् वाच्यार्थ भी वांछनीय रहता है, पर वह अन्यपरक अर्थात् व्यंग्य-निष्ठ होता है। इसीलिये यह विवक्षित अन्यपरवाच्य कही जाती है।

इस ध्वनि में वाच्यार्थ का बोध होने के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है; जैसे दीपक अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसमें

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम कहीं तो स्पष्ट जाना जाता है और कहीं स्पष्ट विदित नहीं होता। इसलिये इसके मुख्य दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और (२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। ये दोनों भेद लक्षणा-मूला ध्वनि के इसलिये नहीं हो सकते कि उसमें वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं रहती—वाच्यार्थ उपयोग के योग्य ही नहीं रहता, अतः वाच्य अर्थ के साथ व्यंग्यार्थ के क्रम के लक्षित या अलक्षित होने का प्रश्न ही नहीं है।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम असंलक्ष्य हो—भले प्रकार प्रतीत न हो—वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पौर्वापर्य—पहले-पीछे का—क्रम संलक्ष्य होता है, भले प्रकार प्रतीत होता है, अर्थात् वाच्यार्थ का बोध हो जाने के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है, वहाँ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य होता है, जो आगे लिखा जायगा। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पहले-पीछे का क्रम प्रतीत नहीं होता। इस ध्वनि में रस, भाव, रसाभास और भावाभास आदि व्यंग्यार्थ होते हैं। और ये रस भावादि, जो व्यंग्यार्थ हैं, विभावानुभावादि (जो वाच्यार्थ होते हैं) द्वारा ध्वनित होते हैं। विभावादि

और रस-भावादि का पौर्वापर्य क्रम भले प्रकार प्रतीत नहीं हो सकता। विभाव, अनुभाव आदि कारणों के वाच्यार्थ का बोध होने के बाद ही रस-भावादि की प्रतीति होती है। अतः कारण-कार्य रूप पौर्वापर्य क्रम तो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में भी रहता है, किंतु अल्पकालिक होने के कारण 'शतपत्र-पत्रभेदन'[1] न्याय के अनुसार लक्ष्य में नहीं आ सकता। इसीलिये इसे 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहा जाता है। यदि इसमें क्रम का सर्वथा ही अभाव होता, तो इसे 'अक्रम व्यंग्य' कहा जाता। 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग का यहाँ यही तात्पर्य है कि *क्रम भले प्रकार नहीं जाना जाता है।*

"हरि-सुत[2]-भौन हर-भौन[3] हरि[4]दै दै कर,
घरी-घरी घोर धनु-घंट घननाटे वें;
भूरि रथ भूरि भट-भीर भार भूमि-भार,
भूधर भरंगे भिंदिपाल भननाटे वें।

---

1 शतपत्र-पत्रभेदन न्याय यह है कि जब शतपत्र (कमल) के सैकड़ों पत्तों को एक के ऊपर एक रखकर उनमें सुई की नोक से छेद किया जाता है, तब यद्यपि उन पत्तों का छेदन एक के बाद दूसरे का क्रमशः ही होता है, पर यह कार्य इतना शीघ्र होता है, जिससे सब पत्तों में सुई एक ही साथ छेद करती हुई-सी मालूम होती है—यह प्रतीत नहीं होता कि उनमें से कौन पहले और कौन पीछे बिंध गया है; अतः यह अल्पकालिक क्रम जाना नहीं जा सकता। 2 इंद्र का सुत अर्जुन। 3 रथ के घोड़ों के कानों पर। 4 श्रीकृष्ण।

खप्पर खनक ह्वै न खेटक के खप्पर ह्वौं,
खेटकी[1] खिसकि जैहैं खग्गार[2] खननाटे तें;
भूमि जैहैं यानधर[3] यान[4] को धधान धान,
बानधर[5] मेरे बान[6] बान सननाटे तें।"

भारत-युद्ध में ये कर्ण के वाक्य हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन आलंबन हैं, उनके द्वारा भीष्मादि के पतन का स्मरण उद्दीपन है। कर्ण के ये वाक्य अनुभाव हैं, और हर्ष, गर्व, औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव[7] हैं। इनके द्वारा यहाँ वीररस की व्यंजना है। यद्यपि यहाँ वीररस, जो व्यंग्यार्थ है, आलंबन विभावादि के ज्ञान के बाद ही ध्वनित होता है, अर्थात् विभावादि का और रस का पौर्वापर्य क्रम है, किंतु रस के आनंदानुभव की अपेक्षा यह क्रम अल्पकालक होने के कारण प्रतीत नहीं होता।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य आठ प्रकार का होता है—(१) रस, (२) भाव, (३) रसाभास, (४) भावाभास, (५) भावशांति, (६) भावोदय, (७) भावसंधि और (८) भावशबलता। अब इनको क्रमशः स्पष्टता की जाती है—

रस

काव्य में रस ही दुर्ज्ञेय और सर्वोपरि चमत्कारक

---

१ ढालों को धारण करनेवाले। २ तलवार। ३ रथ को धारण करनेवाले सारथी—श्रीकृष्ण। ४ रथ। ५ बाणों को धारण करनेवाला अर्थात् अर्जुन। ६ बाण। ७ आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और व्यभिचारियों का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

और रस-भावादि का पौर्वापर्य क्रम भले प्रकार प्रतीत नहीं हो सकता। विभाव, अनुभाव आदि कारणों के वाक्यार्थ का बोध होने के बाद ही रस-भावादि की प्रतीति होती है। अतः कारण-कार्य रूप पौर्वापर्य क्रम तो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में भी रहता है, किंतु अल्पकालिक होने के कारण 'शतपत्र-पत्रभेदन'[1] न्याय के अनुसार लक्ष्य में नहीं आ सकता। इसीलिये इसे 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहा जाता है। यदि इसमें क्रम का सर्वथा ही अभाव होता, तो इसे 'अक्रम व्यंग्य' कहा जाता। 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग का यहाँ यही तात्पर्य है कि क्रम भले प्रकार नहीं जाना जाता है।

"हरि-सुत[2]-धौन हर-धौन[3] हरि[4] दै दै कर,
घरी-घरी घोर धनु-घंट घननाटे तें;
भूरि रथ भूरि भट-भीर भार भूमि-भार,
भूधर भरंगे भिदिपाल भननाटे तें।

---

१ शतपत्र-पत्रभेदन न्याय यह है कि जब शतपत्र (कमल) के सैकड़ों पत्तों को एक के ऊपर एक रखकर उनमें सुई की नोक से छेद किया जाता है, तब यद्यपि उन पत्तों का छेदन एक के बाद दूसरे का क्रमशः ही होता है, पर वह कार्य इतना शीघ्र होता है, जिससे सब पत्तों में सुई एक ही साथ छेद करती हुई-सी मालूम होती है—यह प्रतीत नहीं होता कि उनमें से कौन पहले और कौन पीछे छिद गया है। अतः वह अल्पकालिक क्रम जाना नहीं जा सकता। २ इंद्र का सुत अर्जुन। ३ रथ के घोड़ों के कानों पर। ४ श्रीकृष्ण।

खप्पर खनक हैं न खेटक के खप्पर हों,

खेटकी[1] खिसकि जैहैं खग्ग[2] खनकारे सें।

भूलि जैहैं बानधर[3] बान[4] को चलान बान,

बानधर[5] मेरे पान[6] बान सनकारे सें।"

भारत-युद्ध में ये कर्ण के वाक्य हैं। श्रीकृष्ण और अर्जुन आलंबन हैं, उनके द्वारा भीष्मादि के पतन का स्मरण उद्दीपन है। कर्ण के ये वाक्य अनुभाव हैं, और दर्प, गर्व, औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव[7] हैं। इनके द्वारा यहाँ वीररस की व्यंजना है। यद्यपि यहाँ वीररस, जो व्यंग्यार्थ है, आलंबन विभावादि के ज्ञान के बाद ही ध्वनित होता है, अर्थात् विभावादि का और रस का पौर्वापर्य क्रम है, किंतु रस के आनंदानुभव की अपेक्षा यह क्रम अल्पकालिक होने के कारण प्रतीत नहीं होता।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य आठ प्रकार का होता है—(१) रस, (२) भाव, (३) रसाभास, (४) भावाभास, (५) भावशांति, (६) भावोदय, (७) भावसंधि और (८) भावशबलता। अब इनकी क्रमशः स्पष्टता की जाती है—

रस

काव्य में रस ही दुर्ज्ञेय और सर्वोपरि चमत्कारक

---

१ वाणों को धारण करनेवाले। २ तलवार। ३ रथ को धारण करनेवाले सारथी—श्रीकृष्ण। ४ रथ। ५ वाणों को धारण करनेवाला अर्थात् अर्जुन। ६ हाथ। ७ आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और व्यभिचारियों का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

आस्वादनीय पदार्थ है। रस के स्वरूप का ज्ञान और इस आस्वादन ही काव्य के अध्ययन का सर्वोपरि फल है। इस निष्पत्ति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग होती है। रस संप्रदाय के प्रधान आचार्य श्रीभरत मुनि ने कहा है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

(नाट्यशास्त्र, अ० ६)

इस सूत्र की संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध आचार्यों ने बड़ी विस्तृत और मार्मिक विवेचना की है, और इस विषय में इनका बड़ा मतभेद है। रस की निष्पत्ति जिन विभावादि के संयोग पर इस सूत्र में बतलाई गई है, वे विभावादि क्या हैं, इसकी स्पष्टता आचार्य मम्मट ने इस प्रकार की है—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥"

(काव्यप्रकाश ४।२७-२८)

लोक-व्यवहार में रति आदि चित्तवृत्तियों के या मनोविकारों के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण कहे जाते हैं, वे नाटक और काव्य में रति आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव,

१ इन्हीं भावों की स्पष्टता करने की आवश्यकता।

अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं, और उन विभा-वादिकों द्वारा स्थायी भाव व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है। रस के स्वरूप-ज्ञान के लिये प्रथम विभावादिकों का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

विभाव

विभाव, कारण, निमित्त और हेतु ये पर्याय शब्द हैं—एक ही अर्थ के बोधक हैं[1]। 'रति' आदि जो एक विशेष प्रकार के मनोविकार हैं, और जो काव्य-नाटकों में स्थायी भाव कहे जाते हैं, उन रति आदि स्थायी भावों के उत्पन्न होने के जो कारण होते हैं, उन्हें 'विभाव' कहते हैं। इनको विभाव इसलिये कहते हैं कि इनके द्वारा स्थायी और व्यभिचारी भावों के आश्रित वाणी और अंगाभिनयादि अनेक अर्थों का विभावन होता है, अर्थात् विशेषतया ज्ञान होता है। कहा है—

> "बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
> अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति कथ्यते ।"
>
> (नाट्यशास्त्र, ७ । ६)

निष्कर्ष यह है कि सामाजिकों के हृदय में वासना-रूप में अत्यंत सूक्ष्मता से स्थित रति आदि स्थायी एवं व्यभिचारी भावों को ये विभावन अर्थात् आस्वाद के योग्य बनाते हैं, अतः

---

[1] विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः—भरत नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, पृष्ठ ३४७

रस के उत्पादक (कारण) होने से इनको विभाव कहते
विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलंबन विभाव
(२) उद्दीपन विभाव।

आलंबन विभाव

जिसका आलंबन करके स्थायी भाव (रति आदि म
विकार) उत्पन्न होते हैं, वे आलंबन विभाव हैं। आल
विभाव प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे शृंगार-रस
रति स्थायी भाव के उत्पादक होने से नायक-नायिका आलं
होते हैं।

उद्दीपन विभाव

रति आदि मनोविकारों को जो अतिशय तीव्र करते हैं
बढ़ाते हैं—वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। ये भी प्रत्येक
के भिन्न-भिन्न होते हैं। शृंगार-रस में सुंदर वेष-भूषादि
रचना, पुष्प-वाटिका, एकांत स्थान, सुंदर केलि-कुंज, कोकि
आदि का मधुर आलाप, चन्द्रोदय, शीतल मंद समीर आदि
के बढ़ानेवाले होने से उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं। यद्य
उद्दीपक पदार्थ, स्थायी भाव के उत्पादक कारण नहीं, केवल
उद्दीपक हैं, किन्तु उत्पन्न स्थायी भाव को इनके द्वारा यदि उद्दी
पन न मिले, तो वह अनुत्पन्न के समान ही है। जैसे उत्पन्न
अंकुर को जल न मिलने से व

अनुभाव

विभावों के बाद जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये उत्पन्न हुए स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। "अनुभावयन्ति इति अनुभावाः"। जैसे शृंगार-रस में नायिका आलंबन और चंद्रोदयादि उद्दीपन विभावों द्वारा नायक के हृदय में रति मनोविकार उत्पन्न और उद्दीपन होता है, उसको प्रकट करनेवाले जो कटाक्ष और भ्रूक्षेप एवं हस्तसंचालनादि शारीरिक चेष्टाएँ जब तक न हों, उस अनुराग का उनको परस्पर या समीपस्थ अन्य लोगों को कुछ ज्ञान नहीं हो सकता। कहा है—"अनुभावो भावबोधकः"। इन अनुभावों द्वारा ही रति आदि स्थायी भाव, काव्य में शब्दों द्वारा और नाटक में आलंबन विभावों की चेष्टाओं द्वारा, प्रकट होते हैं। अनुभाव असंख्य हैं। जिस-जिस रस में जो-जो अनुभाव होते हैं, उनका दिग्दर्शन रसों के प्रकरण में कराया जायगा।

सात्त्विक भाव

सत्त्व से उत्पन्न भावों को सात्त्विक कहते हैं। ये आठ प्रकार के होते हैं—(१) स्तंभ, (२) स्वेद, (३) रोमांच, (४) स्वर-भंग, (५) वेपथु (कंप), (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय। इनकी सात्त्विक संज्ञा क्यों है, इसकी विवेचना साहित्याचार्यों ने बहुत कुछ की है। आचार्य

मम्मट ने तो इनका पृथक् नामोल्लेख भी नहीं किया है—संभवतः उन्होंने इन्हें अनुभावों के अंतर्गत माना है।

विश्वनाथ का मत है कि सात्त्विक भाव रस के प्रकाशक होने के कारण—रति आदि के कारण होने से—अनुभाव ही हैं। किंतु गोबलीवर्द न्याय[1] के अनुसार ये पृथक् भी कहे जा सकते हैं[2]। महाराजा भोज कहते हैं कि सत्त्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण से रहित 'मन' है। सत्त्व के योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं[3]। यहाँ यह प्रश्न होता है कि अन्य भाव क्या सत्त्व के बिना ही उत्पन्न होते हैं? भरत मुनि कहते हैं—"हाँ, ऐसा ही है। सत्त्व मनःप्रभव है—समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति है। मन के रोमांच, अश्रु और वैवर्ण्य आदि जो स्वभाव हैं, वे अन्य-मनस्क होने पर उत्पन्न नहीं हो सकते। जैसे रोदनात्मक दुःख और हर्षात्मक सुख, दुःख और सुख के बिना कैसे उत्पन्न हो सकते हैं[4]?" हेमचंद्राचार्य कहते हैं—

---

१ 'जैसे गायें आ गईं, बैल भी आ गया' यद्यपि यहाँ गायें कहने से ही बैल का आना भी मान लिया जाता है, पर गायों की अपेक्षा बैल की प्रधानता सूचन करने के लिए बैल का कथन पृथक् किया जाता है। इसी को गोबलीवर्द न्याय कहते हैं। इसी प्रकार सात्त्विक भाव अनुभाव के अंतर्गत होने पर भी सात्त्विक भावों की प्रधानता सूचन करने के लिये इनको सात्त्विक भाव कहते हैं। २ देखिए, साहित्य-दर्पण, परिच्छेद ३।१३४-१३५। ३ 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। निवृत्तेऽस्य सत्त्वयोगात्प्रभवन्तीति सात्त्विकाः।' सरस्वतीकण्ठाभरण ५।[illegible] ४ देखिए, नाट्यशास्त्र, काव्यमाला-संस्करण पृष्ठ १०७।

"प्राण ही सत्त्व है। उससे उत्पन्न भाव सात्त्विक हैं। प्राण में जब पृथ्वी का भाग प्रधान होता है, तब स्तंभ; जल का भाग प्रधान होता है, तब वाष्प (अश्रु); तेज का भाग तीव्रता से प्रधान होता है, तब स्वेद (पसीना), एवं वह तीव्रता-रहित प्रधान होता है, तब वैवर्ण्य; आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय; और वायु का स्वातंत्र्य होता है, तब उसके मंद, मध्य और उत्कृष्ट आवेश से रोमांच, कंप एवं स्वर-भेद होता है। और शरीर के धर्म जो स्तंभादिक बाह्य अनुभाव हैं, वे इन आंतरिक स्तंभादिक भावों की व्यंजना करते हैं[1]"। इनके लक्षण[2] इस प्रकार हैं—

(१) स्तंभ—यह हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद और रोषादि से उत्पन्न होता है। इसमें निस्संज्ञ, निष्कंप, खड़ा रह जाना, शून्यता और जड़ता आदि अनुभाव होते हैं।

(२) स्वेद (पसीना)—यह क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, उपघात और व्यायाम आदि से उत्पन्न होता है। इसमें पंखा हिलाना, स्वेद का मिटाना और पवन की इच्छा, आदि अनुभाव होते हैं।

(३) रोमांच—यह स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें शरीर का कंटकित होना, पुलकित होना और रोमांचित होना अनुभाव हैं।

---

१ देखिए, काव्यानुशासन, अध्याय २, पृष्ठ १००। २ देखो, नाट्य-शास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, पृष्ठ ३८१-३८२।

(४) स्वर-भंग—यह भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें स्वर का गद्‌गद होना अनुभाव है।

(५) वेपथु (कंप)—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमें कंपादि अनुभाव होते हैं।

(६) वैवर्ण्य—यह शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग और ताप आदि से उत्पन्न होता है। इसमें मुख का वर्ण बदल जाना आदि अनुभाव होते हैं।

(७) अश्रु—यह आनंद, अमर्ष, धुआँ, जँभाई, भय, शोक, अनिमेष-प्रेक्षण (बिना पलक लगाए देखना), शीत और रोगादि से उत्पन्न होता है। इसमें नेत्रों से अश्रुओं का गिरना और उनका पोंछना आदि अनुभाव होते हैं।

(८) प्रलय—यह श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, अभिघात और मोहादि से उत्पन्न होता है। इसमें निश्चेष्ट हो जाना, निष्कंप हो जाना, श्वास का रुक जाना और पृथ्वी पर गिर जाना, आदि अनुभाव होते हैं।

उपर्युक्त स्तंभ में और प्रलय में यह भेद है कि स्तंभ में चेष्टा करने का ज्ञान रहता है, किंतु शरीर जड़ हो जाने के कारण चेष्टा नहीं हो सकती। जैसे—

"पाय कुंज एकांत में भरी अंक ब्रजनाथ;
रोकन को तिय करत, पै रुको करत नहिं हाथ।"

पर प्रलय में चेष्टा करने का ज्ञान नहीं रहता। जैसे—

"है चख-चोट भँचोट मन लखी जुवति बन माहिं ;
खरी विकल कब की परी, सुधि सरीर की नाहिं।"

यहाँ प्रलय सात्त्विक है।

संचारी या व्यभिचारी भाव

चित्त की चिंता आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियों को व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं।

ये स्थायी भाव (रस) के सहकारी कारण हैं। ये सभी रसों में यथासंभव संचार करते हैं, इसी से इनकी संचारी या व्यभिचारी संज्ञा है[1]। ये स्थायी भाव की तरह रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते। अर्थात् ये अवस्था विशेष में उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन पूरा हो जाने पर स्थायी भाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं—

"ये सुरुकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम् ;
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः।"

निष्कर्ष यह है कि ये जल के झाग या बुद्बुदों की तरह प्रकट हो-होकर शीघ्र लुप्त हो जाते हैं; जैसे बिजली की चमक चमककर झट अदृश्य हो जाती है। इनकी संख्या ३३ है।

यह ध्यान देने योग्य है कि संचारी भावों की भी, स्थायी

---

१ 'विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।' नाट्यशास्त्र, गायकवाड़, पृष्ठ ३२६।

भाव और रस के समान, व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनि ही निकलती है, और वही आस्वादनीय होती है। इनका शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाना दोष माना गया है[१]। क्योंकि इनका शब्द द्वारा कथन किए जाने पर ये आस्वादनीय नहीं रह सकते। इनके नाम, लक्षण और उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) निर्वेद—वैराग्य के कारण या इष्ट वस्तु के वियोगादि के या दारिद्र्य, व्याधि, अपमान एवं आक्षेप आदि के कारण अपने को धिक्कारने को निर्वेद कहते हैं। जहाँ वैराग्य से उत्पन्न निर्वेद होता है, वहाँ निर्वेद शांत रस का व्यंजक होकर शांत रस का स्थायी भाव होता है, न कि व्यभिचारी। वैराग्य या तत्त्वज्ञान के बिना जहाँ इष्ट-वियोगादि अन्य उपर्युक्त कारणों से निर्वेद उत्पन्न होता है, वहाँ यह शांत रस से अतिरिक्त अन्य रसों में व्यभिचारी रहता है, क्योंकि जहाँ इष्ट वियोगादि से निर्वेद उत्पन्न होता है, वहाँ शांत रस की व्यंजना नहीं हो सकती। इसमें दीनता, चिंता, अश्रुपात, दीर्घोच्छ्वास एवं विवर्णतादि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुनु री सखी! स्यामसुंदर बिनु बाँटि विषम-विष पीजै।

---

१ इस विषय का विवेचन इसी स्तबक में, रसों के दोष-विवेचन के प्रसंग में, विस्तार किया जायगा।

कै गिरिए गिरि चढ़िके सजनी ! स्वकर सीस सिव दीजै ;
कै दहिए दारुन दावानल जाय जमुन धसि लीजै।
दुसह वियोग विरह माधव के कौन दिनहिं दिन छीजै ;
'सूरदास' प्रीतम बिन राधे सोचि-सोचि मन खीजै।"

यहाँ श्रीव्रजराज के वियोग में श्रीराधिकाजी द्वारा अपने जीवन का तिरस्कार किए जाने से निर्वेद की व्यंजना है। और भी—

कबहूँ नहिं साधी समाधि इकंत न काम कलान की जोति जगी ;
न सुनो भगवंत कथा न तथा रस की बतियाँ मृदु प्रेम-पगी।
सहि कष्ट न जोग की आँच तयो न वियोग की आग हिए सुलगी ;
यह वादि ही वैस वितीत भई गल सेली लगी न नवेली लगी।

यहाँ व्यर्थ जीवन व्यतीत होने से उत्पन्न निर्वेद की व्यंजना है।

(२) ग्लानि—आधि (मानसिक ताप) या व्याधि (शारीरिक कष्ट) के कारण शरीर का वैवर्ण्य (अंगों की शिथिलता) और कार्य में अनुत्साह आदि अनुभावों को उत्पन्न करनेवाले दुःखों को ग्लानि कहते हैं।

उदाहरण—

"सूनी किसलय सयन पै जिमि नव ससि की रेख ;
आयो पिय आदर कियो केवल मधुरहि देख।"

यहाँ विरह-जनित संताप से तापित नायिका द्वारा विदेश से आए हुए पति का केवल मधुर कटाक्ष से सम्मान किए जाने में ग्लानि भाव की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"आवेगों से विपुल-शिथिला शीर्ण-काया कृशांगी,
चिंता-दग्धा व्यथित-हृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा;
आसीना थीं निकट पति के अंबु-नेत्रा यशोदा,
छिन्ना दीना विनत-वदना मोह-मग्ना मलीना।"
(प्रिय-प्रवास)

यहाँ श्रीकृष्ण-वियोग में यशोदाजी की अवस्था के वर्णन में ग्लानि की व्यंजना है।

(३) शंका—मेरा क्या अनिष्ट होनेवाला है? इस प्रकार की चित्तवृत्ति को 'शंका' कहते हैं। इसमें मुख वैवर्ण्य, स्वर-भंग, कंप, ओष्ठ और कंठ का सूखना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"हे मित्र, मेरा मन न-जाने हो रहा क्यों व्यस्त है,
इस समय पल-पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज-समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो;
भगवान मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएँ दलो।"
(जयद्रथ-वध)

महाभारत में संसप्तकगणों के युद्ध से लौटते समय श्रीकृष्ण के प्रति अर्जुन के ये वाक्य हैं। इसमें 'शंका' की व्यंजना है। 'शंका' में भय आदि से उत्पन्न कंप होता है, किंतु चिंता में भय नहीं। जैसे—

---

१ शंका की स्पष्टता में कहा है—"इयं तु भयाद्युत्पादनेन कंपादि-कारिणी, न तु चिंता।" रसगंगाधर, पृष्ठ ८०

"मन है है कहा अरविंद सो आनन इंदु के हाथ हवाले परयो,
इक मीन बिचारो बिंध्यो बनसी पुनि जाल के जाय दुमाले परयो।
'पद्माकर' भावै न भावै यनै जिय कैसो कछूक कसाले परयो,
मन तो मनमोहन के सँग गो, तन लाज-मनोज के पाले परयो।"

यहाँ चिंता है। बस, इन दोनो में यही भेद है।

(४) असूया—दूसरे का सौभाग्य, ऐश्वर्य, विद्या आदि का उत्कर्ष देखने और दूसरे की निंदा आदि के कारण जो उत्पन्न चित्तवृत्ति है, वह असूया है। इसमें अवज्ञा, भ्रुकुटी चढ़ाना, ईर्ष्या के वाक्य कहना और दूसरे के दोषों को प्रकट करना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

अलि! कितव सखे! क्यों पाद छूता हमारे;
विरह-विकलिता हैं, मानिनी हैं न प्यारे।
अनुनय यह तेरा है सुहाता न, जा रे;
प्रिय-प्रणयिनि है जो, तू उसे ही रिझा रे।

भ्रमर के प्रति विरहिणी व्रजांगनाओं के इन वाक्यों में कुब्जा के विषय में असूया की व्यंजना है। और भी—

"क्यों घनस्याम दुती दुचती नक मों तन दीठ करौ सुखदाई,
कज गुलाबहु की अरुनाई लै लाज गुलाबहु ते सरसाई;
नैनन पै अति घोर घनो धन है रँगरेजन की चतुराई,
साँची कहो, इन आँखिन की तुम कीन्हीं कहा नँदलाल, रँगाई।"

नायक के नेत्रों में रात्रि-जागरण के कारण रक्तता देखकर

"आवेगों से विपुल-विपदा जीर्ण-काया कृशांगी,
चिंता-दग्धा व्यथित-हृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा;
आसीना थी निकट पति के अंबु-नेत्रा यशोदा,
खिन्ना दीना विनत-वदना मोह-मग्ना मलीना।"
(प्रिय-प्रवास)

यहाँ श्रीकृष्ण-वियोग में यशोदाजी की अवस्था के वर्णन में ग्लानि को व्यंजना है।

(३) शंका—मेरा क्या अनिष्ट हुनेवाला है? इस प्रकार की चित्तवृत्ति को 'शंका' कहते हैं। इसमें मुख वैवर्ण्य, स्वर-भंग, कंप, ओष्ठ और कंठ का सूखना, आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"हे मित्र, मेरा मन न-जाने हो रहा क्यों व्यस्त है;
इस समय पल-पल में मुझे अपशकुन करता त्रस्त
तुम धर्मराज-समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो;
भगवान मेरे शत्रुओं की सब दुराशाएँ
(

महाभारत में संसप्तकगणों के युद्ध से लौटते
के प्रति अर्जुन के ये वाक्य हैं। इसमें 'शंका'
'शंका' में भय आदि से उत्पन्न कंप होता
भय नहीं। जैसे—

१ शंका की स्पष्टता में कहा है—
कारिणी, ननु चिंता।"

मुख्य कारण होता है, और श्रम में बल होते हुए भी परिश्रम से उत्पन्न थकावट होती है।

(७) आलस्य—श्रम, गर्भ, व्याधि, जागरण आदि से कार्य करने से विमुख होना आलस्य है। इसमें जँभुआई आना, एक ही स्थान पर स्थित रहना आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

पिय सों कथा विदेस की सुनत जगी सब रात;
अबकछु अधिक न कहि सकौं फिर कहि हौं सखि, बात।

यहाँ नायिका के वाक्य में आलस्य की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"नीठि-नीठि उठि बैठिहू प्यौ प्यारी परभात;
दोऊ नींद-भरे खरे गरें लागि गिरि जात।"

यहाँ निद्रांत आलस्य की व्यंजना है।

(८) दैन्य—दुःख, दारिद्र्य, मन के संताप और दुर्गति आदि से उत्पन्न अपने अपकर्ष (दुर्दशा) के वर्णन में दैन्य भाव होता है। जैसे—

नँदनंदन के स्मित-आनन पास लगी रहै कान सदा मर भी;
अधरामृत को रस पान करै मनमोहिन सों न रहै पराभी।
कर जोरि निहोरि कै छोरि कहीं मुरली! सुनु एक यहै मग भी;
दुखमोचन सों यह मेरी दसा कहियो, फिर है जनको मरभी।

यहाँ भगवान् श्रीनंदनंदन के मुँहलगी बंसी से संसार-ताप से संतापित इस दीन की इस प्रार्थना में 'दह' शब्द द्वारा दैन्य की व्यंजना है। और—

कछु शेष रह्यो घर में न, गयो पति साट पै, वृद्ध है मंद भयो,
सुत को नहिं हाल मिल्यो कितसों जब सों वह हाय! विदेस गयो।
ऋतु-पावस पावन हू भयो फूटि जो तेल पोसिन पास लयो;
लखि भारत गर्भिनि पुत्र-वधू दुख सों भरि सास को आयो हियो।

यहाँ दारिद्र्य-दशा-जनित दैन्य की व्यंजना है। इसी प्रकार—

"उदर भरे को जो पै गोत की गुजर होती,
घर की गरीबी माहिं गाफिल गहोती ना;
सांवरे चरन अरविंद अनुरागत हीं,
माँगत हौं दूध, दही, माखन, महौती ना।
पाहू ते कहौ तो और हांतो घनहोतो कहा,
साबुत दिखात कंत! काठ की कठौती ना;
क्षुधा-छीन, दीन बाल-बालिका बसन-हीन,
देखत न होती देव! द्वारिका पठौती ना।"
(रावन कवि का सुदामा-चरित्र)

सुदामाजी की पत्नी के इन वाक्यों में दारिद्र्य-जन्य दैन्य की व्यंजना है।

(६) चिंता—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति या अनिष्ट की प्राप्ति आदि से उत्पन्न चित्तवृत्ति ही चिंता है। संताप, चित्त की शून्यता, दुर्बलता, अधोमुख आदि अनुभावों द्वारा इसका वर्णन होता है। उदाहरण—

कीबो मुसा सुरभित यहां बस्त्र तेरा न दीखे,
पेरे मेरा हृदय तनु भी काम के वाण तीखे।

काटूँ कैसे अब दिवस ये हे प्रिये ! सोच तू मैं ;

छाई सारी दिशि घनघटा देख वर्षा-ऋतु में।

(हिंदी मेघदूत विमर्श)

यहाँ यक्ष द्वारा अपनी वियोग-जनित अवस्था के वर्णन में चिंता की व्यंजना है। और भी—

"दृगन मूँदि मौहन जुरें करतिय राखि कपोल ;

अवधि बिती आए न पिय सोचत भई अबोल।"

प्रोषित पतिका नायिका की इस दशा के वर्णन में चिंता की व्यंजना है।

(१०) मोह—प्रिय-वियोग, भय, व्याधि और शत्रु के प्रतिकार में असमर्थ होने आदि से चित्त का विक्षिप्त हो जाना अर्थात् वस्तु का यथार्थ ज्ञान न रहना ही मोह है। इसका वर्णन चित्त-भ्रम, हतचेतना आदि अनुभावों से होता है।

उदाहरण—

"करती हुई बहु भाँति यों ही भारती करुणामई ;

फिर भी हुई मूर्च्छित अहो ! वह दुःखिनी विधवा नई।

कुछ देर को फिर शोक उसका सो गया मानो वहाँ ,

हतचेत होना भी विरह में लाभदाई है महा।"

(जयद्रथ-वध)

इसमें अपने पति अभिमन्यु के शोक में उत्तरा के हत-चेतन हो जाने में मोह की व्यंजना है। सुख-जन्य भी मोह होता है।[१] जैसे—

१ 'सुखजन्यापि मोहो भवति'—हेमचंद्र का काव्यानुशासन।

"दूलह श्रीरघुवीर बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं;
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं।
राम को रूप निहारत जानकी कंकन के नग की परिछाहीं;
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारत नाहीं।"

यहाँ श्रीरघुनाथजी का प्रतिबिंब अपने कंकण के रत्न में गिरने पर जनकनंदिनी के सुधि भूल जाने में सुख से उत्पन्न मोह की व्यजना है।

(११) स्मृति—सुख एवं दुःख आदि पहले के अनुभव किए हुए विषय का स्मरण ही स्मृति है।

"है विदित, जिसकी कपट से सुरलोक संतापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन का छोर या जिसने छुआ,
उस प्रबल जतुगृह के अनल की बात भी मन से कहीं—
हे तात ! संधि-विचार करते तुम भुला देना नहीं।"
(कविवर श्रीमैथिलीशरण)

दुर्योधन से संधि करने को जाते हुए श्रीकृष्ण के प्रति द्रौपदी के इन वाक्यों में अपमान-जन्य स्मृति की व्यंजना है। और—

हे सरसीरुहलोचनि, मोहि बताओ प्रिये ! क्यों आवतु है चित;
या गिरि-कानन के बहुरंग विहंग कुरंगन सों अति सोभित—
कुंजन के रस-रंजित नीर सुतीर पुदावरि के निकटैं नित ;
मंजुल मंजुल कुंजन में मनरंजन मंजु विहार किए जित।

जनकनंदिनी के प्रति भगवान् श्रीरामचंद्र की इस उक्ति में चित्रकूट-विषयक स्मृति की व्यंजना है।

और भी—

"'केसव' एक समैं हरिराधिका आसन एक लसैं रँगभीने,
आनँद सों तिय-आनन की दुति देखत दर्पन त्यों दृग दीने।
भाल के लाल में बाल बिलोकत ही भर लालन लोचन लीने;
सासन-पीय स-वासन-सीय हुतासन में जनु आसन कीने।"

यहाँ दर्पण देखते हुए श्रीकृष्ण को राधिकाजी के भाल की रक्तमणि में उनका प्रतिबिंब देखकर वस्त्रों-सहित श्रीजानकीजी की अग्नि-परीक्षा के समय अग्नि-प्रवेश के दृश्य का स्मरण हो आने में स्मृति की व्यंजना है। और भी—

"बालम के बिछुरे बड़ी बालके व्याकुलता बिरहा दुख दान सें;
चौपरि आनि रची 'नृपशंभु' सहेलिनी साहबिनी सुखदान सें।
'तू जुग फूटै न मेरी भटू' यह काहू कही सखियाँ सखियान तें;
कंज-से पानि से पासे गिरे, अँसुवा गिरे खंजन-सी अँखियान तें।"

चौपड़ के खेल में सखी के मुख से 'जुग न फूटै' सुनकर वियोगिनी को अपनी वियोग-दशा का स्मरण हो आने में दुःख-जन्य स्मृति भाव है। पहले उदाहरण में सादृश्य वस्तु देखने पर और इसमें श्रवण से स्मृति की व्यंजना है।

(१२) धृति—लोभ, मोह, भय आदि से उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों को दूर करनेवाली चित्त-वृत्ति धृति है। इसमें प्राप्त, अप्राप्त और नष्ट वस्तुओं का शोच न करना आदि अनुभाव होते हैं। यथा—

क्यों संतापित हिय करौं भजि-भजि धनिकन द्वार ।
मो सिर पर राजत सदा प्रभु श्रीनंदकुमार ।

यहाँ चित्त की चंचलता का दूर होना धृति है। और भी—

हो तुम चित्त सों तुष्ट त्यों हम वल्कल चीर सों तुष्ट सदा हैं,
है परितोष समान अबै, कहु तो इहि में तब भेद कहा है।
है जिनको तृसनाकुल चित्त, वही जग मांहि दरिद्र महा है;
जो मन होय संतोषित तो फिर को धनवान दरिद्र यहाँ है।

संतोष होने पर धनवान् और दरिद्री दोनों की समान अवस्था के वर्णन में यहाँ 'धृति' भाव की व्यंजना है।

(१२) व्रीड़ा—स्त्रियों को पुरुष के देखने आदि से और पुरुषों को प्रतिज्ञा-भंग, पराभव एवं निंदित कार्य करने आदि से वैवर्ण्य और अधोमुख आदि करनेवाली लज्जा को व्रीड़ा है। जैसे—

"सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जान भली;
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समुझाय कछू मुसकाय चली।
'तुलसी' तिहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली;
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मनो मंजुल कंज-कली।"

यहाँ श्रीजनकनंदिनी से मार्ग में ग्राम-वधुओं द्वारा श्री-रघुनाथजी के विषय में यह पूछने पर कि 'यह आपके कौन हैं?' श्रीजानकीजी द्वारा नेत्रों की चेष्टा से उनको अपना प्राणनाथ बतलाने में व्रीड़ा की व्यंजना है। और भी—

नँदलाल के नैन तू आज लखे, तबके दिन कोंदि कछू न सुहातु है;
तब सों मन चोर चुको सब ही बरजो जन की ना, कहा मन भातु है।

फिर काहे को नाहक मेरी भटू ! दग-दान के हेत बन्हें तरसातु है ;
सखि, वेगि गयंदहि अंकुस लौं भ्रमातो करिबो कहा जोग कहातु है ।

यहाँ प्रेम-कटाक्ष के दान देने की सखी द्वारा दी गई शिक्षा में नायिका-निष्ठ लज्जा-भाव की व्यंजना है । और—

"मानी न मानवती भयो भोर, सु सोवते सोइ गयो मनभावन ;
तेही ते सास कही दुबही ! भई बार कुमार को जाइ जगावन ।
हाँस मनाइबे को जु गयो छबि, पै न गई हिय का मनभावन ;
चंदमुखी पलका ढिंग जाय लगी पग-नूपुर पाटी बजावन ।"

यहाँ मानिनी नायिका द्वारा नायक को जगाने के लिये पर्यंक की पाटी का नूपुर से बजाने में स्त्री-स्वभाव-सुलभ अपमान की शंका-जनित व्रीड़ा की व्यंजना है ।

(१४) चपलता—मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, द्वेष और अनुराग आदि से चित्त का अस्थिर होना ही चपलता है । यथा—

"कौतुक एक लख्यो हरि ! ह्याँ 'पद्माकर' यों तुम्हैं आहिर को मैं ;
कोऊ बड़े घर की ठकुराइनि ठाढ़ी निहारत है खिरकी मैं ।
झाँकत है कबहूँ झँझरान झरोखन त्यों खिरकी सिरकी मैं ;
झाँकति हो फिरकी मैं फिरै थिरकी-फिरकी खिरकी-खिरकी मैं ।"

यहाँ किसी व्रजांगना की इस चेष्टा के वर्णन में चपलता की व्यंजना है ।

(१५) हर्ष—इष्ट की प्राप्ति, अभीष्ट-जन के समागम आदि से उत्पन्न सुख हर्ष है । इसमें मन की प्रसन्नता, प्रिय भाषण, रोमांच, गद्गद होना और स्वेदादि अनुभाव होते हैं । जैसे—

"मृगनैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल ;
बिन-ही पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल ।"

(बिहारी)

इसमें वाम नेत्र का फरकना प्रिय-आगम-सूचक समझकर, उत्साह से पुराने वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करने में नायिका के अत्यंत हर्ष होने की व्यंजना है।

"नव गयंद रघुबीर-मन, राजु अलान-समान ;
छूटि जानि बन-गमन सुनि उर अनंद अधिकान ।"

(तु० रामायण)

यहाँ वनवास की आज्ञा को सुनकर भगवान् श्रीरामचंद्रजी के मन की अवस्था के वर्णन में हर्ष भाव की व्यंजना है।

(१६) आवेग—भयंकर वृत्तांत एवं प्रिय और अप्रिय बात के सुनने आदि से उत्पन्न चित्त की घबराहट आवेग है। इसमें विस्मय, स्तंभ, स्वेद, शीघ्र-गमन, वैवर्ण्य, कंप आदि अनुभाव होते हैं। जैसे—

"सुनत श्रवन वारिधि-बंधाना, दसमुख बोलि उठा अकुलाना—
बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस,
सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयोधि नदीस ।"

(तु० रामायण)

सेतु बाँधने का समाचार सुनकर रावण के चित्त में व्याकुलता होने में आवेग की व्यंजना है। यह अप्रिय श्रवण-जनित आवेग है। और—

"आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि
सोहत सुहाई सीस ईंडुरी सुपट की।
कहै 'पदमाकर' गँभीर जमुना के तीर
लागी घट भरन नवेली नई अट की।
ताही समै मोहन सु-बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई ओर बंसीबट की;
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,
घट की न औघट की बाट की न घट की।"

यहाँ वंशी की ध्वनि को सुनकर व्रजांगना की दशा के वर्णन में प्रिय-श्रवण-जनित आवेग की व्यंजना है।

(१७) जड़ता—इष्ट तथा अनिष्ट के दर्शन और श्रवण से किंकर्तव्यविमूढ़ होना जड़ता है। इसमें अनिमिष होकर (पलक न लगाकर) देखना और चुप रहना इत्यादि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"कर-सरोज जयमाल सुहाई, विश्व-विजय-सोभा जनु छाई।
तन सँकोच मन परम उछाहू, गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू।
जाइ समीप राम-छवि देखी, रहि जनु कुँवरि चित्र-अवरेखी।"

यहाँ श्रीरघुनाथजी के समीप जयमाला धारण कराने को गई हुई सीताजी की दशा के वर्णन में 'जड़ता' की व्यंजना है—इष्ट-दर्शन-जन्य जड़ता है। अनिष्ट-दर्शन-जन्य जड़ता का उदाहरण—

गर्व भरे आए प्रथम थकित रहे ढिंग वीर;
अनिमिष-दृग देखन लगे वारिधि वानर वीर।

यहाँ सीताजी की खोज में गए हुए वानर वीरों का अगाध समुद्र को देखकर, उसको पार करना दुःसाध्य समझकर उनकी दृष्टि के स्थगित हो जाने में जड़ता की व्यंजना है।

(१८) गर्व—रूप, धन, बल और विद्यादि के कारण उत्पन्न अभिमान ही गर्व है। जहाँ उत्साह-प्रधान गूढ़-गर्व होता है, वहाँ वीर-रस की ध्वनि होती है। इसमें अविनय (नम्रता का अभाव), अवज्ञा आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

मम नैनन नील सरोज गुनैं रु उरोजन कंज-कली अनुमानहिं।
भ्रम बंधुक फूलन के अधरान रु पानन पत्र स-लाज सुजानहिं।
मनि-मोतिन चारु गुही कबरी अलि बंधुन की अवली मन ठानहिं।
मतिमंद मिलिंद के वृंद सखी! दुरवार घनो दुख देत न मानहिं।

रूप-गर्विता नायिका की अपनी सखी के प्रति उक्ति में रूप-जनित गर्व की व्यंजना है। और भी—

"सामान्य माता का न सुत मैं, राजसुत कौन्तेय हूँ।
इस भाव से विधि ने लिखा मैं जन्मसिद्ध अजेय हूँ।
मैं धर्म-निष्ठ सदैव, उस पर अनुगत हैं पातकी।
शंका मुझे फिर धार्तराष्ट्रों से कहो किस बात की!"

(पं० रामसहाय का अज्ञातवास)

विराट में गो-हरण के अवसर पर उत्तरकुमार के प्रति ये अर्जुन के वाक्य हैं। इसमें कुल, बल और धर्म-जनित गर्व की व्यंजना है।

(१६) विषाद—आरंभ किए हुए कार्य की असिद्धि आदि से उत्साह-भंग और अनुताप होना विषाद है। इसमें दीर्घोच्छ्वास, संताप आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण—

"निज शक्ति-भर मैं आपकी सेवा सदा करता रहा,
त्रुटि हो न कोई भी कमी, इस बात से डरता रहा।
सामान्य! मैंने आपका अपराध ऐसा क्या किया,
जो सामने से आपने उसको निकल जाने दिया।
मैं जानता जो पांडवों पर प्रीति ऐसी आपकी,
आतो नहीं तो यह कभी वेला विकट संताप की।"
(जयद्रथ-वध)

शकटाकार व्यूह में अर्जुन के प्रवेश करने पर उत्साह भंग होकर दुर्योधन के द्रोणाचार्य को कहे हुए इन वाक्यों में विषाद की व्यंजना है। और भी—

"ठाढ़े भए कर जोरिकै आगे, अधीन ह्वै पायन सीस नवायो;
केती करी बिनती 'मतिराम' पै मैं न कियो उरतें मन भायो।
देखत ही सिगरी सजनी तुम मेरो तो मान महामद छायो;
रूठि गयो उठि प्रानपियारो, कहा कहिए, तुमहूँ न मनायो।"

कलहांतरिता नायिका की उक्ति में नायक के रूठकर चले जाने पर यहाँ भी विषाद की व्यंजना है। और—

"ऐसेहु बचन कठोर सुनि जो न हृदय बिलगान,
तो प्रभु-बिषम-बियोग-दुख सहिहहिं पाँवर प्रान।"
(तु० रामायण)

श्रीराम-वन-गमन के समय के जानकीजी के इन वाक्यों में विषाद की व्यंजना है।

(२०) औत्सुक्य—अमुक वस्तु का अभी लाभ हो, ऐसी इच्छा होना औत्सुक्य है। इसमें वांछित वस्तु के न मिलने के विलंब का असहन, मन को संताप, शीघ्रता, पसीना और निःश्वास आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

दृग-कंजन अंजन आँजि तथा तन भूषन साजि कहा करि है;
मेंहँदी एक हाथ लगी न लगी रहिबे दे सखी! न कछू डरि है।
अरी! बावरी का नहिं जानत तू, मोहिं देखिबे कौं जु उतावरि है,
ब्रजगोपिन के धन-प्रान वही अब आय रहे मथुरा हरि हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण के दर्शन की अभिलाषा-जन्य औत्सुक्य है।

और भी—

"मानुष हौं तु वही 'रसखान' बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन;
जो पसु हौं तु कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तु वही गिरि को जो कियो ब्रज छत्र पुरंदर धारन;
जो खग हौं तु बसेरो करौं वहि कालिंदी-कूल कदंब की डारन।"

यहाँ ब्रजवास की इच्छा में औत्सुक्य की व्यंजना है।

(२१) निद्रा—परिश्रम आदि बाह्य विषयों से निवृत्त होना निद्रा है। इसमें जँभाई आना, आँख मिचना, उच्छ्वास और अँगड़ाई आदि चेष्टाएँ होती हैं।

उदाहरण—

कब कालिंदी-कूल कदंबन फूल सुगंधित केलि के कुंजन में ;
झकि झूलन के झकझोरन सों बिखरी अलकें कच-पुंजन में ।
कब देखहुगी पिय-अंक में पौढ़त लाडिली को सुख रंजन में ;
कहियो यह हंस ! वहाँ जब तू नँदनंदन कै कर-कंजन में ।

ललिता की हंस के प्रति इस उक्ति में राधिकाजी की निद्रा-वस्था का सूचन है। पुनः—

आयो विदेश तें प्रानपिया, अभिलाष समात नहीं पिय-गात में ;
बीत गईं रतियाँ जगि कै रस की बतियाँ न सिरी बतरात में ।
आनन-कंज पै गंध-प्रलुब्ध लगे करिबे अलि गुंज प्रभात में ;
ताहू पै कंजमुखी न जगी वह सीतल मंद सुगंधित वात में ।

यहाँ रात्रि का जागरण विभाव और मुख पर भ्रमरावली के गुंजन करने पर भी न जगना अनुभाव है, इससे निद्राभाव की व्यंजना है।

(२२) अपस्मार—मानसिक संताप के अत्यंत दुःख से उत्पन्न एक व्याधि को अपस्मार (मृगी रोग) कहते हैं।

उदाहरण—

सुनिकै आए मधुपुरी हरि यदुकुल-अवतंस ;
बढ्यो स्वास भूतल पर्यो अति कंपित ह्वै कंस ।

इसमें कंस राजा की दशा-वर्णन में अपस्मार की व्यंजना है। यह यद्यपि एक रोग है, किंतु प्रायः बीभत्स और भयानक रस में इसे संचारी माना गया है।

वियोग-शृंगार में भी अपस्मार की व्यंजना देखी जाती है। जैसे—

"उघरि परे हैं ओठ पल्लव अधर जैसे,
फैलि रहे सासा मानु वेसक बहरि परी;
'द्विजदेव' कलिका-कपोल फैन फूलि रहे,
अलकावलि भारी भौंर भीर-सी भहरि परी।
चारौं ओर छोर कोर-कोर ब्रजबाल ठाढ़ी,
चित्र की-सी काढ़ी बाढ़ी सोचनि सहरि परी;
अधिक अधीर ताती तीर की समीर लागें,
बनिता लता-सी छीन छिति पै छहरि परी।"

यहाँ शारदीय रासलीला के लिये वंशी की ध्वनि से उत्कंठित होकर आई हुई गोपीजनों को जब श्रीकृष्ण ने घर लौट जाने की आज्ञा दी, उस समय की गोपीजनों की दशा के वर्णन में अपस्मार भाव की व्यंजना है, जो प्रिय-वियोग-जनित है।

(२३) सुप्त—स्वप्न को सुप्त कहा जाता है।

उदाहरण—

सुनु सजनी ! हा ! बिन जानकी के तन-दाहक भे घन ये बन में,
धुनि धीर समीर कदंबन की अलि पीर करें उँमिके उन में।
हरि के दुख सोवत में निकसी निकसी यह बात सपावन में,
सुख्यातुमुता धुनि संकित ह्वै सखी अंक विमोचिके ता छिन में।

इसमें श्रीकृष्ण की स्वप्नावस्था की व्यंजना है।

और भी—

साँचे हौ, मोसौं न झूठ कहौ, बस प्यारो हमारो पिया ! अब आँचर ;
प्रेम तिहारो भली विधि सौं हम जानती, यों करती तु निरादर—
डारत आँखिन सों अँसुआ, हौं लखी वह कंजमुखी पलका पर ;
तेरे बिना निंदिया ! हमैं कौन करावै प्रिया सँग भेट इहाँ पर ।

पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ के अनुसार कहती हुई अपनी मानवती प्रिया को स्वप्न में देखकर किसी प्रवासी का निद्रा के प्रति कथन है । इसमें स्वप्न की व्यंजना है ।

(२४) विबोध—निद्रा दूर होने के बाद या अविद्या के नाश होने के बाद चैतन्य-लाभ होना विबोध है । उदाहरण—

तव प्रसाद सब मोह मिटि भो स्वरूप को भान ,
गत-संशय गोविंद ! अब करि हौं वचन प्रमान ।

यहाँ मोह-जन्य अविद्या के नष्ट होने पर ज्ञान प्राप्त अर्जुन के इस वाक्य में विबोध की व्यंजना है ।

"बिषया पर-नारि निसा तरुनाइ सुपाइ परयो अनुरागहि रे ;
जम के पहरू दुख, रोग, बियोग बिलोकत हू न बिरागहि रे ।
ममता-बस तै सब भूलि गयो, भयो भोर महाभय भागहि रे ,
जरठाइ-दिसा रबि-काल उयो, अजहूँ जड़ जीव ! न जागहि रे ।"

(कवित्त-रामायण)

श्रीगोसाईंजी के इस कथन में विबोध की व्यंजना है ।

(२५) अमर्ष— निंदा, आक्षेप और अपमान आदि से उत्पन्न चित्त का अभिनिवेश ही अमर्ष है । इसमें नेत्रों का रक्त होना,

शिरःकंप, भ्रू-भंग, तर्जन और प्रतिकार के उपाय आदि चेष्टाएँ होती हैं। जैसे—

> "क्रिया-मात्र ताड़का, दीन द्विजराम बिना दल,
> मृग सभीत, मारीच वध सु तिहिं कहाँ कहा बल।
> सप्त ताल जड़ जोनि दुंद सो मृतक देह दपि,
> बाली साखामृग वराक हति गर्व जुतिहिं छपि।
> को जयौ वीर तैं जुद्ध करि, मिथ्या अहमिति बहत मन,
> कोदंड-बान संधान कर, रे काकुत्थ सँभारि रन।"
>
> (बारहट नरहरिजी का अवतार-चरित्र)

भगवान् श्रीरामचंद्र के प्रति रावण का यह तर्जन है। इसमें अमर्ष की व्यंजना है। और भी—

> "खुले केस रजस्वला सभा बीच दुःसासन
> लायो सो पुकार रही सारे सभाचारी को;
> यादि मोको हारयो किधौं आपौ हारयो नृप,
> करन बिचारी यात बिकरन सुधारी को।
> भीम कहै ऐंच्यो चीर तेई भुज ऐंच लैहैं,
> दिखावै है जंघा सो दिखै हौं तोरि वारी को,
> द्रुपद-दुलारी! खुली रहैं कर दैहौं सारी,
> एक नृप-नारी ना अनेक नृप-नारी को।"
>
> (पांडवयशेंदुचंद्रिका)

दुःशासन द्वारा द्रौपदी के चीर-हरण के समय द्रौपदी के प्रति भीमसेन के इन वाक्यों में अमर्ष की व्यंजना है। क्रोध भाव

(जो रौद्र रसका स्थायी है) और अमर्ष भाव में यह भिन्नता है कि क्रोध की कोमलावस्था (पूर्वावस्था) अमर्ष है, और उसकी उत्कट अवस्था क्रोध।

(२६) अवहित्था[1]—लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि भावों का छिपाया जाना अवहित्था है। दूसरे कार्य में संलग्न हो जाना, मुख नीचा कर लेना आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

सुनि नारद की बात तात निकट ह्वै नमित मुख;
. उमा कमल के पात कर उठाय गिनबे लगी।

नारदजी द्वारा भगवान् शंकर के गुण सुनकर जो हर्ष हुआ, उसे पिता के सम्मुख लज्जा के कारण नम्रमुखी होकर पार्वतीजी द्वारा कमल के पत्रों की गणना के बहाने से छिपाए जाने में अवहित्था की व्यंजना है। और भी—

"कँप भए सुन नाम सुन हिमगिरि-गुहन विपच्छ;
कहत सीत अति है तहँ रच्छ यह सुंदर स्वच्छ।"

यह राजा की प्रशंसा है। हिमालय की गुफा में राजा का नाम सुनकर उसके कंपित शत्रुओं द्वारा यह कहकर कि हिमाचल पर बड़ा शीत है, भय छिपाया गया है।

(२७) उग्रता—अपमान आदि से उत्पन्न होनेवाली निर्दयता ही उग्रता कही जाती है। इसमें वध, बंध, भर्त्सन और ताड़न

---

1 'न-वहित्थं चित्तं येन' अर्थात् जिससे चित्त बहिस्थ न हो, उसे अवहित्थ कहते हैं। देखो हेमचंद्रकाव्यानुशासन, पृष्ठ ८०।

आदि अनुभाव होते हैं। अमर्ष और उग्रता में यह भेद है कि अमर्ष निर्दयता रूप नहीं है, और उग्रता निर्दयता रूप है। क्रोध और उग्रता में यह भिन्नता है कि क्रोध स्थायी भाव है, और यह संचारी भाव, अर्थात् जहाँ यह भाव स्थायी रूप से हो वहाँ क्रोध और जहाँ संचारी रूप से हो वहाँ उग्रता कही जाती है[1]।

उदाहरण—

"मातु-पितहि जनि सोच-बस करसि महीप-किसोर,
गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर।"

(तु० रामायण)

यहाँ लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के वाक्य में उग्रता भाव की व्यंजना है। किंतु—

"तब सात रथियों ने वहाँ रत हो महा दुष्कर्म में,
मिलकर किया आरंभ उसको बिद्ध करना मर्म में।
कृप, कर्ण, दुःशासन, सुयोधन, शकुनि सुत-युत द्रोण भी,
उस एक बालक को लगे वे मारने बहुविध सभी।"

(जयद्रथ-वध)

अभिमन्यु पर सात महारथियों का एक साथ प्रहार करने में यहाँ क्रोध स्थायी रूप से होने से रौद्र रस की व्यंजना है। और भी—

"भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥

१ 'क्रोध स्थायित्वाभावस्तु संचारित्वेनैव भेदः।' रसगंगाधर,

जौ सुनि सर अस लागु तुम्हारे। काहे न बोलेहु बचन बिचारे॥
देहु उतर अब करहु कि नाहीं। सत्यसिंधु तुम रघुकुल माहीं॥
साप सराहि कहेहु बर देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धनु तजेउ बचनपन राखा॥"

(तु० रामायण)

यहाँ दशरथजी के प्रति केकयी द्वारा की हुई भर्त्सना में उग्रता की व्यजना है।

(२८) मति—शास्त्रादि के विचार एवं तर्कादि से किसी बात का निर्णय कर लेना ही मति है। इसमें निश्चित वस्तु का संशय-रहित स्वयं अनुष्ठान या उपदेश और संतोष आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"जौ निमि के कुल शासन हू को न निमेष कुपंथनि है पगु धारी;
तापर हौं दिय मेरो सुभाव विचार यहै निहचै ठहरावी।
'द्विजदेव' भावी स्वयंबर मेरे को बीस बिसै इनके रँगराती;
ना तरु साँवरी मूरति राम की मो अँखियान में क्यों गड़ि जाती।"

यहाँ श्रीजनकनंदिनीजी के वाक्यों में 'मति' की व्यंजना है।

इसी प्रकार—

"ब्याल कराल महाविष पावक मत्त गयंदहु के रद तोरे,
सासति संकि चली डरपैहुते किंकर ते करनी मुख मोरे।
नेक बिषाद नहीं प्रहलादहि कारन केहरि के बल होरे,
कौन की त्रास करै 'तुलसी' जोपै राखि हैं राम तौ मारि है को रे।"

भ्रमित होना उन्माद है। इसमें बेमौक़े हँसना, रोना और गाना तथा विचार-शून्य वाक्य कहना आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"आके जूही-निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली—
मेरी बातें तनक न सुनीं पातकी पातकों ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है;
जूही! तू है विकच-वदना, शांति तू ही मुझे दे।"

(प्रियप्रवास)

यहाँ श्रीकृष्ण के वियोग में राधिकाजी के जुही लता के प्रति इस वाक्य में उन्माद की व्यंजना है। और भी—

"साहिबे नंद को मंदिर पै, वृषभानु को भौन, कहा जकती हौ;
हौं ही अकेली रही कवि 'देवजू' घूँघट कै किहिको तकती हौ?
भेटती मोहिं भटू किहिं कारन, कौन-सी धौं छबि सों छकती हौ;
धाइ भयो है, कहा करौ, कैसी हौ, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ?"

श्रीकृष्ण के वियोग में वृषभानु-नंदिनी की इस दशा में 'उन्माद' की व्यंजना है।

(२१) मरण—मरण तो प्रसिद्ध ही है। रौद्रादि रसों में नायक के वीरत्व के लिये शत्रु के मरण का भी वर्णन हो सकता है[1]। शृंगार-रस में साक्षात् मरण की व्यंजना अमांगलिक होने के कारण मरण के प्रथम की अवस्था (अर्थात् वियोग-शृंगार में शरीर-त्याग करने की चेष्टा) का ही वर्णन

---

१ 'किन्तु नायकवीरार्थे शत्रो मरणमुच्यते।' (हरिभक्तिरसामृतसिंधु)

प्रह्लादजी की रक्षा विभाव है । 'जोपै राखि है राम, तो मारि है को रे' अनुभाव है । इनके द्वारा 'मति' की व्यंजना है ।

"सुनतो हो कहा, भग जाहु घरै, बिंध जाओगी मैन के बानन में ;
यह बंसी 'निवाज' भरी विष सों विष-सो भर देत है प्रानन में।
अब ही सुधि भूलि हो मेरी भटू ! बिरमौ जिन मीठी-सी तानन में,
कुल-कान जो आपुनी राखो चहौ, अँगुरी दे रहौ दुहु कानन में।"

मुग्धा नायिका को सखी के इस उपदेश में 'मति' की व्यंजना है । और भी—

आइयो चाहत है यमुना-तट तो सुनु बात कहौं हितकारी,
मंजुल मंजुल कुंजन में सखि ! भूलिहु तू अइयो न वहाँ री ।
जो उतहू कहीं जा निकसै रखियो यह याद कही जु हमारी,
वा मनमोहन की मधुरी मुरली-धुनि तू सुनियो न वहाँ री ।

यहाँ भी किसी गोपांगना को उसकी सखी द्वारा दिए गए उपदेश में 'मति' की व्यंजना है ।

(२९) व्याधि—रोग और वियोग आदि से उत्पन्न मन का संताप ही व्याधि है । इसमें प्रस्वेद, कंप, ताप आदि अनुभाव होते हैं । उदाहरण—

"पवन प्रकट बड़वाग्नि यदि नहि करोज दराय ।
ते अँसुवा पृथिवी परे मतकुमार छिप जाय ।"

वियोगिनी की इस दशा के वर्णन में व्याधि की व्यंजना है ।

(३०) उन्माद—काम, शोक और भय आदि से चित्त का

भ्रमित होना उन्माद है। इसमें बेमौक़े हँसना, रोना और गाना तथा विचार-शून्य वाक्य कहना आदि अनुभाव होते हैं।

उदाहरण—

"आके जूही-निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली—
मेरी बातें तनक न सुनीं पातकी पातकों ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है;
जूही! तू है विकच-वदना, शांति तू ही मुझे दे।"

(प्रियप्रवास)

यहाँ श्रीकृष्ण के वियोग में राधिकाजी के जुही लता के प्रति इस वाक्य में उन्माद की व्यंजना है। और भी—

"लाहिबे नंद को मंदिर में, वृषभानु को भौन, कहा जकती हौ,
हौं ही अकेली तुम्हीं कवि 'देवजू' घूँघट कै किहिको तकती हौ?
भेटती मोहि भटू किहि कारन, कौन-सी धौं छवि सौं छकती हौ,
काह भयो है, कहा कहौ, कैसी हौ, कान्ह कहाँ हैं, कहा बकती हौ!"

श्रीकृष्ण के वियोग में वृषभानु-नंदिनी की इस दशा में 'उन्माद' की व्यंजना है।

(२१) मरण—मरण तो प्रसिद्ध ही है। रौद्रादि रसों में नायक के वीरत्व के लिये शत्रु के मरण का भी वर्णन हो सकता है[१]। शृंगार-रस में साक्षात् मरण की व्यंजना अमांगलिक होने के कारण मरण के प्रथम की अवस्था (अर्थात् वियोग-शृंगार में शरीर-त्याग करने की चेष्टा) का ही वर्णन

१ 'किन्तु नायकवीरार्थं शत्रौ मरणमुच्यते।' (हरिभक्तिरसामृतसिन्धु)

किया जाता है¹। अथवा मरण का वर्णन ऐसे ढंग से ...
जाना चाहिए, जिससे शोक उत्पन्न न होर। उदाहरण—

मलयानिल ! यह सुना गया है तेरी गति रुकती न कहीं।
प्राण-पखेरू उड़ा, साथ ले चल राधा को शीघ्र वहीं।
सब सखियों से कह देना बस सविनय यही वियोग-कथा;
जीवतेश के धाम गई वह सह न अधिक मधु विरह व्यथा।

यहाँ विरहिणी राधिकाजी के मलय-मारुत के प्रति इस कथन में मरण की प्रथम अवस्था के वर्णन में मरण की व्यंजना है।

इसी प्रकार—

"पूछत हौं पछिताने कहा फिरि पीछे ते पावक ही को पिओगे;
काल की ज्वाल में मूरति बाल विलोकि हलाहल ही को छिओगे।
जीजिए प्याय सुधा-मधु प्याय के न्याय नहीं विष-गोली गिलौगे;
पंचनि³ पंच मिले परपंच में बाहि मिले तुम काहि मिलौगे।"

यहाँ भी मरण की पूर्वावस्था के वर्णन में मरण भाव है।

और भी—

वह भागीरथी-सरजू-जल-संगम-तीरथ में तन त्यागन सों,
कर देवन की गिनती में गिनाय समोद सिधाय विमानन सों।

---

1 'श्रृंगाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्'— दशरूपक ४।२१। 2 'मरणचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यं ये... शोकोऽवस्थानमेव न लभते।' नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, पृष्ठ ३०८
3 पंचभूतों में पंचभूत मिल जाने के बाद अर्थात् प्राणांत ...
स

पूरब रूपहु सों अधिकी रमनी सँग मंजु विहारन सों,
नन्दन-नंदन में करिबे जु विलास लह्यो नृप पुन्य प्रभावन सों।

(रघुवंश से अनूदित)

इसमें साक्षात् मरण की व्यंजना होने पर भी महाकवि कालिदास ने महाराजा अज के स्वर्ग-गमन का शृंगार-मिश्रित वर्णन ऐसे ढंग से किया है कि जिससे शोक का आभास भी नहीं होता।

(३२) त्रास—वज्र-निर्घात, उल्का-पात आदि उत्पातों से और अपने से प्रबल का अपराध करने पर उत्पन्न चित्त की व्यग्रता त्रास है। 'त्रास' संचारी और 'भय' स्थायी में यह भेद है कि त्रास में सहसा कंप होता है, किंतु भय पूर्वापर के विचार से उत्पन्न होता है।[1]

उदाहरण—

"चहुँ ओर मरोर सों मेह परै घनघोर-घटा घनी छाइ गई सी,
तरराय परी बिजुरी कितहूँ दसहू दिसि मानहु ज्वाल भई सी।
कवि 'ग्वाल' चमंक अचानक की खख तें ललना मुरझाय गई सी,
थहराइ गई, हहराइ गई, पुलकाय गई, पल न्हाय गई सी।"

यहाँ वज्र-निर्घात-जन्य त्रास की व्यंजना है। और भी—

"भागे मीर-जादे, पीर-जादे औ' अमीर-जादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै,

[1] कहा है—'गात्रोत्कंपी मनः कंपः सहसा त्रास उच्यते। पूर्वापर-विचारोत्थं भयं त्रासात्पृथक् भवेत्।' (हरिभक्तिरसामृतसिंधु)

किया जाता है¹। अथवा मरण का वर्णन ऐसे
जाना चाहिए, जिससे शोक उत्पन्न न होर। ⁻
मलयानिल ! यह सुना गया है तेरी गति रुकती न

माथ-पसेह उड़ा, साथ ले चल राधा
सब सखियों से कह देना बस सविनय यही विन
जीवतेश के धाम गई वह सह न अधिक

यहाँ विरहिणी राधिकाजी के मलय-मारु
में मरण की प्रथम अवस्था के वर्णन में मर
इसी प्रकार—

"पूछत हीं पछिताने कहा फिरि पीछे वे पा
काल की हाल में बूड़ति बाल बिलोकि ह
लीजिए ज्याय सुधा-मधु प्याय कै न्याय न
पंचनि२ पंच मिलै परपंच में वाहि ि
यहाँ भी मरण की पूर्वावस्थ

और भी—

वह भागीरथी-सरजू-जल
कट देवन की गिन

---

१ 'शृंगाराथ'
दशरूपक ४।
शोकोऽवस्था
२ पंचभूतों
जाने के

प्रेम-निकुंज में रोके कहा ललिता सखि वंक-विलोकन बारि कै;
कोपित कैधों विसाखा किए हरि कों समुझावत मैं न विचारि कै।
सोचत यों वृषभान-लली चिर लौं मत कुंज-गली को निहारि कै;
लै कर सों मरकी पटकी भुवि में गज फूल की माल बगारि कै।

यहाँ राधिकाजी की उत्कंठितावस्था में वितर्क की व्यंजना है। किंतु चौथे चरण में जो विषाद व्यंजित होता है वह प्रधान है।

एक मत यह भी है कि वितर्क निर्णयांत होता है, अर्थात् अंत में इसका निश्चय हो जाता है१।

मुख्य संचारी भाव तो ये ही हैं। इनके सिवा और भी चित्तवृत्तियों—भावों—की प्रायः व्यंजना होती है। जैसे मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कंठा और माधुर्य आदि भावों की प्रायः व्यंजना होती है। किंतु ये सभी भाव उक्त ३३ भावों के अंतर्गत मान लिए गए हैं। जैसे मात्सर्य को असूया में, उद्वेग को त्रास में, दंभ को अवहित्थ में, ईर्ष्या को अमर्ष में, क्षमा को धृति में, उत्कंठा को औत्सुक्य में और धार्ष्ट्य को चपलता के अंतर्गत माना गया है। इनके सिवा स्थायी भाव भी अवस्था विशेष में अपने नियत रस से अन्यत्र संचारी हो जाते हैं, जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा।

---

१ 'विनिर्णयान्तदवायंतर्कश्त्यूचिरे परैः' (हरिभक्तिरसामृत-सिंधु, पृष्ठ ११४)

स्थायी भाव

जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहता है, एवं जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते, और जो विभावादि से संबंध होने पर रस-रूप में व्यक्त होता है, उस आनंद के मूल-भूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव नौ हैं—(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय और (९) निर्वेद या शम।

संचारी भाव तो अपने विरोधी[१] या अनुकूल[२] भाव से घटते-बढ़ते एवं उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। किंतु स्थायी भाव विकृत नहीं होते, इसीलिये ये 'स्थायी' कहे जाते हैं। संचारी भाव स्थायी भावों के अनुचर हैं। किंतु इन रति आदि स्थायी और निर्वेद आदि संचारी भावों की रस की परिपक्व अवस्था में ही स्थायी और संचारी संज्ञा है—रस के

---

१ विरोधी भाव दूसरे भाव को इस प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार अग्नि को जल। २ अनुकूल भाव दूसरे भाव को इस प्रकार छिपा या दबा देता है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अन्य प्रकाश को।

बिना ये 'भाव[1]' मात्र हैं। वास्तविक स्थायी भाव के उदाहरण तो रस की परिपक्व अवस्था में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं। किंतु जहाँ स्थायी भाव रस-अवस्था को प्राप्त नहीं होता, वहाँ भी वह भाव तो रहता है, पर उसकी स्थायी संज्ञा न रहकर केवल भाव मात्र रह जाता है। जो उदाहरण नीचे दिए गए हैं, वे रति आदि की भाव अवस्था के ही हैं।

(१) रति—रति का अर्थ है प्रीति, अनुराग या प्रेम। शृंगार-रस का रति स्थायी भाव है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्त्री में पुरुष की और पुरुष में स्त्री की रति ही शृंगार-रस में स्थायी माना जाता है। यद्यपि गुरु, देवता और पुत्रादि में प्रेम होना भी रति है, पर वह रति शृंगार-रस का स्थायी नहीं, उसकी केवल भाव संज्ञा है।

रति-भाव का उदाहरण—

> निकसत ही ससि उदधि सिमि पीरक कछु इक छौरि,
> गंगाधर देखन लगे बिंबाधर-मुख गौरि।

यहाँ श्रीशंकर का पार्वतीजी के मुख की तरफ कुछ ही साभिलाष निरीक्षण हुआ है, और संचारी भावों से इसकी पुष्टि नहीं की गई है, अतः शृंगार-रस का परिपाक नहीं, केवल रति-भाव है।

---

[1] भावों की अधिक स्पष्टता भाव-प्रकरण में की जायगी।

और भी—

"सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिंगारन कों,
गजन लगी है कछु पै सब सवारी कों;
बचन लगी है कछु चाह 'पदमाकर' त्यों,
लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी कों।
मुंदर गुविंद-गुन गवन लगी है कछु,
सुनन लगी है बात साँवरे बिहारी की;
पगन लगी है लगि लगन हिए सों नेकु,
जगनु लगी है कछु पी की प्रानप्यारी की।"

यहाँ नायक में विश्रब्ध नवोढ़ा नायिका की रति भाव मात्र है, शृंगार का परिपाक नहीं।

(२) हास—वचन, अंग आदि की विकृतता देखकर चित्त का विकसित होना हास है। उदाहरण—

"पद मैं तोही में लखी भगति अपूरब बाल;
लहि प्रसाद-माला जु भो तन कदंब की माल।"

प्रेमी द्वारा स्पर्श की हुई माला के धारण करने से नायिका के रोमांचित हो जाने पर नायिका के प्रति सखी के विनोद में 'हास'-भाव की व्यंजना है।

"कबहूँ नहिं कान सुने हमने यह कौतुक मंत्र विचार के हैं;
कहि कैसे भए करि कौने दए सिखए कोउ साधु अपार के हैं।
कवि 'ग्वाल' कपोल तिहारे सखी! दुहूँ ओर में बाग बहार के हैं;
चमकें पे चुनी-सी चुनी इतमें, उतमें पके दाने अनार के हैं।"

नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में हास के अंकुर-मात्र की व्यंजना है, परिपाक नहीं।

(३) शोक—इष्ट जन के एवं विभव के विनाश आदि कारणों से चित्त का व्याकुल होना शोक है। जहाँ स्त्री और पुरुष के पारस्परिक वियोग में जीवित अवस्था का ज्ञान रहते हुए चित्त की व्याकुलता होती है, वहाँ शोक स्थायी नहीं, किंतु विप्रलंभ शृंगार में संचारी हो जाता है।

उदाहरण—

"भीर मैं आरत बैन कह्यो अब टेरत बाँकुरो नाम हिए हरि,
रावन माँझ सभा अपमान कै लात हन्यो गयो मैं धरनी परि।
चाहत रावरे पीछे परो 'लछिराम' न दूसरो देखि परै हरि!
आनन हेरि विभीषन को रघुनाथ के नैन में नीर गए भरि।"

विभीषण की विनय सुनकर रघुनाथजी के नेत्रों में जल आ जाने में शोक अर्थात् करुणा के अंकुर-मात्र की व्यंजना है।

"भौंन को लैके दषिछन समीर धीर,
डोलति है मंद अब तुम धौं किते रहे;
कहै कवि 'श्रीपति' हो प्रबल बसंत,
मतिमंत मेरे कंत के सहायक जिते रहे।
लागत बिरह-जुर जोर तें पवन ह्वैकै,
परे धूमि भूमि पै सम्हारत चिते रहे;
रति को बिलाप देखि करुनाअगार कछु
लोचन को मूँदि कै त्रिलोचन चिते रहे।"

नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में हास के अंकुर-मात्र की व्यंजना है, परिपाक नहीं।

(३) शोक—इष्ट जन के एवं विभव के विनाश आदि *कारणों से चित्त का व्याकुल होना शोक है। जहाँ स्त्री और* पुरुष के पारस्परिक वियोग में जीवित अवस्था का ज्ञान रहते हुए चित्त की व्याकुलता होती है, वहाँ शोक स्थायी नहीं, किंतु विप्रलंभ शृंगार में संचारी हो जाता है।

उदाहरण—

"भीर मैं आरत बैन कह्यो अब टेरत बाँकुरो नाम हिए करि ;
रावन माँझ सभा अपमान के बात हन्यो गयो मैं धरनी परि।
चाहतु रावरे पीछे परो 'लछिराम' न दूसरो देखि परै हरि।
आनन हेरि विभीषन को रघुनाथ के नैन में नीर गए भरि।"

विभीषण की विनय सुनकर रघुनाथजी के नेत्रों में जल आ जाने में शोक अर्थात् करुणा के अंकुर-मात्र की व्यंजना है।

"औरन को लैकै दृच्छिन समीर धीर,
बोलति है मंद अब तुम धौं किते रहे।
कहै कवि 'श्रीपति' हो प्रबल बसंत,
मतिमंत मेरे कंत के सहायक किते रहे।
लागत बिरह-जुर श्रोर तैं पवन ह्वैकै,
परे धूमि भूमि पै सम्हारत जिते रहे।
रति को बिलाप देखि करुनाअगार कछु
लोचन को मूँदि कै त्रिलोचन चिते रहे।"

(५) उत्साह—कार्य करने में आवेश होने को उत्साह कहते हैं। यह धैर्य और शौर्यादि से उत्पन्न होता है।

उदाहरण—

भट-हीन मही मिथिलेस कही,
सो सुनी सहि क्यों निज बंस लजाऊँ;
यह जीरन चाप चढ़ाइबो का,
सिसु-छत्रक ज्यों छिन माँहि तुराऊँ।
भुवि-खंड कहा ब्रह्मंड अखंड
उठाकर कंदुक लौं जु भ्रमाऊँ;
रघुराज को हौं लघु छावरो हू,
प्रभु ! रावरो जो अनुसासन पाऊँ।

यहाँ उत्साह भाव की व्यंजना है। 'रावरो जो अनुसासन पाऊँ' के कारण वीर-रस की अभिव्यक्ति में अपूर्णता है। इसी प्रकार—

"तेरी ही निगाह को निहारते सुरेस सेस,
गिनती कहा है और नृपति बिचारे की;
को हो तिहुँलोकन में राजा दुरजोधन सो,
करतो बिनै ना भ्राम पर्नन तिहारे की।
'बेनी द्विज' रन में पुकारि कहै भीषम यों,
देख तो बहार बीर बानन हमारे की;
छाँह पांडु-दल की ना दिखातो या दुनी में कहूँ,
होती ना पनाह जो पै पीत पटवारे की।"

दुर्योधन के प्रति भीष्मजी के इन वाक्यों में उत्साह-भाव की व्यंजना है। 'होती न पनाह जो पै पीत पटवारे की' से वीर-रस का परिपाक रुक गया है।

(६) भय—सर्प, सिंह आदि हिंसक प्राणियों के देखने पर और प्रबल शत्रु आदि से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता भय है। उदाहरण—

> काली-हृद काली लख्यो वनमाली ढिंग जात;
> मंद-मंद गति भीत ज्यों चलन लग्यो बिलखात।

यहाँ 'भीत ज्यों' के कथन से 'भय' भाव-मात्र की व्यंजना है। इसी प्रकार—

> "निज चित्त में कर सूर्य साखी, द्रौपदी ने यों कहा—
> अतिरिक्त पतियों के कभी कोई न इस मन में रहा।
> भगवान् ! तुम संतुष्ट हो जो जानकर इस मर्म को,
> तो दुष्ट कीचक कर न पावै नष्ट मेरे धर्म को।"
> (अज्ञातवास)

सुदेष्णा द्वारा प्रेषित कीचक के समीप जाती हुई द्रौपदी के इन वाक्यों में 'भय'-भाव की व्यंजना है, भयानक रस नहीं।

(७) जुगुप्सा—घृणित वस्तु को देखने आदि से घृणा उत्पन्न होना जुगुप्सा है।

उदाहरण—

> सूपनखा को रूप लखि स्रवत रुधिर विकराल,
> विष-सुभाव सिय हरि कटुक मुख फेर्यो तिहिं काल।

यहाँ 'कछुक मुख फेर्‌यो' के कारण जुगुप्सा भाव की व्यंजना है।

(८) विस्मय—अलौकिक वस्तु के देखने आदि से आश्चर्य उत्पन्न होना विस्मय है। उदाहरण—

सुर नर सब सचकित रहे पारथ को रन देखि,
पै न गिन्यो यदुनाथ अति करन-पराक्रम पेखि।

यहाँ अर्जुन के रण-कौशल के विषय में विस्मय भाव-मात्र की व्यंजना है। 'पै न गिन्यो' से अद्भुत रस का परिपाक नहीं।

(९) शम अथवा निर्वेद—नित्य और अनित्य वस्तु के विचार से विषयों में वैराग्य उत्पन्न होना 'शम' है।

सबहिं सुलभ नित विषय-सुख क्यों तू करतु प्रयास;
दुर्लभ यह नर-तन समुझि करहु न वृथा बिनास।

वैराग्य का उपदेश होने से यहाँ निर्वेद भाव-मात्र है, शांत रस नहीं। इसी प्रकार—

"महा मोह कंदनि में जगत जिकंदनि में
दिन दुख-दंदनि में जात है बिहाय कै;
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को,
'सेनापति' याही तें कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घर-बार परिवार तजौं,
डारौं लोक-लाज के समाज बिसराय कै;
हरिजन-पुंजनि में बृंदावन-कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर की छाय कै।"

स । जहाँ इष्ट-वियोगादि से ...
स निर्वेद को संचारी संज्ञा है, जैसा कि पहले कह
है।

'रति' आदि भाव शृंगार आदि नौ रसों के स्थायी भाव हैं।
(१) शृंगार का रति, (२) हास्य का हास, (३) करुण
शोक, (४) रौद्र का क्रोध, (५) वीर का उत्साह, (६)
नक का भय, (७) बीभत्स का जुगुप्सा, (८) अद्भुत का
स्मय और (९) शांत रस का निर्वेद। इस प्रकार प्रत्येक
का एक स्थायी भाव नियत है। ये नौ भाव अपने नियत रस में
स्थायी भाव की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं। इनकी अपने-अपने
स में ही अंत तक (रसानुभव होता रहे, तब तक) स्थिति
हती है। यदि अपने नियत रस से अन्यत्र किसी दूसरे रस में
इनमें से कोई भाव उत्पन्न होता है, तो वह वहाँ स्थायी न रहकर
व्यभिचारी हो जाता है। उसकी स्थिति वहाँ स्थायी रूप में
अंत तक अपेक्षित नहीं रहती, वहाँ वह उत्पन्न और विलीन
होता रहता है। जैसे शृंगार-रस का स्थायी भाव रति नियत
है, वहाँ तो वह स्थिर रहता है, किंतु हास-भाव, जो हास्य-रस
का स्थायी है, शृंगार और वीर-रस में उत्पन्न और विलीन
होते रहने के कारण व्यभिचारी हो जाता है। इसी प्रकार
वीर-रस में 'क्रोध'; शांत और भयानक में 'जुगुप्सा'; हास्य,
करुण एवं शांत रस में 'रति'; रौद्र रस में 'उत्साह'; शृंगार-रस

में 'भय'; संचारी हो जाता है। विस्मय अद्भुत के सिवा अन्य सभी रसों में संचारी हो जाता है।—

'रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः;
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः।'

(अलंकार-रत्नाकर)

जब रति आदि भावों का नियत रस में प्रादुर्भाव होता है, तब ये विभावानुभावादि द्वारा रस अवस्था को पहुँच जाते हैं। ऐसी अवस्था में इन स्थायी भावों एवं रसों में कोई भिन्नता नहीं रहती। रसों के जो लक्षण आगे दिखाए जायँगे, वे इन स्थायी भावों के लक्षण भी हैं। इसलिये यहाँ केवल इनकी अपरिपक्व अवस्था के ही उदाहरण दिए गए हैं।

इस विषय में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब रति आदि भाव भी अपने नियत रस से अतिरिक्त रसों में व्यभिचारी हो जाते हैं, फिर इन्हें ही स्थायित्व का महत्त्व क्यों? निर्वेदादि अन्य संचारी भावों को क्यों नहीं? भरत मुनि कहते हैं—"सभी मनुष्यों के हाथ-पैर आदि समान होने पर भी कुल, विद्या और शील आदि के कारण कुछ मनुष्य राजत्व को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार विशेष गुणशाली होने के कारण—रस अवस्था को प्राप्त करने की सामर्थ्य होने के कारण—रति आदि ही स्थायित्व की प्रतिष्ठा के योग्य हैं।"[1]

---

१ देखिए, उद्योत-सहित काव्यप्रदीप, आनंदाश्रम-संस्करण, सन् १९११, पृष्ठ १२६-१२७ और १८३।

स्थायी भावों के अपने नियत रस से अन्यत्र व्यभिचारी हो जाने के विषय में यह बात है कि जैसे किसी विशेष प्रांत के राजा के अन्यत्र जाने पर वहाँ उसकी शासन-शक्ति न रहने पर भी वह अपने प्रांत का राजा बना रहता है, इसी प्रकार स्थायी भावों के अन्यत्र व्यभिचारी हो जाने पर भी वे अपने-अपने रस के स्थायित्व के विशेषाधिकार से च्युत नहीं होते। अस्तु।

स्थायी भावों की रस अवस्था

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से व्यक्त स्थायी भाव ही रस है*। व्यक्त का अर्थ दूसरे रूप में परिणत हो जाना है, जैसे दूध से दही। इसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव (मनोविकार) जो सामाजिकों के अंतःकरण में वासना रूप से पहले से ही स्थित रहते हैं, उनके साथ जब विभावादि का संयोग होता है, तब वे ही रूपांतर होकर रस-रूप में व्यक्त होने लगते हैं। मिट्टी के नवीन पात्र में यद्यपि गंध पहले से ही विद्यमान रहती है, तथापि प्रतीत नहीं होती, किंतु जल के संयोग से व्यक्त होने लगती है। इसी प्रकार सहृदय जनों के हृदय में पूर्वानुभूत (पहले अनुभव किए हुए) रति आदि मनोविकार अव्यक्त रहते हैं, किंतु काव्य के श्रवण या पढ़ने से अथवा नाटक के देखने से उन रति आदि मनोविकारों में विभावादि

---

* 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः' (काव्यप्रकाश, ४।२८)

का (शकुंतला आदि के वर्णन या दृश्य का) संयोग होने से वे रति आदि भाव जाग्रत् हो जाते हैं, और आनंदानुभव होने लगता है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं।

यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को रति आदि स्थायी भावों के क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कारण रूप बतलाए गए हैं, किंतु इनकी यह कारण, कार्य और सहकारी कारण रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीत रस के उद्बोध की प्रथमावस्था में ही होती है—रस के उद्बोध के समय यह पृथक्ता प्रतीत नहीं होती। उस समय विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा (जिसकी स्पष्टता आगे की जायगी) ये तीनों समूह-रूप से रस को व्यक्त करते हैं, अतएव उस समय ये तीनों समूह-रूप से कारण रूप हो जाते हैं—अर्थात् रस के आनंदानुभव के समय ये तीनों अपनी पृथक्ता को छोड़कर, समूह-रूप से संयोग पाकर, स्थायी भाव को, प्रपानक रस की तरह, अखंड एक रस-रूप में परिणत कर देते हैं। जैसे जल में डालने के प्रथम खांड, मिरच, हींग, नमक और खार आदि का स्वाद भिन्न-भिन्न रहता है, किंतु इनके मिलने पर उनका वह भिन्नत्व न रहकर खारे के जल की तरह प्रपानक रस (पिए जानेवाले पदार्थ) का एक विलक्षण आस्वाद हो जाता है। इसी प्रकार विभावादि से मिलकर स्थायी भाव अखंड घन चिन्मय रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। अभिप्राय

यह कि विभावादि के सम्मिलित होने पर ही उनके व्यंजनीय रस की व्यंजना हो सकती है। केवल विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव स्वतंत्र रूप से किसी रस की व्यंजना नहीं कर सकते। क्योंकि, विभाव आदि स्वतंत्र रूप से किसी रस के नियत नहीं हैं। जैसे सिंह आदि हिंसक जीव कायर मनुष्य के लिये भय के कारण होने से, भयानक रस में, आलंबन विभाव होते हैं, किंतु वे ही (सिंहादि) वीर पुरुष के लिये उत्साह और क्रोध के कारण होते हैं। अतः वीर और रौद्र रस के भी ये आलंबन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि प्रिय-वियोग में होते हैं, अतः ये विप्रलंभ-शृंगार के अनुभाव हैं। भय और शोक में भी अश्रुपात होते हैं, अतएव भयानक एवं करुण-रस के भी ये अनुभाव हैं। चिंता आदि मनोभाव प्रिय-वियोग में होने के कारण विप्रलंभ-शृंगार के संचारी हैं। भय और शोक में भी चिंता आदि भाव होते हैं, अतएव भयानक और करुण के भी ये संचारी हैं। इससे स्पष्ट है कि विभावादि पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रहकर किसी विशेष रस के व्यंजक नहीं हो सकते। जो विभाव, अनुभाव और संचारी एक साथ जिस विशेष रस के होते हैं, वे ज्यों-के-त्यों मिले हुए किसी भी दूसरे रस में नहीं हो सकते। निष्कर्ष यह कि विभावादि तीनों के समूह से ही रस की अभिव्यक्ति होती है।

कहीं-कहीं अनुभाव और संचारी के बिना केवल विभाव

कहीं विभाव और संचारी के बिना केवल अनुभाव, और कहीं विभाव और अनुभाव के बिना केवल संचारी ही दृष्टिगत होते हैं, और वहाँ भी रस की व्यंजना होती है। इस अवस्था में यह प्रश्न होता है कि विभावादि तीनों के सम्मिलित होने से ही रस की अभिव्यक्ति क्यों कही जाती है? बात यह है कि जहाँ केवल विभाव, अनुभाव या संचारी ही होते हैं, वहाँ भी रस की व्यंजना तो विभावादि तीनों के सम्मेलन द्वारा ही होती है। विभावादि में से जिस एक भाव की स्थिति होती है, वह व्यंजनीय रस का असाधारण संबंधी होता है, और वह दूसरे किसी रस की व्यंजना नहीं होने देता। और, उस एक भाव से अन्य दो भावों का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वह एक ही भाव अपने व्यंजनीय रस के अनुकूल अन्य दो भावों का बोध करा देता है।

केवल विभाव के वर्णन का उदाहरण—

नभ में घनघोर ये स्याम घटा अति ओर-भरी घहरान लगी,
पिक, चातक, मोरन की धुनिहू चहुँओरन धूम मचान लगी,
मलयानिल सीतल मंद अबौं! मदनानल को धधकान लगी,
निरखै किन पीतम पायँ परी! रहि है कबलौं अब मान-पगी!

ये मानिनी नायिका के प्रति सखी के वाक्य हैं। यहाँ यद्यपि 'नायिका' आलंबन-विभाव और 'वर्षा काल' उद्दीपन विभाव है, अनुभाव तथा संचारी भाव नहीं हैं, पर 'मानिनी नायिका' विप्रलंभ-शृंगार का असाधारण आलंबन-विभाव

आलंबन और उद्दीपन विभाव ... चिंता आदि संचारी भाव
... होना आदि अनुभाव और चिंता आदि संचारी भाव
आवश्यक प्रतीत हो जाते हैं। क्योंकि वर्षाकालिक
उद्दीपक विभावों द्वारा वियोगावस्था में चिंता आदि मनो-
का और विवर्णता आदि चेष्टाओं का होना अवश्यंभावी
। अतएव विभावादि तीनों के समूह से यहाँ विप्रलंभ-शृंगार-
की अभिव्यक्ति है।

केवल अनुभाव के वर्णन का उदाहरण—

कर-मर्दित मंजु मृनालिनि ज्यौं दुति अंगन की मुरझाय रही,
सखियान ही के समुझावन सौं कछु काम में चित्त लगाय रही।
नव-खंडित द्विरद-दसन[1]-सी। त्यौं कपोलन पीतता छाय रही,
निकलंक मयंक[2]-कला-छवि की समता तनुता तन पाय रही।

यह मालती की विरहावस्था का वर्णन है। यहाँ अंगों का मुरझाना, म्लानित होना, कपाल पीत हो जाना आदि वियोगावस्था के अनुभाव हैं—आलंबन, उद्दीपन तथा संचारी भाव नहीं हैं। उक्त अनुभावों के बल से 'वियोगिनी नायिका' आलंबन विभाव का और चिंता आदि संचारी भावों का आक्षेप हो जाता है। क्योंकि अंगों का मुरझाना आदि चेष्टाएँ (जो कि अनुभाव हैं) वियोग-दशा में चिंता आदि से ही उत्पन्न

1 तुरत के कटे हुए हाथी के दाँत के समान। 2 चंद्रमा।

होती हैं, अतः इन अनुभावों द्वारा उनका बोध हो जाता है। अतएव यहाँ विभावादि तीनों के समूह से वियोग-शृंगार-रस की अभिव्यक्ति है।

केवल व्यभिचारी भावों के वर्णन का उदाहरण—

दूर दिखराए उतकंठ सों भराए घने,
 आवत ही नेरे फेर वैसे सतराए हैं;
बोलें विकसाए, अरसाए हैं सुगात गात,
 खैंचत दुकूल भौंह साथ कुटिलाए हैं।
विनै सों मनाए तो हू क्यों हूँ सकुचाए नाहिं,
 चरन निपात भए आँसुन भराए हैं;
पीतम हताश ह्वै कै जात फिरि आवत ही,
 मानिनी के दगन अनेक भाव छाए हैं।

मानिनी नायिका को मानमोचनोपाय से प्रसन्न करने में निराश होकर जाता हुआ नायक जब लौटकर आया, उस समय नायिका के अनेक भाव-गर्भित नेत्रों का यह वर्णन है। मानिनी नायिका को प्रसन्न करने में हताश होकर जाते हुए नायक के दूर रहने तक नायिका के नेत्र इस शंका से कि 'वह यहाँ आता है या चला ही जाता है' उत्सुक हुए; उसके लौटकर समीप आने पर इस लज्जा से कि 'यह मेरी उत्सुकता को जान गया' वे टेढ़े बन गए; जब वह संभाषण करने लगा, तब उसकी अपूर्व बातें सुनकर हर्ष से वे विकसित अर्थात् प्रफुल्लित दिखाई पड़ने लगे; जब वह आलिंगन करने लगा,

प्रमर्ष से कि 'मुझे प्रसन्न किए बिना ही स्पर्श करना
' क्रोध से रक्त हो गए; जब नायिका क्रुद्ध होकर
।, तब अपने वस्त्र को पकड़ता हुआ उसे देखकर
ो भौंहों के साथ वे भी टढ़े हो गए; आखिर जब
के पैरों पर गिर पड़ा, तब इस भाव से कि 'तुम्हारे
ाणों से मैं तंग हो गई हूँ' आँसू गिरने लगे। यहाँ
सुकता, लज्जा, हर्ष, क्रोध, असूया और प्रसाद
: भाव ही हैं। विभाव अनुभाव नहीं हैं।
ारियों द्वारा ही संभोग-शृंगार के विभाव, अनु-
प्रतीति हो जाती है, और इन सबके समूह से
ार व्यक्त होता है।
ार जहाँ स्पष्ट रूप में, केवल विभाव, अनुभाव या
होता है, वहाँ उपर्युक्त रीति से अन्य दो भावों
होकर तीनों के समूह से ही रस की व्यक्ति हुआ

रस का आस्वाद

दि मनोविकार (स्थायी भाव) नायक-नायिकादि
ाभावों में उत्पन्न होते हैं और विभावादि के संयोग

यहाँ 'नायक' आलंबन-विभाव का वर्णन तो है, पर
होने से संभोग-शृंगार का उसे आलंबन-विभाव नहीं
ता।

से रस रूप हो जाते हैं। अतः नायक-नायिकादि को ही रसानंदानुभव होना चाहिए। काव्य और नाटकों में जिन पूर्वकालीन दुष्यंत-शकुंतलादि के चरित्र का वर्णन या अभिनय होता है, वे सामाजिकों[1] के प्रत्यक्ष नहीं रहते, और न उनसे सामाजिकों का कुछ संबंध ही रहता है। ऐसी अवस्था में दुष्यंत आदि की रति का आनंद, अर्थात् रस का आस्वाद, सामाजिकों को किस प्रकार हो सकता है? इस विषय का साहित्याचार्यों ने बहुत गवेषणा-पूर्ण विवेचन किया है। इस विषय में भरत मुनि के—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

सूत्र को आधारभूत मानकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् मत का प्रतिपादन किया है।

भरत-सूत्र के प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट का कहना है कि दुष्यंत-शकुंतला के अभिनय में दुष्यंत और शकुंतला के प्रेम (रति आदि मनोविकारों) का जो आनंदानुभव सामाजिकों को होता है, वह वास्तव में दुष्यंत आदि में ही उद्भूत हुआ था (अर्थात् उसका वास्तविक आनंद उन्हें ही हुआ था), न कि नाट्य पात्रों में। परंतु सामाजिक नाट्य पात्रों में उनका (दुष्यंत आदि का) आरोप कर लेते हैं—दुष्यंत आदि और

---

[1] काव्य के पाठक एवं श्रोता तथा नाटक के दर्शक ही सामाजिक कहे जाते हैं।

नाट्य पात्रों में भिन्नता का अनुभव करते हुए (अर्थात् पात्रों को वास्तव में दुष्यंत आदि न समझते हुए) नाट्य पात्रों में दुष्यंत आदि का आरोप[1] कर लेते हैं और रसानुभव करने लगते हैं।

श्रीशंकुक, जो द्वितीय व्याख्याकार हैं, इस कल्पना को भ्रम-मूलक बताते हैं। उनका कहना है कि सामाजिक नाट्य पात्रों में दुष्यंत आदि का अनुमान करते हैं, न कि आरोप। अर्थात् नाट्य पात्रों में और दुष्यंत आदि में अभिन्नता का अनुभव करते हुए नाट्य पात्रों में ही दुष्यंत आदि का अनुमान कर लेते हैं। और, यह अनुमिति-ज्ञान सामाजिकों को रस का आस्वादन कराता है।

अपने इस मत के प्रतिपादन में श्रीशंकुक कहते हैं—

(१) जिनमें रति आदि मनोविकार होंगे, उन्हें ही रस का आस्वादन होगा। दुष्यंत-शकुंतला आदि में उद्भूत रति आदि स्थायी भावों का दर्शकों को कैसे आस्वाद हो सकता है? दुष्यंत-शकुंतला का ज्ञान ही सामाजिकों को रस का आस्वादन कराता है, यह कहना युक्ति-युक्त नहीं। क्योंकि यदि दुष्यंत आदि के ज्ञान-मात्र से ही रस का अनुभव होने लगे तो उनके नामोच्चारण से ही रस का आस्वाद होना चाहिए—

---

[1] किसी दूसरी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्म की बुद्धि कर लेने को आरोप कहते हैं। जैसे नट के दुष्यंत न होने पर भी उसे दुष्यंत समझ लेना।

सुख का नाम लेने से ही सुख होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता।

(२) संसार में जो चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं[1], उनके अतिरिक्त एक और भी ज्ञान होता है। जैसे किसी वस्तु के चित्र को देखकर उस वस्तु का अनुमान करना—जैसे घोड़े के चित्र को देखकर 'यह घोड़ा है' यह ज्ञान होना। इसी चित्र-तुरग-न्याय[2] से उपर्युक्त अनुमान होता है।

(३) नट शिक्षा और अभ्यास द्वारा अनुकरणीय[3] चेष्टाओं में निपुण होता है, अतः अभिनय के समय उसे स्वयं यह ध्यान नहीं रहता कि 'मैं किसी का अनुकरण कर रहा हूँ'। उस समय वह अपने को दुष्यंतादि ही समझने लगता है। और, उनकी सारी अवस्थाएँ अपने में उनके समान ही अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नाट्य-कला के अभ्यास और—

---

१ क—सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान—जैसे देवदत्त को देवदत्त समझना।

ख—मिथ्या ज्ञान—जैसे जो देवदत्त नहीं है, उसको देवदत्त समझ लेना।

ग—संशय ज्ञान—जैसे यह देवदत्त है या नहीं ?

घ—सादृश्य ज्ञान—जैसे यह देवदत्त के समान है।

२ चित्र में लिखे घोड़े को देखकर उसको 'यह घोड़ा है' ऐसा ही सब कहते हैं, न कि यह घोड़े-जैसा है। ३ दुष्यंतादि की चेष्टाओं की नकल करने में।

"दृग चौंकत कोप चले चहुँधा अँग बारहि बार लगावत तू,
अलि कानन गूँजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू।
कर रोकति को अधरामृत लै रति को सुखसार उठावत तू,
हम खोजत जाति ही पाँति मरे धनि रे धनि भौंर कहावत तू।"

(राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतला अनुवाद)

इत्यादि काव्य के अनुसंधान से यह विभावादिकों को प्रकट करता है, जिससे नट की चेष्टाएँ कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम प्रतीत नहीं होतीं। अतः सामाजिक दुष्यंतादि को रति आदि भावों का अनुमान करने लगते हैं। यद्यपि वे रति आदि का दुष्यंतादि के ज्ञान से ही अनुमान करते हैं, परंतु रति आदि स्थायी भावों के चमत्कार के प्रभाव से, वस्तुतः सामाजिकों में रति आदि स्थायी न होने पर भी, उनको रस का आस्वादानुभव होने लगता है। इसी प्रकार नट भी यद्यपि दूसरों का ही अनुकरण करते हैं, परंतु शिक्षा और अभ्यास के प्रभाव से वे भी अनुकृति के समय 'हम किसी का अनुकरण कर रहे हैं' ऐसा अनुसंधान नहीं रखते। अतएव उनको भी रसास्वाद होने लगता है।

तीसरे व्याख्याता भट्ट नायक श्रीशंकुक के मत का भी खंडन करते हैं। उनका कहना है कि अनुमान ज्ञान की कल्पना सर्वथा निस्सार है। एक व्यक्ति में उद्बुद्ध रस का अन्य व्यक्ति अनुमान से आस्वादन नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान से ही आस्वादन कर सकता है। रसास्वाद भी प्रत्यक्ष ज्ञान से ही

होता है। रस का न तो नाटय पात्रों में अनुमान होता है, और न यह अनुमान से सामाजिकों को अपने में स्थित हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में सामाजिकों को भोगात्मक रसास्वाद होता है। वे अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि काव्य की क्रियायें रस के उद्बोध का कारण हैं। काव्य शब्दात्मक है। शब्द के तीन व्यापार हैं—अभिधा, भावना और भोग—

'अभिधा' द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है।

'भावना' का व्यापार है साधारणीकरण। इस व्यापार द्वारा किसी विशेष व्यक्ति में उद्भूत रति आदि स्थायी भाव, व्यक्तिगत संबंध छोड़कर, सामान्य रूप में प्रतीत होने लगते हैं। जैसे दुष्यंत-शकुंतलादि के प्रेम से उनका (दुष्यंत-शकुंतलादि का) व्यक्तिगत संबंध न रहकर सामान्य दांपत्य प्रेम की प्रतीति होना।

'भोग' व्यापार द्वारा, भावना के महत्त्व से, साधारणी-कृत विभावादि से सामाजिकों को रसास्वाद होने लगता है। भोग का अर्थ है—'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानंदसंविद्विश्रांतिः'। अर्थात् सत्त्व-गुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाश रूप आनंद का ज्ञान[1]—आनंद

---

[1] सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के उद्रेक (प्राधान्य) से क्रमशः सुख, दुःख और मोह प्रकाशित होते हैं। उद्रेक (या प्राधान्य) का अर्थ है अपने भिन्न दो गुणों का तिरस्कार करके अपना प्रादुर्भाव करना। सत्त्वोद्रेक का अर्थ रजोगुण, तमोगुण को दबाकर

का अनुभव। और यह आनंदानुभव वेद्यांतरसंपर्क-शून्य (अन्य संबंधी ज्ञान से रहित) है, अतएव लौकिक सुखानुभव से विलक्षण है, और भोग-व्यापार द्वारा इसका आस्वाद होता है।

भट्ट नायक के मत का निष्कर्ष यह है कि काव्य-नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ में आता है, फिर उसकी भावना अर्थात् चिंतन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह नहीं समझ पाते कि काव्य-नाटकों में जो श्रवण और दृष्टिगत होता है, वह किसी दूसरे से संबंध रखता है या हमारा ही है। इसके बाद सत्त्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और आत्मचैतन्य से प्रकाशित¹ और साधारणीकृत (साधारण रूप में

सत्त्वगुण का प्रकाश होना है। सत्त्वोद्रेक का स्वभाव आनंद का प्रकाश करना है। और उस आनंद का अनुभव 'भोग' है।

१ 'आत्मचैतन्य से प्रकाशित' कहने का भाव यह है कि आत्मा और अंतःकरण दो दर्पण रूप हैं। इनमें आत्मा रूप दर्पण चैतन्यमय आनंद-स्वरूप सर्वदा स्वच्छ है, और अंतःकरण रूप दर्पण रजोगुण एवं तमोगुण के आवरण से मलिन रहता है। सत्त्वोद्रेक से, रजोगुण, तमोगुण दब जाने से, वह (अंतःकरण रूप दर्पण) भी स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ अंतःकरण रूप दर्पण में जब आत्म-चैतन्य आनंद-स्वरूप दर्पण का प्रतिबिंब (या प्रकाश अंश) पड़ता है, तो वह भी आनंद-स्वरूप हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में अभिमुख वस्तु के प्रतिबिंब के पड़ने से उसका (दर्पण का) तदाकार हो जाना प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

उपस्थित) रति आदि स्थायी भावों का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है।

अभिनव गुप्ताचार्य और आचार्य मम्मट, भट्ट नायक के मत को भी निराधार बतलाते हैं। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि का व्यंग्य-व्यंजक (प्रकाश्य और प्रकाशक) संबंध है, अर्थात् सामाजिकों के अंतःकरण में जो रति आदि मनोविकार पहले से ही वासना[1] रूप में स्थित रहते हैं, वे विभावादि के संयोग से व्यंजना-वृत्ति के अलौकिक विभावन व्यापार अर्थात् साधारणीकरण द्वारा जाग्रत् हो जाते हैं, यही रसास्वाद है।

ये महानुभाव भी भट्ट नायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को मानते हैं, किंतु इनका मत है कि भावना और भोग को शब्द का व्यापार मानना निर्मूल कल्पना है। क्योंकि केवल शब्दों द्वारा न तो भावना ही हो सकती है और न भोग ही[2]। वास्तव में भावना और भोग की सिद्धि व्यंजना द्वारा व्यंजित होकर ही हो सकती है, अर्थात् ये भी अन्ततः व्यंजना

---

१ पहले किसी समय अपनी रति (प्रेम-व्यापार) आदि के आनंद का जो अनुभव होता है, और उसका जो अन्तःकरण में एक संस्कार हो जाता है, उसी संस्कार को वासना कहते हैं। २ 'न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्' ... 'भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते' (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ७०)

पर ही अवलंबित है१। निष्कर्ष यह कि साधारणीकरण भावना का व्यापार नहीं, किंतु व्यंजना का विभावन व्यापार है। साधारणीकरण के प्रभाव से सहृदय सामाजिक२ विभावादिकों को 'ये मेरे ही हैं' या 'ये दूसरे के हैं' अथवा 'ये मेरे नहीं हैं' या 'ये दूसरे के नहीं हैं' इस प्रकार के किसी विशेष संबंध का अनुभव नहीं करते। अर्थात् अपने को और काव्य-नाटकों के दुष्यंत-शकुंतलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं, उनको 'मैं दुष्यंत-शकुंतला के प्रेम-व्यापार का दृश्य देख रहा हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं रहता, और न यही ज्ञान रहता है कि 'मैं अपने प्रेम-व्यापार का आनंदानुभव कर रहा हूँ'। किंतु सामाजिक काव्य-नाटकों के विभावों के प्रेम-व्यापार का आनंदानुभव अभिन्नता से करते हैं। क्योंकि यदि यह कल्पना की जाय कि सामाजिकों को काव्य-नाटकों के दुष्यंतादि विभावों में केवल अपने ही प्रेम-व्यापार आदि की प्रतीति

---

१ व्यंग्यायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति।......भोग-कृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत् (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ७०)

२ अभिनव गुप्ताचार्य और मम्मट के मतानुसार 'सामाजिक' काव्य-नाटकों के ऐसे श्रोता और दर्शक होते हैं, जो नायक-नायिका की चेष्टा आदि से उनकी पारस्परिक रति आदि का अनुभव करने में सुदक्ष हों, जिनको तत्काल ही उनकी रति आदि का अनुभव

होती है तो वैसा होने में लज्जा और पापाचरण[1] आदि दोष आते हैं, और यदि यह कल्पना की जाय कि उनको (सामाजिकों को) दुष्यंतादि के प्रेम-व्यापार का ही आनंदानुभव होता है तो प्रथम तो साक्षात् संबंध न होने के कारण अन्यदीय प्रेम-व्यापार का अन्य व्यक्ति को आनंदानुभव हो ही नहीं सकता, फिर अन्यदीय रहस्य-दर्शन लज्जास्पद और निंद्य है—ऐसी दशा में काव्य-नाटकों द्वारा आनंदानुभव कहाँ ? अतएव रस के व्यक्त करनेवाले जो विभावादि हैं, उनमें रस प्रकट करने की शक्ति व्यक्तिगत विशेष संबंध हटाकर रसास्वाद करानेवाला साधारणीकरण ही है । फलतः साधारणीकरण का महत्त्व तो अभिनव गुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य को भी मान्य है। किंतु ये उसे भावना का व्यापार न मानकर व्यंजना का व्यापार बतलाते हैं, अर्थात् जैसे मिट्टी के नवीन पात्र में गंध पहले से रहती है, पर वह अव्यक्त (अप्रकट) रहती है, प्रतीत नहीं होती, किंतु जल का संयोग होते ही वह तत्काल व्यक्त (प्रकट) हो जाती है । इसी प्रकार सामाजिकों के अंतः-करण में रति आदि की वासना पहले से ही अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है। वह काव्य-नाटकों में व्यंजना के अलौकिक व्यापार साधारणीकरण के प्रभाव द्वारा, अर्थात् साधारण रूप में उपस्थित विभावादि व्यंजकों द्वारा, अभिव्यक्त (जाग्रत्)

१ शकुंतला आदि सम्मान्य व्यक्तियों के साथ अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करना पापाचरण है ।

हो जाती है, और वासना का जाग्रत् होना ही रसास्वाद है।

रस अलौकिक है

दुष्यंत-शकुंतलादि आलंबन विभाव, चंद्रोदयादि उद्दीपन विभाव, कटाक्षादि अनुभाव एवं व्रीडा आदि संचारी यद्यपि लौकिक हैं, तथापि काव्यनाटकांतर्गत होने से उनमें विभावन आदि अलौकिक व्यापार का समावेश हो जाता है। इस अलौकिक व्यापार के कारण ही विभावादिकों को अलौकिक कहते हैं। जब विभावादि अलौकिक हैं, तो उनके द्वारा व्यक्त रस भी अलौकिक होना चाहिए, क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। फिर शृंगारादि लौकिक रस उनके द्वारा किस प्रकार व्यक्त होते हैं ? वास्तव में रस का चमत्कार अलौकिक ही है। क्योंकि—

(१) शकुंतला आदि के विषय में दुष्यंत आदि के हृदय में जो रति उत्पन्न हुई, वह साधारण दांपत्य रति थी—उसमें कोई विशेषता या विलक्षणता न होने से वह लौकिक अवश्य थी। यदि काव्य-नाटकों में दुष्यंत-शकुंतलादि की रति को भी लौकिक मान लें तो वह अन्यदीय होने के कारण एवं पर-रहस्य-दर्शन लज्जास्पद होने के कारण, रसास्वाद के अयोग्य हो जायगी। वास्तव में काव्य-नाटकों में दुष्यंत-शकुंतलादि की रति विभावन के अलौकिक व्यापार द्वारा अपने पराये के भेद से रहित होने के कारण लज्जास्पद न रहकर रस का आस्वाद कराती है। अतएव रस अलौकिक है।

२) दुष्यत-शकुंतला आदि में जो रति उत्पन्न हुई, उसका
ा दुष्यत-शकुंतलादि तक ही परिमित था। किंतु काव्य-
ों में विभावादि द्वारा प्रदर्शित रति-स्थायी भाव, जो रस-
ं व्यक्त होता है, वह दुष्यंतादि में व्यक्तिगत न रहकर अनेक
और द्रष्टाओं के द्वारा एक ही साथ समान रूप से
ादित होता है। अतः वह अपरिमित होने के कारण
ार है।

३) लौकिक पदार्थ या तो ज्ञाप्य१ होते हैं या कार्य-रूप।
ाप्य नहीं। घट-पट आदि लौकिक पदार्थ अपने ज्ञापक—
ादि—से ढके जाने पर प्रतीत नहीं हो सकते, पर रस अपनी
में कभी व्यभिचरित२ नहीं होता। और न रस कार्य
ी है।

न के स्पर्श का ज्ञान जिस क्षण में होता है, उस क्षण में
के स्पर्श से उत्पन्न सुख का ज्ञान नहीं हो सकता।
ा कार्य और कारण का ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता।
ार विभावादिकों को कारण और रस को कार्य माना
ो रस की प्रतीति के समय विभावादि की प्रतीति न

जिस वस्तु का ज्ञान [illegible] दूसरी [illegible] होता है, [illegible]
कहते हैं। [illegible]

[illegible] कहते हैं। [illegible]

काल में नहीं होता। अर्थात् रस की विभावादि के ज्ञान के पूर्व स्थिति नहीं होती। अतएव रस अलौकिक है।

(५) लौकिक पदार्थ भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान होते हैं। रस न तो भविष्य में होनेवाला है, और न भूतकालीन ही। यदि ऐसा होता तो उसका साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कल होनेवाली वस्तु का या जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज नहीं हो सकता; और न 'रस' को वर्तमान ही कह सकते, क्योंकि वर्तमान वस्तु या तो ज्ञाप्य होती है या कार्य, किंतु रस न ज्ञाप्य है और न कार्य।

(६) लौकिक वस्तु के समान 'रस' निर्विकल्पक ज्ञान[१] का विषय नहीं है। क्योंकि इसमें नाम, रूप, जाति आदि किसी विशेष प्रकार के संबंध का भान नहीं होता। किंतु रस विशेष रूप से भासित होता है, अर्थात् रस की प्रतीति में शृंगार, हास्य, करुण आदि रस विशेष रूप से विदित होते हैं।

रस सविकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान के विषय, घट-पटादि सभी, शब्द द्वारा कहे जा सकते हैं, किंतु 'रस' शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता। अर्थात् 'रस-रस' पुकारने से आनंदानुभव नहीं हो सकता। जब वह विभावादि द्वारा व्यक्त होता है,

---

१ घट-पट आदि किसी विशेष वस्तु की प्रतीति न होकर सामान्यतः 'कुछ है' ऐसा प्रतीत होना निर्विकल्पक ज्ञान है।

अर्थात् व्यंजना द्वारा व्यंजित होता है, तभी आस्वादनीय हो सकता है। यह भी अलौकिकता है।

(७) रस का ज्ञान परोक्ष नहीं। परोक्ष वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता, किंतु रस का साक्षात्कार होता है। 'रस' अपरोक्ष भी नहीं। अपरोक्ष पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, किंतु रस दृष्टिगत नहीं हो सकता। उसकी केवल शब्दार्थ द्वारा व्यंजना होती है।

कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, निर्विकल्पक ज्ञान का विषय, सविकल्पक ज्ञान का विषय और परोक्ष-अपरोक्ष आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं, सभी का रस में अभाव है, तो फिर वह है क्या वस्तु? और उसके अस्तित्व का प्रमाण ही क्या है? वस्तुतः रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखंड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिये रसास्वाद को 'ब्रह्मानंदसहोदर[1]' कहा गया है। जैसे ब्रह्मानंद का अनुभव विरल योगिराज ही कर सकते हैं, उसी प्रकार

---

१ 'ब्रह्मानंद' से यहाँ संप्रज्ञात (सविकल्पक) समाधि से तात्पर्य है। क्योंकि उसी में आनंद और अस्मिता आदि आलंबन रहते हैं। पातंजल सूत्र में कहा है—"वितर्कविचारानंदास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।"—समाधिपाद, सू० १७। इसी प्रकार रसास्वाद में भी विभावादि आलंबन रहते हैं, अतएव संप्रज्ञात समाधि के आनंद के समान ही रसास्वाद कहा जा सकता है, न कि असंप्रज्ञात समाधि के समान, क्योंकि वह निरालंब है।

रस का आस्वादन भी विरल सहृदय जन ही कर सकते हैं—"पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससंततिम्।" और रस के अस्तित्व में सहृदय काव्य-मर्मज्ञों की चर्वणा अर्थात् रस के आस्वाद का अनुभव ही प्रमाण है। चर्वणा (आस्वाद) से रस अभिन्न है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आनंदानुभव को ही 'रस' कहा जाता है, तो करुण, बीभत्स और भयानक आदि द्वारा जब प्रत्यक्षतः दुःख, घृणा और भय आदि उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें रस क्यों माना जाता है? इसका उत्तर यह है कि शोकादि कारणों से दुःख का उत्पन्न होना लोक-व्यवहार है—श्रीराम-वनगमनादि लोक में ही दुःख के कारण होते हैं। जब वे काव्य-रचना में निबद्ध हो जाते हैं, या नाटिकाभिनय में दिखाए जाते हैं, तब उनमें पूर्वोक्त विभावन-नामक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः विभावादि द्वारा उनसे आनंद ही होता है, लोक में चाहे वे दुःख के कारण हो क्यों न हों। यदि करुण आदि रस दुःखोत्पादक होते तो करुणादि-प्रधान काव्य-नाटकों को कौन सुनता और देखता? पर वास्तव में ऐसे काव्य-नाटकों को भी, शृंगारात्मक काव्य-नाटकों के समान, सभी सहृदय सुनते और देखते हैं। इसमें सहृदय जनों का अनुभव ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। यद्यपि करुण-प्रधान हरिश्चंद्रादि के नाटकों द्वारा सामाजिकों के अश्रुपातादि अवश्य होते हैं

द्रवीभूत होने से होते हैं। चित्त के द्रवीभूत होने का कारण केवल दुःखोद्रेक ही नहीं, आनंद भी है। अतः आनंद-जन्य अश्रुपात भी होते हैं[१]।

रसों के लक्षण और उदाहरण

रस नौ हैं—

(१) शृंगार।
(२) हास्य।
(३) करुण।
(४) रौद्र।
(५) वीर।
(६) भयानक।
(७) बीभत्स।
(८) अद्भुत। और
(९) शांत।

कुछ आचार्यों का मत है कि शांत रस की व्यंजना केवल श्रव्य-काव्य में ही हो सकती है, दृश्य-काव्य—नाटकादिकों—में नहीं। "एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः[२]" नाट्य-शास्त्र की इस कारिका द्वारा स्पष्ट है कि भरत मुनि ने नाट-

---

१ "आनंदाममर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात्। अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाच्च बेदास्रम्" (काव्यशास्त्र गायकवाड़ सं० ७।१२१)

२ नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ संस्करण, ६।७०१।

ादिकों में भी शांत रस माना है। कुछ साहित्याचार्यों ने उक्त
। रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, वात्सल्य, लौल्य और भक्ति
ादि और भी रस माने हैं[१]। पर साहित्य के प्रधानाचार्य भरत
नि इनको स्वतंत्र रस नहीं मानते। अतएव ध्वनिकार, अभिनव
ाचार्य और श्रीमम्मट आदि आचार्यों ने भी नौ ही रस माने
। और प्रेयान् आदि रसों को 'भाव' के अंतर्गत बत-
ाया है।

(१) शृंगार-रस

'शृंगार' शब्द में 'शृंग' और 'आर' दो अंश हैं। शृंग
का अर्थ कामोद्रेक (काम की वृद्धि) है। 'आर' शब्द
'ऋ' धातु से बना है। ऋ का अर्थ गमन है। गति का
अर्थ यहाँ प्राप्ति है। अतः 'शृंगार' का अर्थ है काम-वृद्धि की
प्राप्ति। कामी जनों के हृदय में रति स्थायी भाव रस-अवस्था
को प्राप्त होकर काम की वृद्धि करता है, इसी से इसका नाम
शृंगार है।

आलंबन—नायिका और नायक। इनके बहुत भेद हैं।
विस्तार-भय से इनके उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

---

१ रुद्रट ने प्रेयान् रस और महाराजा भोज एवं विश्वनाथ ने वात्सल्य रस माना है। काव्यप्रकाशादि के मतानुसार ये दोनों पुत्रादिविषयक रति भाव के अंतर्गत हैं। भक्ति-रस को देव-विषयक रति भाव के अंतर्गत माना है। विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

१२ स्वकीया[1] के भेद—

१ मुग्धा[2]

६ मध्या[3]—

३ ज्येष्ठा[4]—धीरा[5], अधीरा[6] और धीराधीरा[7]।

३ कनिष्ठा[8]—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

६ प्रौढ़ा[9]—

३ ज्येष्ठा—धीरा[10], अधीरा[11] और धीराधीरा[12]।

३ कनिष्ठा—धीरा, अधीरा और धीराधीरा।

२ परकीया[13] के भेद—ऊढ़ा[14] (परोढ़ा) और अनूढ़ा[15]

१ सामान्या[16]

---

१ पतिव्रता। २ अंकुरितयौवना। ३ जिसमें लज्जा और काम समान हो। ४ जिस पर पति का अधिक प्रेम हो। ५ अन्यासक्त नायक पर सपरिहास वक्रोक्ति द्वारा कोप प्रकट करनेवाली। ६ अन्यासक्त नायक को कठोर वाक्य कहनेवाली। ७ अन्यासक्त नायक के सम्मुख रुदन करके कोप सूचित करनेवाली। ८ जिस पर पति का न्यून प्रेम हो। ९ केलि-कलाप-प्रगल्भा। १० अन्यासक्त नायक का सत्कार से आदर, किंतु वास्तव में उदासीन। ११ अन्यासक्त नायक का ताड़न करनेवाली। १२ अन्यासक्त नायक को वक्रोक्ति द्वारा दुःखित करनेवाली। १३ [illegible] अन्य-पुरुष आसक्ता। १४ अन्य पुरुष की विवाहिता। १५ अविवाहिता, पिता आदि के अधीन रहने से परकीया है। १६ वेश्या।

उपर्युक्त प्रत्येक सोलह नायिकाओं के, अर्थात् तेरह प्रकार की स्वकीया, दो प्रकार की परकीया और एक सामान्या के, स्वभावानुसार अन्यसंभोग-दुःखिता[1], वक्रोक्तिगर्विता[2] और मानवती[3] ये तीन-तीन भेद और हैं[4]।

मुग्धा के भी चार भेद और हैं—ज्ञातयौवना[5], अज्ञातयौवना[6], नवोढ़ा[7] और विश्रब्ध नवोढ़ा[8]।

प्रौढ़ा के क्रियानुसार दो भेद हैं—रतिप्रिया[9] और आनंद-सम्मोहिता[10]।

परकीया के भी कुछ और भेद होते हैं—

---

१ अपने नायक के साथ रमण करके आई हुई अन्य नायिका को देखकर दुःखित होनेवाली। २ अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व रखनेवाली। ३ अन्यासक्त नायक पर कुपित होनेवाली। ४ नायिकाओं के ये सभी भेद भानुदत्त-कृत 'रसतरंगिणी' के अनुसार हैं। साहित्य-दर्पण आदि में प्रायः ये दो भेद माने गए हैं। ५ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान हो। ६ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान न हो। ७ लज्जा और भय के कारण जिसकी रति पराधीन हो। ८ नायक के विषय में जिसको कुछ विश्वास हो। ९ संभोग में प्रीति रखनेवाली। १० रतिआनंद से सम्मोहित।

प्रत्येक ये सोलह नायिकाएँ, अवस्था-भेद से, प्रोषितपतिका१, खंडिता२, कलहांतरिता३, विप्रलब्धा४, उत्का५, वासकसज्जा६, स्वाधीनपतिका७ और अभिसारिका८, ये आठ९ प्रकार की होती हैं। इस प्रकार १२८ भेद हुए। इन १२८ के प्रकृति के अनुसार तीन-तीन भेद—उत्तमा१०, मध्यमा११ और अधमा१२ होते हैं। इस प्रकार नायिकाओं के ३८४ भेद हैं।

---

१ जिसका नायक प्रवासी हो। २ परस्त्री-संसर्ग के चिह्नों से चिह्नित नायक को देख ईर्ष्या-कलुषित। ३ प्रार्थी नायक का अनादर कर पश्चात्ताप करनेवाली। ४ नियुक्त स्थान पर नायक के न आने से अपमानिता। ५ संकेत करने पर भी नायक के कारण-वश न आने से चिंतित। ६ नायक का आना निश्चयात्मक जानकर शृंगारादि से विभूषित होनेवाली। ७ गुणों से अनुरक्त होकर नायक जिसका आज्ञानुकारी हो। ८ कामार्त होकर नायक के समीप जाने-वाली या उसको बुलानेवाली। ९ दो अवस्थाएँ और हैं—प्रवत्स्यत्-प्रेयसी (जिसका नायक प्रवास के लिये उद्यत हो) और आगत-पतिका (नायक के प्रवास से आने के समय हर्षित होनेवाली)। किंतु ये अप्रधान हैं। १० नायक के अन्यासक्त होने पर भी उसकी हितचिंतक। ११ नायक के हितकारी या अनहितकारी होने पर तदनुसार। १२ सदैव हितकारी नायक के विषय में भी अहितकारी।

उपर्युक्त प्रत्येक सोलह नायिकाओं के, अर्थात् तेरह प्रकार की स्वकीया, दो प्रकार की परकीया और एक सामान्या के, स्वभावानुसार अन्यसंभोग-दुःखिता[1], वक्रोक्तिगर्विता[2] और मानवती[3] ये तीन-तीन भेद और हैं[4]।

मुग्धा के भी चार भेद और हैं—ज्ञातयौवना[5], अज्ञातयौवना[6], नवोढ़ा[7] और विश्रब्ध नवोढ़ा[8]।

प्रौढ़ा के क्रियानुसार दो भेद हैं—रतिप्रिया[9] और आनंदसम्मोहिता[10]।

परकीया के भी कुछ और भेद होते हैं—

---

१ अपने नायक के साथ रमण करके आई हुई अन्य नायिका को देखकर दुःखित होनेवाली। २ अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व रखनेवाली। ३ अन्यासक्त नायक पर कुपित होनेवाली। ४ नायिकाओं के ये सभी भेद भानुदत्त-कृत 'रसतरंगिणी' के अनुसार हैं। साहित्य-दर्पण आदि में प्रायः ये ही भेद माने गए हैं। ५ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान हो। ६ यौवन के आगमन का जिसे ज्ञान न हो। ७ लज्जा और भय के कारण जिसकी रति पराधीन हो। ८ नायक के विषय में जिसको कुछ विश्वास हो। ९ संभोग में प्रीति रखनेवाली। १० रतिआनंद से सम्मोहित।

नायक तीन प्रकार के होते हैं—पति, उपपति (अन्य नायिकानुरक्त) और वैशेषिक (व्यभिचारी)। पति चार प्रकार के होते हैं—अनुकूल९, दक्षिण१०, धृष्ट११ और शठ१२।

---

१ भूत, वर्तमान और भावी प्रेम-व्यापार को छुपानेवाली। २ वचन और क्रिया के चातुर्य से नायक को संकेत करनेवाली। ३ जिसका प्रेम-व्यापार सखियों को प्रकट हो गया हो। ४ संकेत स्थान के नष्ट हो जाने से दुःखित होनेवाली। ५ भावी संकेत स्थान के लिये चिंता करनेवाली। ६ संकेत स्थान पर किसी कारण-वश न पहुँच सकनेवाली। ७ अनेकों में आसक्त। ८ मनोवांछित बातें सुनकर हर्षित होनेवाली। ९ अपनी पत्नी में सदा अनुरक्त रहनेवाला। १० अनेक नायिकाओं में स्वभावतः समान अनुराग रखनेवाला। ११ अपराध करने पर अत्यंत तिरस्कृत होकर भी नायिका से विनय करनेवाला। १२ अपराधी होने पर भी नायिका को ठगने में चतुर।

उद्दीपन विभाव—

नायिका की सखी—इनके मंडन, शिक्षा, उपालंभ और परिहास आदि कार्य। नायक के सहायक सखा। इनके चार भेद हैं—पीठमर्द[1], विट[2], चेट[3] और विदूषक[4]।

दूती—इनके उत्तमा, मध्यमा, अधमा और स्वयंदूतिका भेद हैं।

षट्ऋतु, वन, उपवन, चंद्र, चाँदनी, पुष्प और पराग, भ्रमर और कोकिलादि पक्षियों का गुंजार एवं निनाद, मधुर गान, वाद्य, नदी-तट, सरोवर, कमनीय केलि-कुंज आदि सभी चित्ताकर्षक सुंदर वस्तुएँ।

अनुभाव—अनुराग-पूर्ण पारस्परिक अवलोकन, भ्रुकुटि-भंग, भुजाक्षेप (हस्त-संचालन), आलिंगन, रोमांच, स्वेद और चाटुता आदि असंख्य कायिक, वाचिक एवं मानसिक।

स्त्रियों की यौवनावस्था के मुख्यतया निम्नलिखित अनुभाव रूप २८ अलंकार माने गए हैं, जिनमें ३ अंगज, ७ अयत्नज और १८ स्वभावज हैं।

अंगज अलंकार—इनका शरीर से संबंध होने के कारण इनको अंगज कहते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—

---

१ कुपित नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करनेवाला। २ काम-तंत्र की कला में निपुण। ३ नायक और नायिका के संयोजन में चतुर। ४ अंगादि की विकृत चेष्टाओं से हास्य उत्पन्न करनेवाला।

(१) 'भाव'—निर्विकार चित्त में प्रथम विकार उत्पन्न होना।

(२) 'हाव'—भृकुटि तथा नेत्रादि की चेष्टाओं से संभोग-अभिलाषा-सूचक मनोविकारों का कुछ प्रकट किया जाना।

(३) 'हेला'—उपर्युक्त मनोविकारों का अत्यंत स्फुट होकर लक्षित होना।

अयत्नज अलंकार—ये कृतिसाध्य न होने के कारण अयत्नज कहे जाते हैं और ये सात हैं—

(१) 'शोभा'—रूप, यौवन, लालित्यादि से संपन्न शरीर की सुंदरता।

(२) 'कांति'—विलास से बढ़ी हुई शोभा।

(३) 'दीप्ति'—अति विस्तीर्ण कांति।

(४) 'माधुर्य'—सब दिशाओं में रमणीयता।

(५) 'प्रगल्भता'—निर्भयता अर्थात् किसी प्रकार की शंका का न होना।

(६) 'औदार्य'—सदा विनय भाव।

(७) 'धैर्य'—आत्मश्लाघा से युक्त अचंचल मनोवृत्ति।

स्वभावज अलंकार—ये कृतिसाध्य हैं और अठारह हैं—

(१) 'लीला'—प्रेमाधिक्य के कारण वेष, अलंकार तथा प्रेमालाप द्वारा प्रियतम का अनुकरण करना।

(२) 'विलास'—प्रिय वस्तु के दर्शनादि से गति, स्थिति आदि व्यापारों तथा मुख-नेत्रादि की चेष्टाओं की विलक्षणता।

(३) 'विच्छित्ति'—कांति को बढ़ानेवाली अल्प वेष-रचना।

(४) 'बिब्बोक'—अति गर्व के कारण अभिलषित वस्तुओं का भी अनादर करना।

(५) 'किलकिंचित्'—अतिप्रिय वस्तु के मिलने आदि के हर्ष से मंदहास, अकारण रोदन का आभास, कुछ हास, कुछ त्रास, कुछ क्रोध और कुछ श्रमादि के विचित्र सम्मिश्रण का एक ही साथ प्रकट होना।

(६) 'मोट्टायित'—प्रियतम की कथा सुनकर अनुराग उत्पन्न होना।

(७) 'कुट्टमित'—केश, स्तन और अधर आदि के ग्रहण करने पर आंतर्य हर्ष होने पर भी बाहरी घबराहट के साथ शिर और हाथों का परिचालन करना।

(८) 'विभ्रम'—प्रियतम के आगमन आदि के हर्ष और अनुराग आदि के कारण शीघ्रता में भूषणादि का स्थानांतर पर धारण करना।

(९) 'ललित'—अंगों को सुकुमारता से रखना।

(१०) 'मद'—सौभाग्य, यौवन आदि के गर्व से उत्पन्न मनोविकार होना।

(११) 'विहृत'—लज्जा के कारण, कहने के समय भी कुछ न कहना।

(१२) 'तपन'—प्रियतम के वियोग में कामोद्वेग की चेष्टाओं का होना।

रति सापेक्ष होते हैं, अर्थात् इसमें पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। इसीलिये इन भावों का शृंगार में प्रादुर्भाव होता है। करुण और शृंगार में उत्पन्न होनेवाले कुछ निर्वेदादि संचारी भावों में यही भेद रहता है।

स्थायी भाव—रति। रति का अर्थ है 'मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्त होने का ज्ञान, अर्थात् नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग—प्रेम।'

शृंगार-रस के प्रधान दो भेद हैं—संभोग-शृंगार और विप्रलंभ (वियोग)-शृंगार। जहाँ नायक-नायिका का संयोगावस्था में प्रेम हो, वहाँ संयोग और जहाँ वियोगावस्था में पारस्परिक अनुराग हो, वहाँ विप्रलंभ होता है। संयोग का अर्थ नायक-नायिका की एकत्र स्थिति-मात्र ही नहीं है, क्योंकि समीप रहने पर भी मान अवस्था में वियोग ही है। अतएव संयोग का अर्थ है संयोग-सुख की प्राप्ति और वियोग का अर्थ है संयोग-सुख की अप्राप्ति।

संभोग-शृंगार

नायक-नायिका का पारस्परिक अवलोकन, आलिंगन आदि इसके असंख्य भेद हैं। इन सबको संभोग-शृंगार के अंतर्गत ही माना गया है। उपर्युक्त आलंबन और उद्दीपन सभी विभावों का इसमें वर्णन होता है। संभोग-शृंगार कहीं नायिकारब्ध और कहीं नायकारब्ध होता है।

यहाँ नायक आलंबन है। एकांत स्थान और नायक का मनोहारी दृश्य उद्दीपन है। अधमिचो आँखों से देखना अनुभाव और व्रीड़ा, औत्सुक्य आदि संचारी भावों से परिपुष्ट रति स्थायी की शृंगार-रस में व्यंजना होती है।

नायकारब्ध संभोग-शृंगार का उदाहरण—

कंचुकि के बिन ही मृगलोचनि ! सोभित तू छबि ही मनभावन ;
प्रीतम यों कहिकै हँसिकै अपने करतें लगे बंध छुटावन।
सस्मित बंक-बिलोकन कै ढिग देखि प्रबीन लगी सकुचावन ;
लै मिस मूढ़ी बना बतियाँ सखियाँ सनकै जु लगीं उठि धावन।

यहाँ नायिका आलंबन है। उसकी अंग-शोभा उद्दीपन है। कंचुकी के खोलने को चेष्टा अनुभाव और उत्कंठा आदि व्यभिचारी हैं। नायक ने उपक्रम किया है, अतः नायकारब्ध है।

कहीं-कहीं रति भाव की स्थिति होने पर भी शृंगार-रस नहीं होता। जैसे—

"मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ ;
जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होय।"
(बिहारी)

"गिरा अर्थ जल बीचि-सम कहियत भिन्न, न भिन्न।
बंदौ सीता-राम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न।"
(मानस रामायण)

इन दोहों में श्रीराधा और श्रीकृष्ण का, और श्रीसीताराम

का परस्पर पूर्णतया प्रेममय होना व्यंजित होता है, अर्थात् इसमें 'रति' की स्थिति है। अतएव दीक्षित[1] आदि ने ऐसे वर्णनों में शृंगार-रस माना है, परंतु पंडितराज जगन्नाथ का इस विषय में मत-विरोध है, और उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन में बहुत मार्मिक विवेचन किया है। पंडितराज के अनुसार राधा और श्रीकृष्ण एवं सीता और श्रीराम के इस पारस्परिक प्रेम-वर्णन में, रति प्रधान नहीं, किंतु 'मेरी भव-बाधा हरौ' आदि द्वारा युगल मूर्ति की वंदना करना कवि को अभीष्ट है। अतः यहाँ देव-विषयक रति भाव प्रधान है[2]। अतएव ऐसे वर्णन में भाव ही समझना चाहिए, न कि शृंगार-रस। इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे भाव-प्रकरण में किया जायगा।

विप्रलंभ-शृंगार

इसमें शंका, औत्सुक्य, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रबोध, चिंता, असूया, निर्वेद, स्वप्न आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। संताप, निद्रा-भंग, कृशता, प्रलापादि अनुभाव होते हैं। इसके निम्न-लिखित भेद होते हैं—

---

1 देखिए, चित्र मीमांसा, पृष्ठ २८। और हेमचंद्र का काव्यानुशासन, पृष्ठ ७३। 2 रसगंगाधर, पृष्ठ ३४।

"भेटत ही सपने में भटू बस चंचल चारु भरे के भरे रहे;
त्यों हँसिकै अधरानहु पै मधुरानहु वे जु धरे के धरे रहे।
चौंकी नवीन चकी उमकी मुख सेद के बूँद ढरे के ढरे रहे;
हाय सुखीं पलकें पल में! हिय के अभिलाष भरे के भरे रहे।"

'प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य' का उदाहरण—

"करत बतकही अनुज सन मन सिय-रूप लुभान;
मुख-सरोज-मकरंद-छबि करत मधुप इव पान।"

यहाँ जानकीजी को श्रीरघुनाथजी के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न अभिलाषा है।

और भी—

"आनि कढ्यो इहि गैल भटू महिमंडल में अलबेलो न और है;
देखत रीझि रही सिगरी मुख-माधुरी कोहू कछू नहिं ठौर है।
'बेनी प्रवीन' बड़े-बड़े लोचन बाँकी चितौन चलाकी को जौर है;
साँची कहैं ब्रज की युवती यह नंद-लड़ैतो बड़ो चितचौर है।"

और भी—

"आज लौं देख्यो न कान सुन्यो कहूँ औचकै आवत गैल निहारो;
त्यों 'लछिराम' न आनि परयो हमैं आँखिन बीच बस्यो कै पसारो।
मूरति माधुरी स्याम घटा तन पीत-पटी छन जोति को धारो;
हाल की फाँसुरी डारि गरे मन लै गयो या बन बाँसुरीवारो।"

यहाँ भी प्रत्यक्ष दर्शन-जन्य अभिलाषा है।

(२) ईर्ष्या-हेतुक वियोग।

प्रणय-मान का उदाहरण—

"सुरँग महावर सौति-पग निरखि रही अनखाय ;
पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय।"
(बिहारी)

यहाँ सपत्नि के प्रेम-व्यापार के चिह्नों के अनुमान से उत्पन्न मान है। यह 'उद्वेग-दशा' का वर्णन है।

जहाँ अनुनय के प्रथम अर्थात् मान छुटाने का अवसर आने तक मान नहीं ठहर सकता है, वहाँ विप्रलंभ-शृंगार नहीं, प्रत्युत संभोग-संचारी भाव होता है। यथा—

देखो करौं भृकुटीन तऊ दृग ये उत्कंठ भरे बनि आवतु ;
मौन गहौं तु चहौं रिस पै बरि आवो अरी! मुखहू मुसकावतु।
चित्त करौं हौं कठोर तऊ पुलकावलि अंगन में बढ़ि आवतु ;
कैसे बनै सजनी पिय सौं अब तू ही बता फिर मान निभावतु।

यह मान करने की शिक्षा देनेवाली सखी को मान करने में सफल न होनेवाली नायिका की उक्ति है।

(२) विरह-हेतुक वियोग।

"कूजत कुंज मैं कोकिल त्यों मतवारे मलिंद घने भटके हैं,
संक सदा गुरु लोगनि की अवलोकन व्यापन के खटके हैं।
यों मनभावती में 'लछिराम' भरे रँग लालच मैं लटके हैं ;
वा कुल-कानि-जहाज चढ़े मनराज विलोकिबे में अटके हैं।"

यहाँ गुरुजन आदि की लज्जा के कारण वियोग है। और भी—

"देखें बनै न देखिबो अनदेखें अकुलाहि ;
इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरजोई नाहि।"

"सुरँग महावर सौति-पग निरखि रही अनखाय ;
पिय अँगुरिन लाली लखै खरी उठी लगि लाय ।"
(बिहारी)

यहाँ सपत्नि के प्रेम-व्यापार के चिह्नों के अनुमान से उत्पन्न मान है। यह 'उद्वेग-दशा' का वर्णन है।

जहाँ अनुनय के प्रथम अर्थात् मान छुटाने का अवसर आने तक मान नहीं ठहर सकता है, वहाँ विप्रलंभ-शृंगार नहीं, प्रत्युत संभोग-संचारी भाव होता है। यथा—

टेढ़ी करौं भृकुटीन तऊ दृग ये उत्कंठ भरे बनि आवतु ;
मौन गहौं तबहीं रिस पै जरि जानो अरी ! मुखहू मुसकावतु।
पिय कौं हौं कठोर तऊ पुलकावलि अंगन में उठि आवतु ;
कैसे बनै सजनी पिय सों अब तू ही बता फिर मान निभावतु।

यह मान करने की शिक्षा देनेवाली सखी को मान करने में सफल न होनेवाली नायिका की उक्ति है।

(२) विरह-हेतुक वियोग।

"कूजत कुंज में कोकिल त्यों मतवारे मलिंद घने भटके हैं ;
संक सदा गुरु लोगनि की बरजूह पवाहन के फटके हैं।
पै मनभावती में 'लछिराम' भरे रँग लालच में अटके हैं ;
या कुल-कानि-जहाज चढ़े ब्रजराज बिलोकिबे में अटके हैं।"

यहाँ गुरुजन आदि की लज्जा के कारण वियोग है। और भी—

"देखें बनै न देखिबो अनदेखें अकुलाहिं ;
इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरजोई नाहिं।"

यहाँ भी प्रस्थान के लिये उद्यत नायक के प्रति नायिका के वाक्य में वर्तमान प्रवास है।

भूत-प्रवास—

हे भृंग! तू भ्रमित हो रहता सदा रे!
गोविंद हैं प्रिय कहाँ? यह तो बता रे।
देखे निकुंज? अथवा कह क्यों न, प्यारे!
बंसी लिए कर कहीं यमुना-किनारे?

यह गोपीजनों का विरहोद्गार है। पूर्वोक्त दश काम-दशाओं में यह प्रलाप-दशा का वर्णन है। और भी—

"सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद सों छ्वै गए हैं;
'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन च्वै गए हैं।
मनमोहन सों बिछुरे इतही बनिकै न अबै दिन द्वै गए हैं;
सखि, वे हम वे तुम वेई बनै पै कछू के कछू मन ह्वै गए हैं।"

श्रीनंदकुमार के मथुरागमन करने पर व्रज-युवतियों का यह विरह-वर्णन है।

और भी—

"बरुनीन दै नैन झुकैं उझकैं, मनो खंजन मीन के जाले परे,
दिन औधि के कैसे गिनौं सजनी, अँगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि 'ठाकुर' कासों कहा कहिए, यह प्रीति किए के कसाले परे;
जिन लालन चाह करी इतनी, तिन्हें देखबे के अब लाले परे।"

"मेरे मनभावन न आए सखी, सावन में
सावन लगी है झरी बरसि-बारि कै;

> बूँदैं कभूँ झरैं, कभूँ पारैं हिय फारैं रैना!
> मोरनी हू थारे हारे बरजि-बरजि कै।
> 'ग्वाल' कवि चातकी परम पातकी सौं मिलि,
> मोरहू करत सोर तरजि-तरजि कै;
> गाजि गए ते घन गाजि गए हैं भला,
> फिर ये कसाई आए गरजि-गरजि कै।"

ये भी प्रवासी प्रिय के वियोग में विरहिणी के विरहोद्गार हैं।

(५) शाप-हेतुक वियोग।

> गेरू से मैं लिखकर तुम्हें मानिनी को शिला पै
> जो ज्यों चाहौं तव पद-गिरा हा! मुझे भी लिखा मैं।
> रोके रहो बढ़कर महा अश्रुधारा असह्य,
> है धाता को असह्य! अपना संग यों भी न सह्य।
> (हिंदी-मेघदूत-विमर्श)

यहाँ कुबेर के शाप के कारण यक्ष-दंपती का वियोग है। और भी—

> वन कुंजन में अलि-पुंजन की मद-गुंजन मंजु सुनी जब हीं;
> बिंधि काम के बान सरक्त भए कुरुनंदन पांडु भुवाल वहीं।
> वह पीर-निवारन की जु क्रिया में प्रवीन प्रिया ढिग.नैं हू रहीं,
> द्विज-साप के कारन हाय! तऊ करि कोहु सक्यौं उपचार नहीं।

यहाँ महाराजा पांडु को, महारानी कुंती और माद्री के समीप रहने पर भी, शाप के कारण वियोग है।

"पीतम जौ जल-केलि करी दुरी नारद ने लियो आइकै वापो ;
अंग सुखे लखि कोप भयो, पति कौं जड़ को वर भाखि बनायो ।
यों कवि 'ग्वाल' वरी विरहागनि आकसमात को खेद मैं पायो ;
नाथ-वियोग कराय अली ! कहौ वा मुनि के कहा हाथ मैं आयो ।"

नारदजी के शाप से नल-कूबर के वृक्ष-रूप हो जाने पर उन दोनों में से एक की पत्नी की यह उक्ति है ।

उद्दीपन विभाव के उदाहरण—

"यह कंज सों कोमल अंग गुपाल को सोऊ सबै तुम जानती हौ ;
बलि नैंकु रुखाइ धरैं कुम्हिलात इतो हठ काहे को ठानती हौ ।
कवि 'ठाकुर' यों कर जोरि कहौं इतने पै विनै नहिं मानती हौ ;
दृग-बान ये भौंहैं कमान कहो अब कान लौं कौन पै तानती हो ।"

यहाँ उपालंभ देनेवाली सखी उद्दीपन विभाव है ।

"पूरन चंद उदोत कियो बन फूलि रहीं बन जाति सुहाई ;
भौंरन की धमकी फब कैरव-कुंजन पुंजन में मृदु गाई ।
बाँसुरी बाजनि काम के बाजनि लै 'मतिराम' सबै अकुलाई ;
गोपिन गोप कछू न गने अपने-अपने घर तें उठि धाई ।"

यहाँ चंद्रोदय, वन, पुष्प, भ्रमर-गुंज, कुंज और वंशी की ध्वनि आदि उद्दीपन विभावों का वर्णन है ।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि कुछ लेखक और समालोचक श्रृंगार-रसात्मक काव्य और तत्संबंधी विवेचना में अश्लीलता का दोषारोपण करते हैं । यह उनका भ्रम है । अमर्यादित श्रृंगार-रस के वर्णन को तो कोई भी

साहित्य-मर्मज्ञ अच्छा नहीं कहता। उसे तो सभी प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रंथों ने त्याज्य कहा है। किंतु शृंगारात्मक वर्णन-मात्र को ही त्याज्य समझना काव्य के वास्तविक महत्त्व में अनभिज्ञता है। शृंगार-रस तो काव्य में सर्व-प्रधान है१। इसके बिना काव्य का तादृश महत्त्व नहीं रहेगा। महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि शांतरस एवं वैराग्य-भक्ति-प्रधान आर्ष-ग्रंथों में भी शृंगार-रस का समावेश है।

---

१ भरत मुनि आदि सभी साहित्याचार्यों ने शृंगार को सर्वोपरि स्थान दिया है। अग्निपुराण में अन्य सभी रसों का शृंगार से ही प्रादुर्भाव माना है। महाराजा भोज ने शृंगार को ही एकमात्र रस स्वीकार किया है—

'व्यभिचारादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते।
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।'
(अग्निपुराण, अ० ३४१। ४, ५)

'शृंगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः;
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयं तु
शृंगारमेव रसनाद् रसमामनामः।
वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति;
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः।'
(शृंगारप्रकाश १।७)

ध्वनिकार ने भी कहा है—

(२) हास्य-रस

विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि को देखने से हास्य-रस उत्पन्न होता है।

यह दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। हास्य का विषय देखने-मात्र से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है। जो दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है, वह परस्थ है१।

स्थायी भाव—हास।

आलंबन—दूसरे के विकृत वेश-भूषा, आकार, निर्लज्जता, रहस्य-गर्भित वाक्य आदि, जिन्हें देख और सुनकर हँसी आ जाय।

उद्दीपन—हास-जनक चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—ओठ, नाक और कपोल का स्फुरण, नेत्रों का मिचना, मुख का विकसित होना, व्यंग्य-गर्भित वाक्यों का कहना इत्यादि।

संचारी—आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि।

इसके छ भेद होते हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३)

'शृंगाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात्सर्व-रसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः'। (ध्वन्यालोकवृत्ति, ३।२२ पृष्ठ १०४)

१ 'आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः,
हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः। (रसगंगाधर)

वैद्य के कथनानुसार पारे में यदि पुरुषत्व लाने का तादृश गुण होता, तो स्वयं वैद्य क्यों पुरुषत्व-हीन रहता। अतएव यही अन्यथा प्रशंसा यहाँ हास्य उत्पन्न करने का कारण होने से आलंबन है। धन लेकर भी रोगी पर एहसान करना उद्दीपन है। वैद्य-वधू द्वारा अपने पति का मुख निरीक्षण करना अनुभाव और स्मृति आदि संचारी है।

हसित हास्य—

रूप अनूप सजे पट भूषन जात चली मद के झकझोरनि;
औचक आँटो चुभ्यो पग में मुख सों सिसकार कढ़ी बरजोरनि।
सो सुनिकै विट बोल्यो इहा! फिरिहू इमि क्यों न करै चितचोरनि;
लज्जित-सी मुख झंपत दै चितई तरुनी तिरछी दृग-कोरनि।

यहाँ विट (वेश्यानुरागी) की रहस्यमयी उक्ति आलंबन है। नायिका का मुख पर वस्त्र लगाकर बाँके कटाक्ष से उसकी ओर देखना अनुभाव है। हर्ष, लज्जा आदि संचारी हैं। स्मित से कुछ अधिकता होने के कारण हसित हास्य है। और भी—

"गौने के चौस सिंगारन कों 'मतिराम' सहेलिन को गन आयो;
कंचन के बिछुवा पहिरावत प्यारी सखीन हुलास बढ़ायो[1]।
'पीतम-श्रौन-समीप सदा बजैं' यों कहिकै पहलें पहिरायो;
कामिनि कौल चलावन को कर ऊँचो कियो, पै चल्यो न चलायो।"

---

१ यहाँ मूल-पाठ 'प्यारी सखी परिहास बढ़ायो' है, पर उसमें 'परिहास' द्वारा हास्य का कथन शब्द द्वारा हो गया है, अतः इसका पाठ 'प्यारी सखी न हुलास बढ़ायो' इस प्रकार कर दिया गया है।

यहाँ सखी के 'पीतम-श्रौन-समीप सदा बसै' वा
और नायिका द्वारा कमल के फेकने की चेष्टा में हा
व्यंजना है।

विकृत आकार-जन्य हास्य—

"बाल के आनन-चंद लख्यो नख आली बिलोकि अनूप प्रभ
आजु न ह्वैल है चंदमुखी ! मतिमंद कहा कहै प पुख
बापुरो ज्योतिसी जानै कहा अरी ! हौं कहौं खो पदि आइहौं क
चंद दुहू के दुहूँ इक ठौर हैं आजु है ह्वैल भो, पूरनमास

यहाँ नायिका के मुख पर नख-क्षत देखकर दूसरे चरण
सखी के वाक्य में और तीसरे एवं चौथे चरण में नायिक
वाक्य में हास्य की व्यंजना है।

विकृत वेश-जन्य हास्य—

काम कलोलन की बतियान में बीति गई रतियाँ कढि प्रात मैं
आपने चीर के धोखे भटू पट पीतम को पहिरयो पट गात मैं
लै बनमाल को किंकिनी ठौर निसंवन बाँधि लई अरसात मैं
देख सखीं बिकसीं तब वालहु बोलि सकी न कछू सकुचात मैं

यहाँ नायिका का विपरीत वेश हास्य का विभाव है।

और भी—

"केसरि के नीर भरि राखयो हौद कंचन को,
बसन बिहाए लाये ओन्ह की तरंग मैं।
'सोमनाथ' मोहन किनारे तें उसरि आपु
बाम्यो है हुलास उर होरी को उमंग मैं।

आई मनभावनी अनूप कमला-सी बनि
पायो तहाँ चरन सहेलिन के संग मैं;
रँगी सब रंग मैं निहारि अंग-अंग प्यारो
विहसे कपोल कै रँग्यो है प्रेम-रंग मैं।"

(रसपीयूष)

यहाँ भी केसर-रंग में वस्त्रादि का रँग जाना हास्य का विभाव है। और—

"गोपी गुपाल कों बालिका कै वृषभानु के भौन सुभाइ गई;
'उजियारे' बिलोकि-बिलोकि तहाँ हरि, राधिका पास लिवाइ गई।
उठि देखी मिलौ या सहेली सों यों कहि कंठ सों कंठ लगाइ गई;
भरि भेंटत अंक निसंक उन्हें, वे मयंकमुखी मुसकाइ गई।"

यद्यपि यहाँ 'मुसकाइ गईं' से हास्य का शब्द द्वारा कथन है, पर यह सखियों का मुस्काना है। ऐसी परिस्थिति में सखी जनों को हँसती देखकर राधिकाजी और श्रीकृष्ण को भी हास्य उत्पन्न होना अनिवार्य था। श्रीराधाकृष्ण का हास्य शब्द द्वारा नहीं कहा गया है, वह व्यंग्य है, और उसी में प्रधानतया चमत्कार है। अतः यहाँ पर-निष्ठ हास्य है।

और—

"सुनिकै विहंग सोर भोर उठी नंदरानी,
अंग-अंग आलस के ओर जमुहानी वह;
धारी आतुरी सो न सूधी को सँभार रही,
कान्ह कों विरावत खिलावत सिहानी वह।

'ग्वाल' कवि पूत को सु हीरा धुकधुकी माँहि,
छवि सब आपुनी अजायब दिखानी यह ;
एक संग ऐसी खिल-खिल करि उठी भोरी,
आँसू आइ गए पै न खिलन रुकानी यह।"

यहाँ यशोदाजी ने अपने विकृत वेश का प्रतिबिंब श्रीकृष्ण के हार की धुकधुकी में देखकर उनके आँसू आ जाने पर भी खिल-खिलाहट न रुकने में अति हसित की व्यंजना है। किंतु—

सुदिनाचल ने अपने कर सौं हर गौरी के लै जब हाथ जुड़ाए,
तन कंपित रोम उठे सिव के, विधि भंग भए अति ही सकुचाए।
'गिरि के कर में बड़ो सीत बड़ो' कहि यों वह सात्त्विक भाव छिपाए,
वह संकर[1] संकर[2] हूँ गिरि के रनवास सौं जो न रहस्य छपाए।

जब हिमाचल ने श्रीशंकर का पार्वतीजी का पाणिग्रहण कराया, उस समय पार्वतीजी के स्पर्श से श्रीशंकर के रोमांचादि हो गए। इन रोमांचादि को छिपाने के लिये श्रीशंकर ने कहा कि "हिमाचल के हाथ बड़े शीतल हैं", जिसका अभिप्राय यह था कि उनके रोमांचादि का कारण हिमाचल के हाथों की शीतलता थी। पर वास्तविक रहस्य को अंतःपुर की स्त्रियाँ समझ गईं, और उनके रहस्य-युक्त देखने में हास्य की व्यंजना अवश्य है, पर चौथे चरण में जो भक्ति-भाव है, उसका उक्त हास्य अंग हो गया है, अतः देव-विषयक रति-भाव ही यहाँ है, न कि हास्य।

---

1 श्रीमहादेवजी। 2 शंकर अर्थात् कल्याणकारक।

और—

"सोई सलोनी सुहाग भरी सुकुमारि सखीनि समाज सबी-सी ;
'देवजू' सोवत ते गए जाग मद्दा सुखमा सुखमा उमही-सी ।
पीड की लोक कपोल में पीके बिलोकि सखीनि हँसी उमही-सी ;
सोचन सोहँ न लोचन होत, सकोचन सुंदरि जात गड़ी-सी ।"

भवानीविलास में इसे हास्य का उदाहरण दिखाया गया है, पर इसमें प्रधानतया व्रीड़ा-भाव की व्यंजना है, हास-भाव उसका पोषक-मात्र है। इसके सिवा यहाँ 'हँसी' शब्द से 'हास' वाच्य भी हो गया है। परंतु—

"विंध्य के बासी उदासी तपोव्रत-धारी महा बिनु नारी दुखारे ;
गौतम-तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि-वृंद सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी, परसे पद-मंजुल कंज तिहारे ;
कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि कानन कों पग धारे।"

यहाँ यद्यपि श्रीराम-विषयक भक्ति-भाव की व्यंजना है, पर वह प्रधान नहीं। अतः यहाँ हास्य-रस ही है।

(३) करुण-रस

बंधु-विनाश, धर्म के अपपात, द्रव्य-नाश आदि अनिष्ट से करुण-रस उत्पन्न होता है।

स्थायीभाव—शोक।

आलंबन—विनष्ट बंधु, पराभव आदि।

उद्दीपन—प्रिय बंधु जनों का दाह-कर्म, उनके स्थान, वस्त्र-

भूषणादि का दृश्य तथा उनके कार्यों का श्रवण एवं स्मरण आदि।

अनुभाव—दैव-निंदा, भूमि-पतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्‌वास, कंप, मुख सूखना, स्तंभ और प्रलाप आदि।

संचारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, दैन्य, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिंता आदि।

इष्ट वस्तु-वियोग-जन्य करुण—

वनवास-एता कहाँ ! सुत ! तेरी रम्यता कहाँ !
स्मृति भी यह दे रही व्यथा, विधि की है यह हा ! विडंबना।

श्रीराम-वनवास के समय महाराज दशरथ का यह शोकोद्‌गार है। श्रीरघुनाथजी आलंबन हैं। वनवास के गमन का प्रस्ताव उद्दीपन है। दैव-निंदा अनुभाव है। विषाद आदि संचारी हैं। और भी—

"नव दारुन या अपमान सों तू निहचै दग-मोरहि धारत होइगी।
सिसु होन समै पै सिया वन में कहुँ पेइद पीर सों भारत होइगी।
फिरि हाय ! अचानक सिंहनि सों किमि चेवत धारत धारत होइगी।
करिकै सुधि मेरी हिये में चहुँ तब तावहि तात पुकारत होइगी।"

(श्रीसत्यनारायण-अनुवादित-उत्तररामचरित)

सीताजी के त्याग के पश्चात् भगवान् रामचंद्र का उनके वियोग में यह शोकोद्‌गार है। सीताजी आलंबन हैं। उनके वनवास-दुःख का स्मरण उद्दीपन है। यह वाक्य अनुभाव है। चिंता आदि संचारी भावों से यहाँ करुण की व्यंजना

है। इस पद्य में विप्रलंभ-शृंगार नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उसमें पुनर्मिलन की आशा रहती है, यहाँ निर्वासित सीताजी के विषय में पुनर्मिलन की आशा नहीं है।

बंधु-विनष्ट-जन्य करुण—

नव पल्लव भी बिछे हुए मृदु तेरे तन को असह्य थे;
यह हाय! चिता धरा हुआ, अब होगा यह सह्य क्यों प्रिये!

इंदुमति के वियोग में महाराज अज का यह विलाप है। इंदुमति का मृत शरीर आलंबन और उसकी चिता उद्दीपन है। यह कारुणिक क्रंदन अनुभाव है। स्मृति, चिंता, दैन्य आदि संचारी हैं। और देखिए—

"जो भूरि भाग्य भरी विदित थी निरुपमेय सुहागिनी;
हे हृदयवल्लभ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी।
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी;
है अब उसी मुझ-सी जगत में और कौन अनाथिनी।"

(जयद्रथ-वध)

यह उत्तरा का विलाप है। अभिमन्यु की मृत्यु आलंबन है। उसके वीरत्व आदि गुणों का स्मरण उद्दीपन है। उत्तरा का रुदन अनुभाव है। स्मृति, दैन्य आदि संचारी हैं। और भी—

"काव्य-मनि वारिधि-विपत्ति में बूड़े सब,
बिन अवलंब गुन-गौरव गहो नहीं;
पवन मलय की दीन दोषित दहो भो देह,
चित्त हू जलो जो दुःख कबहू बहो नहीं।

रतपुर-राज बलवंत के त्रिदिव जात,
सुमन सुखीजन पै आवत सह्यो नहीं;
आज अवनी पै अभिरूपन के आलय मैं,
मालव-मिहिर बिन मालव रह्यो नहीं।"
(महाकवि मिश्रण सूर्यमल)

रतलाम (मालवा) के महाराज बलवंतसिंह के परलोक-गमन पर कवि की यह श्रद्धांजलि है। परलोक-गमन आलंबन है, उनके औदार्यादि गुण की स्मृति उद्दीपन है। स्मृति, विषाद आदि संचारी और कवि के ये वाक्य अनुभाव हैं। और भी—

"कुंती कृष्ण राज देन कह्यो पै न लह्यो कर्न,
कह्यो जुद्ध-भार सीस काके धरि जाओं मैं;
वाको बल चीन्ह सुत बलिन बलीन होय[1],
दीनन सौं दीन भयो जो न बरिआओं मैं।
सब जन चेरो होय, कौन हितू मेरो मन,
दुःखन को घेरो घूमि कौन घर जाओं मैं;
कैसे टर जाओं उरअग्नि बरि जाओं कैधौं,
कूप परि जाओं विष खाय मर जाओं मैं।"
(स्वामी गणेशपुरीजी का कर्णपर्व)

---

1 कर्ण के बल पर मेरा पुत्र दुर्योधन सब बलवानों से बलवान् था, पर अब दीनों से भी दीन हो गया। यहाँ 'होय' का अर्थ है—'जो था वह अब।'

धन-वैभव-विनाश-जन्य करुण—

"सहस अठ्यासी स्वर्ग-पात्र में जिमातो ऋषि,
युधिष्ठिर और के अधीन अब पावै है;
अर्जुन त्रिलोक को जितैया भेष वनिता के,
नाटक-सदन बीच वनिता नचावै है।
राजा तू बकासुर हिडंब को करैया बध,
पाचक विराट को ह्वै रसोई पकावै है;
माद्री के सुवनधारी दोनों ही सुरूपमनि,
एक अश्व-बीच, एक गोधन चरावै है।"

(पांडवयशेंदुचंद्रिका)

विराट में भीमसेन के समक्ष कीचक की कुचेष्टाओं से दुःखित द्रौपदी का यह कारुणिक क्रंदन है। राज-भ्रष्ट युधिष्ठिरादि आलंबन हैं। कीचक की नीचता उद्दीपन है। द्रौपदी के ये वाक्य अनुभाव हैं। विषाद, चिंता और दैन्य आदि संचारी हैं। इनके संयोग से यहाँ करुण की व्यंजना है। किंतु—

"अंदर ते निकसीं न मंदिर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पायँ जाती हैं;
हवा हू न लागती, ते हवा तें बिहाल भईं,
लाखन की भीर में सँभारती न छाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हाय तारी चीर फारी मन झुँझलाती हैं;

ऐसी परीं नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं, ते बनासपाती खाती हैं ।"

यहाँ मुग़ल-सम्राटों की रमणियों की दीन-दशा के वर्णन में करुण की व्यंजना तो है, पर करुण-रस नहीं, क्योंकि प्रधानतः शिवराज के वीरत्व की प्रशंसा है । इसलिये यहाँ राज-विषयक रति-भाव प्रधान है, और यवन-रमणियों की कारुणिक दशा का वर्णन उसका अंग हो जाने से संचारी रूप में गौण है ।

(४) रौद्र रस

शत्रु की चेष्टा, मान-भंग, अपकार, गुरु जनों की निंदा आदि से रौद्र रस प्रकट होता है ।

स्थायीभाव—क्रोध ।

आलंबन—शत्रु एवं उसके पक्षवाले ।

उद्दीपन—शत्रु द्वारा किए गए अनिष्ट कार्य, अधिक्षेप और कठोर वाक्यों का प्रयोग आदि ।

अनुभाव—नेत्रों की रक्तता, भृकुटी-भंग, दाँत और होठों का चबाना, कठोर भाषण, अपने कार्यों की प्रशंसा, शस्त्रों का उठाना, क्रूरता से देखना, आक्षेप, आवेग, गर्जन, ताड़न, रोमांच, कंप तथा प्रस्वेद आदि ।

संचारी—मद, उग्रता, अमर्ष, स्मृति आदि चित्त-वृत्तियाँ ।

यद्यपि 'रौद्र' और 'वीर' में आलंबन विभाव समान हो

होते हैं, किंतु इनके स्थायी भाव में भेद है। रौद्र में 'क्रोध' स्थायी है, वीर में 'उत्साह'। इसके सिवा नेत्र एवं मुख का रक्त होना, कठोर वाक्य कहना, शस्त्र-प्रहार करना इत्यादि अनुभाव 'रौद्र' में ही होते हैं[1], 'वीर' में नहीं। उदाहरण—

पुरारि को प्रचंड यह खंचि कोदंड फेर,
भृकुटी मरोरि अब गर्व दिखरावै तू;
भ्रात की न बातु मन बातु है निसंक भयो,
कौसिक की कान हूँ न मान बतरावै तू।
देख! ये कुठार क्रूर कर्म हैं अपार याके,
कै कै अपमान विप्र जानि इतरावै तू;
छत्रिन पतत्रिनर ज्यों काटि की निछत्र मही,
क्यों रे छत्रिबाल भूलि काल हँकरावै तू।

धनुष-भंग के प्रसंग में लक्ष्मणजी के प्रति परशुरामजी के ये वाक्य हैं। श्रीराम-लक्ष्मण आलंबन हैं। धनुष-भंग और लक्ष्मणजी का निश्शंक उत्तर उद्दीपन हैं। परशुरामजी के वाक्य अनुभाव हैं। अमर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी हैं। इनके द्वारा यहाँ क्रोध स्थायी भाव की रौद्र रस में व्यंजना होती है।

और भी—

भीम कहैं प्यारी! सारी कौरवन नारिन कों,
रिक्त वेस भूखा मुक्त-केसा करि डारौंगो;

---

1 रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः। (साहित्यदर्पण, ३। २३१) 2 पक्षियों के समान।

उद्दीपन हैं। दाँत चबाना, पर्वतों को फेंकना आदि अनुभाव और उग्रता, अमर्ष आदि संचारी हैं। और भी—

"श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ¹ से जलने लगे;
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े';
करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठकर खड़े।
उस काल मारे क्षोभ¹ के तनु काँपने उनका लगा;
मानो पवन के जोर से सोता हुआ अजगर जगा।"
(जयद्रथ-वध)

यहाँ अभिमन्यु के वध पर कौरवों का हर्ष प्रकट करना आलंबन है। श्रीकृष्ण के वाक्य (जिनके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है) उद्दीपन हैं। अर्जुन के वाक्य अनुभाव हैं। अमर्ष, उग्रता और गर्व आदि संचारी हैं। इनके द्वारा रौद्र रस की व्यंजना है।

"नहिन ताड़का नारि, मैं न हर-धनुष दारुमय;
नहिन राम द्विज दीन, मृग न मारीच कनकमय।
बालि हौं न बनचर वराक, जड़ ताहि न जानहुँ;
खर दूषन त्रिसिरा सुबाहु पौरुष न प्रमानहुँ।
पायोधि हौं न बाँध्यो उपल, सबल सुरासुर-लाजकौ;
रन कुंभकर्न काकुस्थ रे! महाकाल हौं काल कौ।"
(नरहरिदासजी-कृत अवतार-चरित्र)

---

1 मूल पाठ 'क्रोध' है। क्रोध का रौद्र के उदाहरण में वहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाना ठीक न था।

हाँ श्रीरघुनाथजी आलंबन, राक्षसों का ...
कर्णं के तर्जन-युक्त ये वाक्य अनुभाव, उग्रता, अमर्ष
र गर्व आदि संचारी भावों से रौद्र रस ध्वनित होता है।

धनु हाथ लिए नृप मान-धनी अवलोकत हो पै कछू न कियो;
क-जीवन कर्न के आगे 'मुरार' पुकार के आपनो बैर लियो।
च-द्रौपदी पैंचनहार दुसासन को नख तैं जु विदार हियो।
त जात कह्यो अति आनँद आज मैं जीवित को रत-उष्ण पियो।"
(कविराज मुरारिदानजी)

यहाँ दुःशासन आलंबन, दुर्योधन और कर्ण का समक्ष
लेना उद्दीपन तथा स्मृति, उग्रता, गर्व और हर्ष आदि संचारी
और भीमसेन द्वारा रक्त-पान किया जाना अनुभाव हैं । यहाँ
रौद्र रस की व्यंजना है। किंतु—

सयुन के कुल-काल सुनी, धनु-भंग-धुनी उठि वेगि सिधाए।
याद कियो पितु के बध कों, फरकैं अधरा दग रक्त बनाए।
आगे परे धनु-खंड विलोकि, प्रचंड भए भृकुटीन चढ़ाए;
देखत श्रीरघुनायक कों भृगुनायक वंदत हौं सिर नाए।

ऐसे उदाहरण रौद्र रस के नहीं हो सकते । यद्यपि यहाँ
क्रोध के आलंबन श्रीरघुनाथजी हैं, धनुष का भंग होना उद्दीपन
है, होठों का फरकना आदि अनुभाव और पितृ-वध की स्मृति,
गर्व, उग्रतादि व्यभिचारी भाव इत्यादि रौद्र की सभी
सामग्री विद्यमान है, पर ये सब मुनि-विषयक रति भाव
... ... गए हैं—प्रधान नहीं । यहाँ कवि का अभीष्ट

परशुरामजी के प्रभाव के वर्णन द्वारा उनकी वंदना करने का है, अतः वही प्रधान है। 'क्रोध' स्थायी उसका अंग होकर गौण हो गया है।

(५) वीर-रस

वीर-रस का अत्यंत उत्साह से प्रादुर्भाव होता है।

वीर-रस के चार भेद हैं—(१) दान-वीर, (२) धर्म-वीर, (३) युद्ध-वीर और (४) दया-वीर। इनका स्थायी भाव तो उत्साह ही है। आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी चारों भेदों में पृथक्-पृथक् होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि 'वीर' पद का प्रयोग युद्ध-वीर-रस में ही होना समुचित है। किंतु साहित्यदर्पण और रसगंगाधर आदि में चारों ही भेद माने गए हैं।

दान-वीर

आलंबन—तीर्थ, याचक, पर्व और दान योग्य उत्कृष्ट पदार्थ आदि।

उद्दीपन—अन्य दाताओं के दान, दान-पात्र द्वारा की गई प्रशंसा आदि।

अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार, अपनी दातव्य शक्ति की प्रशंसा आदि।

संचारी—हर्ष, गर्व, मति आदि। उदाहरण—

शुभ कर्म का करतव्य रह है माँगने आए जिसे;
निज हाथ से भर भार करता गोद भी देता उसे।

बस, क्या हुआ फिर अधिक, घर पर आ गया अतिथी भले ;
हूँ दे रहा कुंडल तथा तन-त्राण तो अपने इसे।

ब्राह्मण के वेष में आए हुए इंद्र को अपने कुंडल और कवच देते हुए कर्ण की अपने निकटस्थ सभ्य जनों (जो इस कार्य से विस्मित हो रहे थे) के प्रति यह उक्ति है। यहाँ इंद्र आलंबन, उसके द्वारा की हुई कर्ण के दान की प्रशंसा उद्दीपन, कवच और कुंडल का दान और उनमें तुच्छ बुद्धि का होना अनुभाव और स्मृति आदि संचारी भावों से दानवीरता व्यक्त होती है। और भी—

तृन के परजंक सिला सुचि आसन आहि परे न बिछावनो है।
जल निर्भर सीतल पीइवे कों फल-मूलन को मधु खावनो है।
बिन माँगे मिलैं ये बिभौ बन में, पर एक बड़ो दुख पावनो है।
पर के उपकार बिना रहिबो यहाँ जीवन व्यर्थ गुमावनो है।
(नागानंद-नाटक से अनुवादित)

और भी—

"[1]देवक दानव दानी भए तिन याचक की मनसा प्रतिपाली ;
सोई सुजस्स जिहानि सुहावनु गावतु है 'मनराम' रसाली।
मैं जगदेव पमार प्रसिद्ध सराहति जाहि सबै पँगुसाधी ;
सीस को मेरे कहा गिनती सिर राखी रहै कलि में जो कँकाली।
(मनराम-कृत कविता-रसविनोद)

---

१ कंकाली-नामक भाटिनी ने जगदेव से भिक्षा में उसका सिर माँगा था। उस भाटिनी के प्रति जगदेव के ये वाक्य हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध जगदेव पमार की, कंकाली नाम की एक भाट का स्त्री के प्रति यह उक्ति है। यहाँ भी दान के उत्साह की व्यंजना है। किंतु—

> पद एकहि सातौं समुद्र सदीप कुलाचल नापि धरा में समायो ;
> पद दूसरे सों दिवि-लोक सबै, पद तीसरे कों न कहू जब पायो।
> हरि को स्मित मंद विलोकन पेखि तबै बलि ने हिय मोद बढ़ायो ;
> तन रोम उठे मन राखिबे को जब नापिबे को निज सीस झुकायो।

यद्यपि यहाँ भगवान् वामन आलंबन, उनका सस्मित देखना उद्दीपन, रोमांचादि अनुभाव एवं हर्षादि संचारी भावों से स्थायी भाव उत्साह को दान-वीर के रूप में व्यंजना होती है, पर यहाँ बलि राजा की प्रशंसा करना अभीष्ट है, और उस प्रशंसा का यह उत्साहात्मक वर्णन पोषक है। अतः राज-विषयक रति भाव ही यहाँ प्रधान है—उत्साह उसका अंग-मात्र है। यद्यपि पूर्वोक्त उदाहरण में भी कर्ण की प्रशंसा सूचित होती है, पर वहाँ कर्ण के वाक्य कवि द्वारा केवल दोहराए गए हैं—कवि द्वारा प्रशंसा नहीं, अतः वहाँ दान-वीर ही है।

और देखिए—

> 'बकसि वितुंड दए मुंडन-के-झुंड रिपु-
> मुंडन की मालिका त्यों दई त्रिपुरारी कों ;
> कहै 'पदमाकर' करोरन के कोष दए,
> षोडसहू दीन्हें महादान अधिकारी कों

ग्राम दए, धाम दए, अमित अराम दए,

अन्न-जल दीन्हें जगती के जीवधारी कों;

दाता जयसिंह दोय बात नहीं दीन्हीं कहूँ,

वैरिन को पीठि और दीठि परनारी कों।"

"संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि

तुरत लुटावत विलंब उर धारै ना;

कहै 'पदमाकर' सुहेम हय हाथिन के

हलके हजारन के वितर विचारै ना।

दीन्हें गज-बकस महीप रघुनाथराव,

याहि गज धोखै कहूँ काहू देय डारै ना;

याही डर गिरिजा गजानन को गोय रही,

गिरि ते गरें ते निज गोद तें उतारै ना।"

इन दोनों कवित्तों में दान-वीर की उत्कट *व्यंजना है, किंतु* दान का उत्साह, पहले में जयपुराधीश जयसिंह की और पिछले में राजा रघुनाथराव की प्रशंसा का पोषक है। अतः *राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है,* और उत्साह उसका अंग है—दान-वीर नहीं।

धर्म-वीर

महाभारत, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रंथ आलंबन, उनमें वर्णित धार्मिक इतिहास और फलस्तुति उद्दीपन, धर्माचरण, धर्म के लिये कष्ट सहन करना आदि अनुभाव और धृति, मति ... होते हैं।

धर्म-वीर का उदाहरण—

"और ते टेक धरी मन माँहि न छाँड़ि हौं कोऊ करौ बहुतेरो।
धाक यही है युधिष्ठिर की धन-धाम तजौं पै न बोलन फेरो।
मातु सहोदर औ' सुत नारि जु साथ विना तिहिं होय न बेरो,
हाथी तुरंगम औ' वसुधा यस जीवहु धर्म के काज है मेरो।"

(कुलपति मिश्र का रस रहस्य)

यहाँ महाराज युधिष्ठिर का धर्म-विषयक दृढ़ उत्साह स्थायी है। गर्व, हर्ष, धृति और मति आदि संचारी एवं ये वाक्य अनुभाव हैं। किंतु—

"श्रीदसरत्थ महीप के बैन को मानि मही मुनि वेष लयो है;
पै कछु खेद न कान्हों हिये 'लछिराम' सुवेद-पुरान बयो है।
सातहु दीपन के अवनीप प्रजा प्रतिपाल को रंग रयो है;
राम गरीब-निवाज को भूतल धर्म ही को अवतार भयो है।"

यद्यपि यहाँ पूर्वार्द्ध में धर्म-वीर की व्यंजना है, पर उत्तरार्द्ध में भगवान् श्रीरामचंद्र की धर्म-वीरता की जो प्रशंसा है, वही प्रधान है। अतः देव-विषयक रति-भाव का धर्मवीरत्व अंग हो गया है। 'महेश्वर-विलास' में लछिरामजी ने इसे धर्म-वीर के उदाहरण में लिखा है, पर वास्तव में 'धर्म-वीर' नहीं है।

युद्ध-वीर

आलंबन—शत्रु।
उद्दीपन—शत्रु का पराक्रम आदि।
अनुभाव—गर्व-सूचक वाक्य, रोमांच आदि।

यह भीष्मजी की उक्ति है। श्रीकृष्णार्जुन आलंबन हैं। श्रीकृष्ण को शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन है। भीष्मजी के ये वाक्य अनुभाव हैं, और गर्व, स्मृति, धृति आदि संचारी हैं। इसी प्रकार—

"गंग राजरानी को सुभट अभिमानी भट
भारत के बस मैं न भीषम कहाऊँ मैं;
जो पै सररेट चौं' दपेट रथ पारथ को,
लोकालोक परवत के पौर न बहाऊँ मैं।
'मिश्रजू' सुकवि रनधोर बीर भूमैं खरे,
कीन्हीं यह पैज ताहि सबको सुनाऊँ मैं;
कहो हौं पुकारि ललकारि महाभारत मैं,
आज हरि-हाथ जो न सस्त्र कौं गहाऊँ मैं।"

यहाँ भी वीर-रस की व्यंजना है—

"बल के उमंड भुज-दंड मेरे फरकत,
कठिन कोदंड खैंच मेल्यो चहैं बान तें।
चाह चलि चित्त मैं चढ़यो हो रहै जुद्ध-हित,
छूटै कब रावन जु बीसहू भुजान तें।
'ग्वाल' कवि मेरे इन हत्यन को सीघ्रपनो,
देखैंगे सुजुग्म जुग भुवित दिसान तें;
इसमाय कहा, होय जो पै तो सहस्र सब,
कोटि-कोटि मस्तन कौं काटौं एक बान तें।"

यह श्रीरघुनाथजी की उक्ति है। यहाँ रावण आलंबन,

वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारी हैं। इनके संयोग से वीर-रस की व्यंजना है। किंतु—

"जा दिन चढ़त दल साजि अवधूतसिंह,
ता दिन दिगंत लौं दुवन दाटियतु है,
प्रलै कैसे धाराधर धमकैं नगारा भूरि,
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है।
'भूषन' भनत भुवगोल को कहर तहाँ,
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है,
काच-से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी-सी बाँटियतु है।"

यद्यपि यहाँ उत्साह की व्यक्ति है, किंतु महाराजा शिवराज की प्रशंसा प्रधान है। अतः यहाँ उत्साह उस प्रशंसा का पोषक होकर गौण हो गया है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

दया-वीर

इसमें दयनीय व्यक्ति (दया का पात्र) आलंबन, उसकी दीन दशा उद्दीपन, दया-पात्र से सांत्वना के वाक्य कहना अनुभाव और धृति, हर्ष आदि व्यभिचारी होते हैं।

उदाहरण—

स्रवत रुधिर धमनीन सों मांसहु मो तन माहिं ;
तृपत प्रताप न गरुड़ तुहु भखत न क्यों अब याहि।
(नागनंद-नाटक से अनुवादित)

यहाँ रावण द्वारा अपमानित दया-पात्र विभीषण आलंबन है। सुग्रीव द्वारा कहलाए हुए विभीषण के दीन वाक्य उद्दीपन हैं। धृति, स्मृति आदि संचारी हैं, और श्रीरघुनाथजी के ये वाक्य अनुभाव हैं। किंतु—

"हेरि हहराय हाय-हाय कै करत हरा१,
  ससुरा न सास कौन मेटै दुख-माला कों;
पान है मसान सा बिकान कों धरे कों ध्यान,
  लेहै कौन लाला सिद्धबाला गजबाला कों।
वृश्चिक भुजंग गोधिकासजर से भक्ष्य-भक्ष्य,
  भूषन भरे हैं कैसें कारि हौं कसाला कों;
वाको दुख चीन्हौं नाहिं, चीन्हौं दुख देवन को,
  चीन्हौं हौं प्रमोद बस पीनो हरै हालाह कों।"
(स्वामी गणेशपुरीजी का कर्ण-पर्व)

यद्यपि यहाँ श्रीपार्वती के वाक्यों से अपने घर की दशा पर ध्यान न देकर देवतों की दीनता पर दया करके विष-पान करने में दया के उत्साह की व्यंजना अवश्य है, किंतु इसमें दया-वीर नहीं। यहाँ कवि का अभीष्ट श्रीशंकर की स्तुति करना है, अतः ऐसे वर्णनों में देव-विषयक रति (भक्ति) भाव ही प्रधान रहता है, और दया का उत्साह उसका पोषक होने से भक्ति का अंग हो जाता है।

---

१ श्रीपार्वतीजी। २ पोहिरा। ३ जोर्वकर। ४ ज़हर।

(६) भयानक रस

किसी बलवान् का अपराध करने पर या भयंकर वस्तु के देखने से यह उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—भय।

आलंबन—व्याघ्र आदि हिंसक जीव, शून्य स्थान, वन और शत्रु आदि।

उद्दीपन—निस्सहाय होना तथा शत्रु आदि की भयंकर चेष्टा आदि।

अनुभाव—स्वेद, वैवर्ण्य, कंप, रोमांच और गद्‌गद होना आदि।

संचारी—जुगुप्सा, त्रास, मोह, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, चिंता और आवेग आदि।

उदाहरण—

"कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है;
कुरुराज[1] चिंता-ग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए;
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए।"
(जयद्रथ-वध)

---

१ मूल-पाठ 'भय और' है। भयानक रस के उदाहरण में यहाँ भय का स्पष्ट कथन होना ठीक न होने के कारण विवशतया 'कुरुराज' पाठ कर दिया गया है।

अर्जुन की प्रतिज्ञा को सुनकर दुर्योधन के प्रति जयद्रथ के ये वाक्य हैं। अभिमन्यु के वध का अपराध और अर्जुन की प्रतिज्ञा आलंबन और उद्दीपन हैं। त्रास आदि व्यभिचारी और जयद्रथ का किंकर्तव्य-विमूढ़ होना, गात्र का जलना अनुभाव हैं। इनके द्वारा यहाँ भयानक रस की व्यंजना होती है।

"पवन-वेगमय वाहनवाली गर्जन करती हुई बढ़ी ;
उसी जगह से घन-माला-सम कौरव-सेना दीख पड़ी।
सूर्योदय होने पर दीपक हो जाता निष्प्रभ जैसे ;
उसे देखकर उत्तर का मुख शोभा-हीन हुआ तैसे।
बोला तब होकर१ कातर वह शक्ति भूल अपनी सारी ;
देखो-देखो वृहन्नले ! यह सेना है कैसी भारी।
मैं किस भाँति लड़ूँगा इससे, लौटाओ रथ-अश्व अभी ;
सैन्य-सहित तब पिता आयेंगे, होगा बस अब युद्ध तभी।"

वृहन्नला के रूप में अपने सारथी अर्जुन के प्रति विराट-राज के पुत्र उत्तरकुमार की यह उक्ति है। कौरव-सेना आलंबन है। उसका भयंकर दृश्य उद्दीपन है। वैवर्ण्य और गद्गद होना अनुभाव है। त्रास, दैन्य, आवेग आदि संचारी हैं। पहला उदाहरण अपराध-जनित भय का है, और यह भयंकर दृश्य-जनित भय का।

"सकट व्यूह भेद करि आयो है पार्थ जबै ,
युद्ध करि द्रौन हो ते याद करि वाको ;

१ यहाँ भी 'भय से' के स्थान पर 'होकर' किया गया है।

कुपित महान भयो रुद्र-सम रूप कियो,
धायो है समर पोथ गांडिव पिनाका सौं।
भनै कवि 'कृष्ण' भूमि-मुंडन सौं पाट भई,
मचौ-सौ उमडि चली सोनित घराका की;
कौरव के वीरन कौ छायो घहरान वारो,
देख फहरान भारी वानर-पताका की।"

अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। अर्जुन आलंबन है। उसके युद्ध का भयंकर दृश्य उद्दीपन है। स्मृति, त्रास आदि संचारी है। कौरव-सेना का हृदय घहराना अनुभाव है। किंतु—

"सूबनि साजि पठावत है नित फौज लखे मरहट्टन केरी;
औरँग आपुनि दुग्ग जमाति बिलोकत तेरिए फौज दरेरी।
साहितनै सिवसाहि भई भनि भूषन यों तुव धाक घनेरी;
रातहु द्योस दिलीस तकै तुव सेन कि सूरति सूरति घेरी।"

यहाँ शिवराज आलंबन है, उसके पराक्रम का स्मरण उद्दीपन, औरंगशाह को अपनी ही फ़ौज में शिवाजी की फ़ौज का भ्रम होना अनुभाव और त्रास, चिंता आदि व्यभिचारी भावों से भयानक रस की अभिव्यक्ति तो होती है, किंतु कविराज भूषण का अभीष्ट शिवाजी की स्तुति-वर्णन का है, अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है। औरंगज़ेब का भय-भीत होना उसको पुष्टि करता है, अतः वह अंगभूत है। ऐसे उदाहरणों में भयानक रस नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार—

"छूटे धाम धवल कँवल सुखवार छूटे,
छूटी पति-प्रीति गति छूटी जो कलीन में,
भनत 'प्रवीन बेनी' छूटे सुखपाल रथ,
छूटी सुखसेज सुख साहिबी नवीन में।
गाज़ुद्दी उजीर बीर रावरी अतंकु पाइ,
आजु दिन द्वै गई जु दीन जे परीन में,
कारी-कारी जामिनी में बैरिन की भामिनी ते,
दामिनी-सी दौरैं दुरी गिरि की दरीन में।"

यहाँ भी भयानक रस की सामग्री है। किंतु इसके द्वारा कवि कृत गाज़ुद्दीन की प्रशंसा की पुष्टि होती है, अतः राज-विषयक रति-भाव ही प्रधान है। 'नवरसतरंग' में इसे भयानक के उदाहरण में रक्खा है, पर भयानक है नहीं।

(७) बीभत्स रस

रुधिर, आँत आदि घृणित वस्तु देखने पर जो ग्लानि होती है, उसी से यह उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—जुगुप्सा (ग्लानि)।

आलंबन—दुर्गंधित मांस, रुधिर, चर्बी, वमन आदि।

उद्दीपन—मांसादि में कीड़े पड़ जाना आदि।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मूँद लेना आदि।

व्यभिचारी—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि एवं मरण आदि।

उदाहरण—

"अति तान तें खसि पसीजन सों करै मेद की बूँदन जो टपकावैं;
तिन धूम धुमारिनु ज्वालनि सों ये पिसाच चितानु सों खैंचि के खावैं।
रिरियाइ खस्यो अधि मांस सबै विदिसों जुग संधिनु मिस चबावैं;
यह अंपनगोचर मसान मिलो, सब ही यहवो परवो-सो मनावैं।"

(श्रीसत्यनारायण का मालतीमाधव)

अर्द्धदग्ध मृतकों का दृश्य आलंबन और उद्दीपन है। इस दृश्य का देखा जाना अनुभाव और मोह आदि संचारी हैं। और भी—

"सिर पै बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत;
खींचत जीभहि स्यार अतिहि आनँद उर धारत।
गिद्ध जाँघ को खोदि-खोदिकै मांस उपारत;
स्वान आँगुरिन काटि-काटिकै खात विदारत।
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद भरयो सबको हियो;
मनु ब्रह्मभोज जिजमान कोउ आज भिखारिन कहँ दियो।"

(भारतेंदुजी का सत्यहरिश्चंद्र)

यहाँ श्मशान का दृश्य आलंबन, और मृतकों के अंगों का काकादि द्वारा खाया जाना उद्दीपन इत्यादि से बीभत्स रस की व्यंजना है।

"इतहि प्रचंड रघुनंदन उदंड भुज,
उतै दसकंठ बढ़ि आयो दल डारिकै;
'सोमनाथ' कहै रन मंड्यो फर मंडल में,
माच्यो रन स्रोनित सों अंगन पखारिकै।

मेद गूद चाखो की कीच मची मेदनी मैं,
बीच-बीच सोहैं भूत भैरों मद चाखिकै ;
चामनि सों चंडिका चबाति चंड-मुंडनि कों,
दंतनि सों अंतनि निचोरैं किलकारिकै।"

(रसपीयूष)

किंतु—

दृग कावरि है अघ-मोचन को सब सोचन को यह गागरि है ;
अस तुच्छ कलेवर कों सक-चंदन भूषन साजि कहा करि है।
मल-मूतन कीच गलीच जहाँ कृमि आकुल पीब भँडारि है ;
दिन वे किन याद करे ! घिन कै अब सूकर कूकर हू फिरि है।

यद्यपि यहाँ बीभत्स की व्यंजना है, किंतु मनुष्य-शरीर की घृणास्पद अंतिम अवस्था के वर्णन से वैराग्य की पुष्टि की गई है, अतः शांत रस प्रधान है, और बीभत्स उसका अंग है।

इसी प्रकार—

"व्यापत गलानि जो बखान करौं ज्यादा यह,
मादा-मल-मूत औ' मज्जा की सलीती है ;
कहै 'पद्माकर' जराती जागि भीजी तब ,
छीजी दिन-रैन जैसे रेनु ही की भीती है।
सीतापति राम में सनेह यदि पूरो कियो ,
तौ तो दिव्य देह जम-जातना सों बीती है ;
रीती राम-नाम तें रही जो बिना काम वह ,
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।"

इसमें मनुष्य-शरीर ...
दरण रस नहीं है। यहाँ जुगुप्सा स्थायी न रहकर ...
गया है, क्योंकि शरीर की बीभत्सता बताकर राम-भक्ति को प्रधानता दी गई है, अतः देव-विषयक रति-भाव ही है। और—

"भूत पिशाच चौंच करि रन-मंडल में,
घूमा नहिं फूटो बकसा के दरबारे में;
काटे भट विकट गजन के सुंड काटे,
पाटे हारि भूमि काटे दुवन सिवारे में।
'भूषन' भनत चैन उपजे सिवा के चित्त,
चौसठ नचाई जबै रेवा के किनारे में;
आँतन की ताँत बाजी, खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में।"

यहाँ भी जुगुप्सा की व्यंजना है। किंतु वह संचारी भाव होकर महाराज शिवाजी के प्रताप के वर्णन का अंगभूत हो गया है, अतः राज-विषयक रति-भाव है—बीभत्स रस नहीं। किंतु—

"चटकत बाँस कहुँ जरत दिखात चिता,
मज्जा-मेद-बास मिल्यो गंधवाह[1] गहिए।
काहू थल आँति-पाँति दग्ध देह की दिखात,
नील-पीत ज्वाल-पुंज भाँति बहु लहिए।

---

१ पवन।

केतिक कराल गीध चील्ह मांस जात रूप
मांसहारी जीवन जमात जकि थिनिए,
ऐसे समसान माँहि शांत हेतु शब्द यही
राम-नाम सत्य है, श्रीराम-नाम कहिए।"

यद्यपि चौथे चरण में शांत के विभावों का वर्णन है, पर शांत रस के अनुभाव और व्यभिचारियों द्वारा इसकी पुष्टि नहीं की गई है, अतः ऐसे वर्णनों में बीभत्स को ही प्रधान समझना उचित है।

(८) अद्भुत रस

आश्चर्य-जनक विचित्र वस्तुओं के देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है।

स्थायी भाव—विस्मय।

आलंबन—अलौकिक, अदृश्य पूर्व आश्चर्य-जनक वस्तु।

उद्दीपन—उसकी विवेचना।

अनुभाव—स्तंभ, स्वेद, रोमांच और गद्गद होना, अनिमिष देखना और संभ्रम आदि।

संचारी—वितर्क, आवेग, भ्रांति और हर्ष आदि।

उदाहरण—

जदुनाथ सों माँगि बिदा करदे मग माँहि अनेक बिचार फुरे चित ;
सिख भौन हवो यहँ मंदिर चारु पुरंदर हू अभिलाषित को चित।
मनि-खंभ रु विद्रुम देहरी त्यों गज-मोतिन बंदनवार परे बित ;
चकि चौंकि के चित्र भयो यह है सपनो अथवा छवि साँचो परे इत।

यहाँ द्वारिका से लौटकर आने पर सुदामाजी का अपने घर का न पहचानना आलंबन, अलौकिक विभव-संपन्न भवन का वहाँ होना उद्दीपन, वितर्क आदि संचारी हैं। इनसे विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस में व्यक्त होता है।

और भी—

गोपों पै जलधार जब बरसा कोपित होके तभी,
जो चाहा ब्रज इंद्र ने सलिल से सारा डुबाना सभी।
तो ऐसा गिरिराज वाम कर से ऊँचा उठाके यहीं!
जाना था किसने कि गोप-शिशु ये रक्षा करेगा कहीं!

यहाँ गोवर्धनधारी श्रीनंदनंदन आलंबन हैं। उनका अविचल स्थिर रहना उद्दीपन है। ब्रजवासियों के ये वाक्य अनुभाव हैं और वितर्क, हर्ष आदि संचारी हैं। इनके संयोग से यहाँ अद्भुत रस की व्यंजना है।

और भी—

"ब्रज मथुरा निज धाम करि फिरि ब्रज-लखि फिरि धाम।
फिरि इत लखि फिरि उत लखे ठगि बिरंचि तिहि ठाम।"

वत्स-हरण के समय ब्रह्मा द्वारा गोपकुमार और बछड़ों को ब्रह्म-धाम में छोड़ आने पर भी श्रीकृष्ण के पास उनको देखकर ब्रह्मा को विस्मय होने में अद्भुत रस की व्यंजना है।

"वाही पै संधान बान गांडीव पै अर्जुन को,
वाही पै अप्सर [illegible] चंचल [illegible] हैं।

रूप रंग भूषन जे बसन निहारत ही,
छिन ही में और ही से और दिखरात हैं।
मेरो ही बायो है कैधों और को बायो है ऐसो,
बस्त्र बिन बस्त्र ही में द्रव्य लखि पात है।
याही ब्याल बीच है विहाल सुर-बाल डारैं,
सेत फूल माल काल-जाल भई जात है।"
(पांडवयशेंदुचंद्रिका)

यहाँ अर्जुन के बाणों से स्वर्गगामी होनेवाले वीरों के हृदय में, सुरांगनाओं के हृदय में अद्भुत रस की व्यंजना है।

"दुवन दुसासन दुकूल गह्यो दीनबंधु!
दीन ह्वैके द्रुपद-कुमारी यों पुकारी है,
छाँड़े पुरुषारथ को ठाढ़े पिय पारथ से
भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है;
अंबर तो अंबर अमर किया 'बंसीधर'
भीषम करन द्रोन सोभा यों निहारी है।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है कि
सारी ही की नारी है कि सारी है कि नारी है।"

यहाँ द्रौपदी के चीर-हरण के समय वस्त्र-वृद्धि को देखकर भीष्मादि के चित्त में अद्भुत रस की व्यंजना है। किंतु—

आवे ऊपर को अहो ऊपर के नीचे जहाँ से छूटी,
है पैरी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती।

देखो भू गिरती हुई सगरों को स्वर्गगामी किए ;
स्वर्गारोहण-मार्ग जो कि इनके क्या ही अनोखे नए।

ऐसे उदाहरणों में अद्भुत रस नहीं, क्योंकि यहाँ श्रीगंगा की महिमा का वर्णन किया जाने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है; विस्मय व्यभिचारी अवस्था में उसका अंग है। इसी प्रकार—

"सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं,
जाहि अनादि अखंड अनंत अभेद अछेद सुवेद बतावैं,
नारद से सुक व्यास रहे पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं;
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया-भरी छाछ पै नाच नचावैं।"

यहाँ भी चतुर्थ चरण में विस्मय की अभिव्यक्ति होने पर भी वह प्रधान नहीं। भगवान् की भक्त-वत्सलता का वर्णन होने से देव-विषयक रति-भाव ही प्रधान है, और विस्मय-भाव उसी का पोषक होने से अंगभूत है।

(६) शांत रस

तत्त्व-ज्ञान और वैराग्य से शांत रस उत्पन्न होता है।

स्थायी भाव—निर्वेद या शम।

आलंबन—अनित्य रूप संसार की असारता का ज्ञान या परमात्म-चिंतन।

उद्दीपन—ऋषि जनों के आश्रम, गंगा आदि पवित्र तीर्थ, एकांत वन, सत्संग आदि।

अनुभाव—रोमांच, संसार-भीरुता, अध्यात्म-शास्त्र का चिंतन आदि।

संचारी—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति आदि।

काव्यप्रकाश में 'शांत' रस का स्थायी निर्वेद माना गया है। मम्मटाचार्य का मत है कि जो तत्व-ज्ञान से निर्वेद होता है, वह स्थायी भाव है, और जो इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण निर्वेद होता है, वह संचारी है[1]। नाट्य-शास्त्र में शांत रस का स्थायी भाव 'शम' माना गया है।

साहित्यदर्पण में शांत रस की स्पष्टता करते हुए कहा है—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा ;
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।'

अर्थात् जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिंता हो, न राग-द्वेष हो, और न कोई इच्छा ही हो, उसे शांत रस कहते हैं। यहाँ शंका हो सकती है कि यदि शांत रस का यह स्वरूप मान लिया जायगा, तो शांत रस की स्थिति मोक्ष-दशा में ही हो सकेगी, और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान होना असंभव हो जायगा। फिर विभाव, अनुभाव, चारी आदि के द्वारा शांत रस की सिद्धि किस प्रकार मानी जा सकती है? इसका समाधान यह किया गया है कि युक्त[2]

---

[1] "स्थायी स्यादिषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद्यदि ; इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ" काव्यप्रकाश, वामनाचार्य टीका, पृष्ठ ११८।

[2] रूप, रस आदि विषयों से मन को हटाकर ध्यान-मग्न योगी को युक्त कहते हैं।

वियुक्त[1] और युक्त-वियुक्त[2] दशा में जो 'शम' रहता है, वही स्थायी होकर शांत रस में परिणत हो जाता है, और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान भी संभव है। यहाँ मोह-दशा या निर्विकल्पक समाधि का शम अभीष्ट नहीं है।

शांत रस में जो सुख का अभाव कहा गया है, वह विषय-जन्य सुख का अभाव है, न कि सभी प्रकार के सुखों का अभाव। क्योंकि—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।"

अर्थात् संसार में जो विषय-जन्य सुख हैं, तथैव स्वर्गीय महासुख हैं, वे सब मिलकर भी तृष्णा-क्षय (शांति) से उत्पन्न होनेवाले सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं हो सकते। अतएव 'शम' अवस्था में सुख अवश्य होता है, और वह अनिर्वचनीय होता है। शांत का उदाहरण—

"आनि पर्यो मोकों जग जनत अखिल यह
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहन है,

---

१ जिसे योग-बल से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हैं, और समाधि-भावना करते ही सब पार्थिव वस्तुओं का ज्ञान अंतःकरण में भान होने लगता है, उस योगी को वियुक्त कहते हैं। २ जिसके नेत्र आदि सब इंद्रियाँ बहुत और अद्भुत कर आदि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न करके सब परोक्षिय विषयों का साक्षात् कर सकती हैं, उस योगी को युक्त-वियुक्त कहते हैं।

याते परिवार व्यवहार भीत हारादिक
त्याग करि, सबही विकसि रह्यो मन है।
'ग्वाल' कवि कहै मोह काहू मैं रह्यो न मेरो
क्योंकि काहू के न संग गयो तन-धन है;
कीन्हौं मैं विचार एक ईश्वर ही सत्य नित्य
अचल अपार चारु चिदानंदघन है।"

यहाँ जगत् की अनित्यता आलंबन है। किसी में मोह न रहना अनुभाव है। मति आदि संचारी भाव हैं। इनके द्वारा शांत रस ध्वनित होता है।

और भी—

व्याल सौं न भीति प्रीति मोतिन की माल सौं न
जैसो रन बैर तैसो छोहहू प्रमानौं मैं,
कुसुम बिछान त्यों पखान हू समान मेरे
मित्र और सत्रु में न भेद कछु जानौं मैं।
तृन कों न दुःख, नहिं सुख कौं तरुनी कौं
राग और द्वेष को न लेस चित आनौं मैं।
कोऊ पुन्यारन्य माँहि मेरे यह बीस बीती
बीतौं या और एक सिव-सिव बखानौं मैं।

यहाँ प्रिय-अप्रिय, राग-द्वेष आदि में समदृष्टि होने के कारण शांत रस की व्यंजना है। जिस संस्कृत-पद्य का यह अनुवाद है, उसे काव्यप्रकाश में शांत रस के उदाहरण में लिखा है।

वियुक्त[1] और युक्त-वियुक्त[2] दशा में जो 'शम' रहता है, वही स्थायी होकर शांत रस में परिणत हो जाता है, और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान भी सम्भव है। यहाँ मोक्ष-दशा या निर्विकल्पक समाधि का शम अभीष्ट नहीं है।

शांत रस में जो सुख का अभाव कहा गया है, वह विषय-जन्य सुख का अभाव है, न कि सभी प्रकार के सुखों का अभाव। क्योंकि—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥"

अर्थात् संसार में जो विषय-जन्य सुख हैं, तथैव स्वर्गीय महासुख हैं, वे सब मिलकर भी तृष्णा-क्षय (शांति) से उत्पन्न होनेवाले सुख के सोलहवें अंश के समान भी नहीं हो सकते। अतएव 'शम' अवस्था में सुख अवश्य होता है, और वह अनिर्वचनीय होता है। शांत का उदाहरण—

"आनि परयो मोकों अब असत अखिल यह
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहन है,

---

१ जिसे योग-बल से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त हैं, और समाधि-भावना करते ही सब वांछित वस्तुओं का ज्ञान अंतःकरण में भान होने लगता है, उस योगी को वियुक्त कहते हैं। २ जिसको ... महत्त्व और अद्भुत कर्म आदि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयों का साक्षात् कर

।

याते परिवार व्यवहार प्रीत इत्यादिक
त्याग करि, सबही बिकसि रह्यो मन है।
'रसाल' कवि कहै मोह काहू मैं रह्यो न मेरो
क्योंकि काहू के न संग गयो तन-धन है,
कीन्हों मैं विचार एक ईश्वर ही सत्य नित्य
अखण्ड अपार चारु चिदानंदघन है।"

यहाँ जगत् की अनित्यता आलंबन है। किसी में मोह न रहना अनुभाव है। मति आदि संचारी भाव हैं। इनके द्वारा शांत रस ध्वनित होता है।

और भी—

ब्याल सौं न भीति प्रीति मोतिन की माल सौं न
जैसो रत्न ढेर तैसो ढोहू मसानों मैं,
फूलन बिछावन त्यों पखान हू समान मेरे
मित्र और सत्रु में न भेद कछु जानौं मैं।
तृन कौं न तुच्छ, नहिं लच्छ करौं तरुनी कौं
राग और द्वेष को न लेस चित आनौं मैं।
कोऊ पुन्यारन्य माँहि मेरे यह दीस बीतौ
बीतौं या और एक सिव-सिव बखानौ मैं।

यहाँ प्रिय-अप्रिय, राग-द्वेष आदि में समदृष्टि होने के कारण शांत रस की व्यंजना है। जिस संस्कृत-पद्य का यह अनुवाद है, वह काव्यप्रकाश में शांत रस के उदाहरण में लिखा है।

नागोजी भट्ट[१] और क्षेमेंद्र[२] कहते हैं कि 'समदृष्टि के लिये सभी स्थल शिवमय हैं, फिर पुण्यारण्य की ही इच्छा इस अवस्था के (समदृष्टि के) प्रतिकूल होने से यहाँ अनौचित्य है।' हमारे विचार में इसके द्वारा निर्वेद या वैराग्य की व्यंजना में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, प्रत्युत पुण्यारण्य का सेवन और शिव-शिव की रटन तो विरक्तावस्था के अनुकूल ही है। केवल विषय-सुख और दुःख के विषय में ही समदृष्टि की आवश्यकता है। अतएव यहाँ अनौचित्य नहीं। और भी—

"हाथी न साथी न घोरे न चेरे न गाँव न ठाँव को नाम बिलै है,
तात न मात न मित्र न पुत्र न वित्त न अंग के संग रहै हैं।
'केसव' काम को राम बिसारत और निकाम ते काम न ऐहैं।
चेत रे चेत अजौं चित अंतर अंतक लोक इकेलो ही जैहैं।"

यहाँ भी विभावादिकों से शांत रस है। कहीं-कहीं निर्वेद के विभावादि की स्थिति होने पर भी शांत रस नहीं होता। जैसे—

सुरसरि-तट इग मूँदि सब विषयन विष-सम जान।
कब निमग्न ह्वै हौं मधुर नील जलज-छवि ध्यान।

यद्यपि यहाँ विषयों के तिरस्कार आदि के द्वारा पूर्वार्द्ध में निर्वेद की व्यंजना है, किंतु कवि का अभीष्ट भगवान् कृष्ण में प्रेम-सूचन करना ही है। अतः शांत रस नहीं, देव-विषयक रति

१ देखिए, शांत रस के इस उदाहरण की काव्यप्रकाश की उद्योत
२ औचित्यविचारचर्चा, काव्यमाला, प्रथम गुच्छक, पृष्ठ ११३।

(भक्ति) भाव प्रधान है, और निर्वेद संचारी अवस्था में उसका पोषक है। इसी प्रकार—

"या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ;
आठहु सिद्धि नवौं निधि को, सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।
'रसखान' कबौं इन लोचन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ;
कोटि करौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।"

ऐसे वर्णनों में भी देव-विषयक रति भाव (भक्ति) ही प्रधान है, न कि शांत रस। और—

"बैठि सदा सतसंगहि में विषमान बिषै रस कीर्ति सदाहीं ;
त्यों 'पद्माकर' झूठि जितौ जग जानि सुज्ञानहि कों अवगाहीं।
नाक की नोंक में दीठि दिए नित चाहैं न चीज कहूँ चित चाही ;
संतत संत सिरोमनि है धन हैं धन वे जन वेपरवाही।"

जगद्विनोद में कवि ने इसे *शांत* के *उदाहरण में लिखा* है। किंतु यहाँ तीन चरणों में जो वैराग्य की व्यंजना है, वह चौथे चरण में संत जनों की महिमा का अंग हो जाने से मुनि-विषयक रति भाव है, न कि शांत रस।

शांत रस और दया-वीर रस में यह भेद है कि दया-वीरता में देहादि का अभिमान रहता है, किंतु शांत में अहंकार का आभास भी नहीं होता है। यदि दया-वीर, धर्म-वीर और देव-विषयक रति भाव, सब प्रकार के अहंकारों से शून्य हो जायँ, तो वे शांत रस के अंतर्गत आ सकते हैं।

हास्य और बीभत्स रस के आश्रय।

रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद
स्थायी भावों के आलंबन और आश्रय दोनों की ही प्रतीति हो
है। जैसे शृंगार-रस में शकुंतला-विषयक दुष्यंत की रति
शकुंतला आलंबन और दुष्यंत रति का आश्रय है, और दो
की ही प्रतीति होती है। परंतु हास्य और जुगुप्सा में केव
आलंबन की ही प्रतीति होती है—आश्रय की नहीं। अर्था
जिसे देखकर हास और घृणा उत्पन्न होती है, प्रायः उसी क
वर्णन होता है—जिस व्यक्ति के हृदय में हास और घृणा उत्पन
होती है, उस (आश्रय) का प्रायः वर्णन नहीं होता। पंडित
राज जगन्नाथ का[१] इस विषय में यह कहना है कि हास औ
जुगुप्सा में आश्रय के लिये काव्य के पाठक और श्रोता य
नाटक के दर्शक किसी व्यक्ति का आक्षेप कर लेते हैं। यदि
किसी व्यक्ति का आक्षेप न भी किया जाय, तो पाठकों,
श्रोताओं या दर्शकों को ही आश्रय मान लेना चाहिए। यदि यह
कहा जाय कि पाठक, श्रोता या दर्शक तो अलौकिक रस
के आस्वाद के आनंद का अनुभव करनेवाले हैं (अर्थात्
आस्वाद के आधार हैं), और इसलिये लौकिक हास और
जुगुप्सा के वे आश्रय कैसे हो सकते हैं? तो इसका उत्तर
यह है कि जिस प्रकार श्रोता आदि को अपनी स्त्री-संबंधी
वर्णनात्मक काव्य से रसास्वाद होता है (अर्थात् लौकिक
रस का जो आश्रय है, वही अलौकिक रस को आस्वाद

[१] देखिए, रसगंगाधर, पृष्ठ ४४।

करनेवाला भी है), इसी प्रकार हास और जुगुप्सा में भी आश्रय और रसानुभवी एक ही मान लेने में कोई आपत्ति नहीं।

रसों का पारस्परिक संबंध

एक रस का दूसरे रस के साथ कहीं पर विरोध और कहीं पर अविरोध (मैत्री) होता है।

पारस्परिक विरोध

साहित्य-दर्पण के अनुसार—

शृंगार के विरोधी करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक हैं।

हास्य के विरोधी भयानक और करुण हैं।

करुण के विरोधी हास्य और शृंगार हैं।

रौद्र के विरोधी हास्य, शृंगार और भयानक हैं।

भयानक के विरोधी हास्य, शृंगार, वीर, रौद्र और शांत हैं।

शांत के विरोधी रौद्र, शृंगार, हास्य, भयानक और वीर हैं।

बीभत्स का विरोधी शृंगार है।

वीर के विरोधी भयानक और शांत हैं।

रसों का पारस्परिक विरोध तीन प्रकार से हुआ करता है—

(१) एक आलंबन विरोध—अर्थात् एक से अधिक रसों का केवल एक ही आलंबन होने के कारण विरोध।

(२) एक आश्रय विरोध—अर्थात् एक से अधिक रसों का केवल एक ही आश्रय होने के कारण विरोध।

(३) नैरंतर विरोध—अर्थात् दो विरोधी रसों के बीच में किसी तीसरे अविरोधी रस की व्यंजना न होने से विरोध।

एक आलंबन विरोध—

वीर का शृंगार के साथ एक आलंबन में विरोध है। क्योंकि जिस आलंबन के कारण शृंगार-रस उत्पन्न होता है, उसी आलंबन के कारण वीर-रस के उत्पन्न होने में दोनों ही रस आस्वादनीय नहीं रह सकते।

रौद्र, वीर और बीभत्स के साथ संभोग-शृंगार का एक आलंबन में विरोध है, क्योंकि जिसके साथ प्रेम-व्यापार हो रहा हो, उस पर क्रोध और घृणा होने पर शृंगार का आस्वाद नहीं रह सकता--रस-भंग हो जाता है।

विप्रलंभ-शृंगार का भी वीर, करुण, रौद्र एवं भयानक के साथ एक आलंबन के कारण एक प्रकार से विरोध है।

एक आश्रय विरोध—

वीर-रस का भयानक के साथ एक आश्रय में विरोध है, क्योंकि निर्भीक और उत्साही पुरुष वीर होता है, उसमें यदि भय उत्पन्न हो, तो वीरत्व कहाँ ?

नैरंतर विरोध—

शांत का शृंगार के साथ।

पारस्परिक अविरोध अर्थात् मैत्री

वीर-रस का अद्भुत एवं रौद्र के साथ, शृंगार का अद्भुत

के साथ, भयानक का बीभत्स के साथ अविरोध (मैत्री) है, क्योंकि इनका तक तीनों ही प्रकार से विरोध नहीं—इनका एक अवलंबन, एक आश्रय और नैरंतर समावेश हो सकता है।

रसों के विरोधाविरोध के विषय में कुछ आचार्यों का मत-भेद प्रतीत होता है, किंतु वास्तव में कोई विरोध नहीं है। किसी आचार्य ने 'एक अवलंबन' को, किसी ने 'एक आश्रय' को और किसी ने 'नैरंतर' को लक्ष्य में रखकर रसों की एकत्र स्थिति में विरोधाविरोध बतलाया है।

रसों के विरोधाविरोध-प्रकरण में 'रस' पद से स्थायी भाव समझना चाहिए, क्योंकि रस तो वेद्यांतरसंपर्क-शून्य है। अर्थात् रसास्वाद के समय अन्य किसी की प्रतीति नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में विरोध होना संभव नहीं। अतः स्थायी भावों का ही विरोध होता है[1]। इसी प्रकार एक रस दूसरे रस का अंग भी नहीं हो सकता। अतएव जहाँ-जहाँ एक रस दूसरे रस का अंग कहा गया है, या आगे कहा जायगा, वहाँ उस रस का स्थायी भाव ही समझना चाहिए[2]।

रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध की विवेचना इसलिये

---

१ 'रसशब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते'—काव्यप्रकाश, वामनाचार्य, पृष्ठ २२८; और प्रदीप उद्योत टीका, आनंदाश्रम सं०, पृष्ठ ३००-३०८। २ 'भावांतरेऽपि रसादौ स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोपलक्ष्यन्ते तेषामङ्गित्वेनाविरोधित्वमेव'—लम्पालोक, पृष्ठ १०९।

आवश्यक है कि विरोधी रस की सामग्रियों के वर्णन से उस (विरोधी) रस की व्यंजना होने लगती है, जिससे वर्णनीय रस का आस्वाद नष्ट हो जाता है, या दोनों रस ही नष्ट हो जाते हैं।

रसों के पारस्परिक विरोध का परिहार

(१) जिन रसों की एक आलंबन में अभिव्यक्ति होने के कारण विरोध होता है, उन रसों के पृथक्-पृथक् आलंबन होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

> निरखत सिय-मुख-कमल छवि रघुवर बारहिं बार,
> निसिचर-दल-कलकल सुनत बाँधत जटा सँभार।

यहाँ शृंगार और वीर दो परस्पर विरोधी रसों का आश्रय तो एक श्रीरामचंद्र ही हैं, किंतु शृंगार-रस का आलंबन श्री-जनक-नंदिनी हैं, और वीर-रस का आलंबन राक्षस-सेना। यहाँ पृथक्-पृथक् आलंबन होने के कारण विरोध नहीं रहा है।

जिन रसों की एक आश्रय में स्थिति होने के कारण विरोध होता है, वहाँ आश्रय-भेद (पृथक्-पृथक् आश्रय) होने पर विरोध नहीं रहता है। जैसे—

> धनुष चढ़ावत तोहि लखि सम्मुख रन-भुवि माय,
> मृगगन जिमि मृगराज ढिग अरिजन बारहिं पलाय।

यहाँ वीर और भयानक दो परस्पर में विरोधी रसों का वर्णनीय राजा है, किंतु विरोध नहीं। क्योंकि धनुष

का आश्रय वर्णनीय राजा है, और भय का आश्रय है उस राजा के शत्रुगण। अतः आश्रय-भेद होने के कारण विरोध नहीं रहा है। और भी—

"इतैं वे निकारैं परमाला रतन संपुट सौं
इतैं चलै तून तें निकारत ही बान के,
उतैं देव-बधू मान-ग्रंथि कों सँधान करैं
गांडीव की मुरवी पै होत ही सँधान के।
इतैं आवैं कोप की कटाच्छ भरे नैन परैं
उतैं भर काम के कटाच्छ प्रेम-पान के,
मारिबे को बरिबे को दोनो एक साथ चलैं
इतैं पार्थ-हाथ उतैं हाथ अपच्छरान के।"

(पांडवयशेंदुचंद्रिका)

यहाँ रौद्र और शृंगार दोनों विरोधी रसों का एक ही आलंबन, कौरव-सेना के वीर पुरुष, किंतु रौद्र का आश्रय अर्जुन है और शृंगार का आश्रय देवांगनाएँ। अतः आश्रय-भेद हो जाने से दोष नहीं रहा है।

(२) नैरंतर विरोधी रसों के बीच में किसी ऐसे तीसरे तटस्थ रस का, जो दोनों का विरोधी न हो, समावेश किया जाने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे—

कामिनि सुरतिय सौं बध विमान-चित बीर,
बिरखत स्यारन सौं घिरे रन बिच परे सरीर।

युद्ध में मरने के बाद स्वर्ग प्राप्त होने पर देवांगनाओं के

साथ विमान में स्थित वीर जनों का यह वर्णन है। यहाँ पूर्वार्द्ध में देवांगना आलंबन है, अतः शृंगार-रस है। उत्तरार्द्ध में उन राजाओं के मृतक शरीर आलंबन हैं, अतः बीभत्स है। यद्यपि शृंगार और बीभत्स, परस्पर विरोधी रसों का समावेश है, किंतु इन दोनो के बीच में निरशंक प्राण त्यागने की ध्वनि निकलती है, जिससे वीर-रस का आक्षेप हो जाता है, अर्थात् वीर-रस की प्रतीति हो जाती है। वीर-रस इन दोनो का विरोधी नहीं—उदासीन है। अर्थात् शृंगार-रस के आस्वाद में रुकावट पैदा करनेवाले बीभत्स के पहले वीर-रस का आस्वादन हो जाता है, अतः विरोध नहीं रहता।

स्मरण किए गए विरोधी रस का किसी दूसरे रस के साथ समावेश हो जाना; परस्पर में विरोधी दो रसों का साम्य विवक्षित होना, अर्थात् दोनो विरोधी रसों की समान रूप से व्यंजना होना; परस्पर में विरोधी रसों में एक रस का दूसरे रस या भाव का अंग हो जाना; या दोनो ही रसों का किसी अन्य रस या भाव आदि के अंग हो जाना, और वर्णनीय रस के विभावों द्वारा विरोधी रस के विभावों का बाधित हो जाना इत्यादि करणों से भी विरोध का परिहार हो जाता है।

(१) स्मर्यमाण विरोधी रस के कारण परिहार।

कहि - कहि मृदु मीठे बचन रस की बिवस डार,
सम्मुख आ क्यों करत नहिं, प्रिये! आज सत्कार।

मृत नायिका के समक्ष ये नायक के वाक्य हैं। नायिका के

विषय में शृंगार-रस की व्यंजना है, और साथ ही मृतक नायिका-आलंबन, अश्रुपातादि अनुभाव और आवेग, विषाद आदि संचारी भावों से करुण रस की व्यंजना है। शृंगार और करुण विरोधी रसों का समावेश है। किंतु यहाँ शृंगार-रस का स्मरण-मात्र है, अतः विरोध नहीं।

इसी प्रकार—

"है याद उस दिन की गिरा तुमने कही थी मधुमयी;
जब नेत्र कौतुक से तुम्हारे मूँदकर मैं रह गयी।
'यह करतल-स्पर्शन प्रिये! मुझसे न छिप सकता कहीं',
फिर इस समय क्या नाथ! मेरे हाथ वे ही हैं नहीं।"

(जयद्रथ-वध)

मृत अभिमन्यु के समीप उत्तरा का यह कारुणिक क्रंदन है। ऊपर के पद्य के अनुसार यहाँ भी करुण के साथ विरोधी शृंगार-रस का स्मरण-मात्र है।

(४) साम्य विवक्षित होने के कारण परिहार। जैसे—

इतै पिया-दृग स्रवत जल परत समर-धुनि कान,
प्रेम रु रन-रस बस सुभट हिय किय दोउ समान।

यहाँ रण में जाने को उद्यत सुभट के हृदय में अपनी प्रिया के नेत्रों में अश्रुपात देखकर वियोग-शृंगार की व्यंजना है। और संग्राम का भेरी-नाद सुनकर उत्साह होने में वीर-रस की व्यंजना है। शृंगार और वीर परस्पर में विरोधी रसों की समान रूप से व्यंजना है, अतः दोष नहीं।

इसी प्रकार—

रक्त-मना[1] मृगराज-वधू दसनच्छत[2] कीन्ह अनंत प्रमोदित;
ज्यों नखतें जु विदारन कै पकरे अन[3] तो तन में जित ही तित।
मोद समान न गात मनो पुलकावलि के मिस है यह सोभित;
देखि के मोहि सरक्त[4] सखे! मुनिराज विरक्तहु चाह करै चित।

क्षुधा-पीड़ित सिंहिनी को दया-वश अपना शरीर खिलाते हुए बुद्ध के प्रति किसी चाटुकारी के ये वाक्य हैं[5]। यहाँ शृंगार और दया-वीर[6] परस्पर विरोधी रसों का समावेश है। कामिनी द्वारा किए गए दंतक्षतादि से जिस प्रकार शृंगार-रस की व्यंजना होती है, उसी प्रकार यहाँ सिंहिनी द्वारा किए गए दंतक्षतादि से दया-वीर-रस की व्यंजना होती है। शृंगार और दया-वीर दोनों विरोधी रसों की यहाँ समान रूप से व्यंजना होना कवि को अभीष्ट है। और, शृंगार-रस के सादृश्य में दया-वीर की पुष्टि भी होती है, अतः ऐसे वर्णनों में विरोध नहीं रहता है।

---

१ रक्त अर्थात् रुधिर में मन जिसका, अथवा अनुरक्त होकर। २ दाँतों से किए गए घाव अथवा अनुरक्त नायिका द्वारा किए हुए दंतक्षत। ३ नखों से किए गए घाव अथवा नायिका द्वारा किए गए नखक्षत। ४ रुधिर-युक्त, अथवा अनुरक्त। ५ 'व्याघ्री जातक' नामक बौद्ध-ग्रंथ में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथा का इसी प्रकार वर्णन है। ६ काव्यप्रकाश के कुछ व्याख्याकारों ने दया-वीर के स्थान पर यहाँ शांत-रस और कुछ व्याख्याकारों ने बीभत्स रस बतलाया है। देखो, बालबोधिनी-टीका-संस्करण, पृष्ठ २२०-२०।

(५) दूसरे किसी रस या भाव के अंग हो जाने से परिहार।
जैसे—

ऊँचे किए कच-पास गहैं, अरु नीचे किएँ पकरैं पद जोरन ;
ऐंचत, रोष सों दूर किए, बरजोरन आँचर के दुहुँ छोरन।
व्याकुल ह्वै फिरतीं नृप ! हैं तुव सत्रुन की बनिता करि सोरन ;
जायँ जहाँ तिन ही नहिं केते कँटीले तरू बन में चहुँ ओरन[1]।

यहाँ समासोक्ति अलंकार है। समासोक्ति में समान विशेषणों द्वारा दो अर्थ हुआ करते हैं—एक प्रस्तुत (प्राकरणिक) और दूसरा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक)। 'ऊँचे किए कच-पास गहैं' इत्यादि विशेषण ऐसे हैं, जिनका एक अर्थ वन के कँटीले वृक्षों द्वारा शत्रु-वनिताओं को पीड़ित किया जाना होता है। इस अर्थ में शत्रुओं की स्त्रियों की दयनीय दशा के वर्णन में करुण-रस की व्यंजना होती है। इन्हीं विशेषणों का दूसरा अर्थ उन स्त्रियों के साथ कामी पुरुषों द्वारा किए जानेवाले व्यवहार का होता है। इस दूसरे अर्थ में कामीजनों के अनुराग का वर्णन किए जाने से शृंगार-

[1] किसी कवि ने अपने आश्रयदाता राजा की प्रशंसा की है कि 'हे राजन् ! जिन वनों में आपके शत्रुओं की रमणियाँ भटकती फिरती हैं, वहाँ ऐसे बहुत-से कँटीले वृक्ष हैं, जो ऊँचे किए जाने पर उन रमणियों के केश-पाशों को नीचे किए जाने पर उनके चरणों को और तंग आकर दूर हटाने पर उनके वस्त्रों के प्रांत-भागों को पकड़ लेते हैं।' दूसरा अर्थ यह है कि उन रमणियों को वन में कामीजन इस प्रकार की चेष्टाओं से व्याकुल करते हैं।

रस की व्यंजना होती है। करुण और शृंगार परस्पर में विरोधी रस हैं, किंतु यहाँ कवि को राजा का प्रताप वर्णन करना अभीष्ट है। अतः राज-विषयक रति-भाव प्रधान है। इस भाव के यहाँ करुण और शृंगार दोनों ही पोषक हैं। जिन वाक्यों द्वारा करुण व्यक्त होता है, उन्हीं से शृंगार भी व्यक्त होता है, और उन्हीं वाक्यों से राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित होता है। अतः करुण और शृंगार दोनों ही राज-विषयक रति के अंग हो गए हैं, और विरोध हट गया है। और देखिए—

> आवतु है न बुलावतु हू भई प्रापति हू मुख को न दिखावै,
> बातैं अनेक रहस्यमयी सुनिकै हू नहीं कछु बोलि सुनावै।
> पास गए हू न ह्वै समुही करतब्य-बिमूढ़ भई दरसावै,
> भूपति तेरे रिपून की बाहिनी मानवती जुवती-सी लखावै।

यह राजा के वीरत्व की प्रशंसा है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओं को मानिनी नायिका की चेष्टाओं से उपमा दी गई है। शत्रु-सैन्य की चेष्टाओं में भयानक रस और मानिनी की चेष्टाओं में शृंगार-रस की ध्वनि है। यहाँ भयानक रस का शृंगार-रस अंग है, क्योंकि मानिनी नायिका की चेष्टाओं की उपमा द्वारा सेना की तादृश चेष्टाओं में जो भय की व्यंजना होती है, उसका उत्कर्ष होता है। और, भयानक रस राज-विषयक रतिभाव का अंग हो गया है, क्योंकि शत्रु-सैन्य में भय का उत्पन्न होना राजा के प्रताप का उत्कर्षक है।

प्रथम उदाहरण में समानरूप से दो विरोधी रस (करुण और शृंगार) राज-विषयक रतिभाव के अंग हैं ; जैसे दो समान श्रेणी के सेनापति एक राजा के अंग होते हैं। और इस उदाहरण में—जैसे एक सेनापति और दूसरा उसका भृत्य दोनों राजा के अंग होते हैं, उसी प्रकार भयानक रस का अंगभूत शृंगार और भयानक ये दोनों ही रस राज-विषयक रतिभाव के अंग हो गए हैं। इन दोनों उदाहरणों में यही मार्मिक भेद है।

इसी प्रकार--

"कूरम नरिंददेव कोप करि बैरिन तें ,
सहदल की सेना समसेरन तें भानी है ;
भनत 'कविंद' भाँत-भाँत दे असीसन को ,
ईसन के सीस पै जमात दरसानी है।
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी को लिए ,
सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है ;
प्यालो लै चीनी को छकी जोबन तरग मानो ,
रंग-हेत पीवत मजीठ मुगलानी है ।"

यहाँ कूरम नरेंद्र की प्रशंसा अभीष्ट है, अतः राज-विषयक रतिभाव प्रधान है। और, तीन चरणों में व्यंजित वीभत्स और चौथे चरण में व्यंजित वीभत्स का अंगभूत शृंगार-रस ये राज-विषयक रति के अंग हैं, क्योंकि इन दोनों के द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित होता है।

(६) विरोधी रस के बाधित[1] हो जाने के कारण परिहार। जैसे—

> साँचहु विभव सुरम्य हैं रमनी हू रमनीय;
> पै तरुनी-दृग-भंगि लौं चल जीवन-रमनीय।

ऐसे स्थानों में ध्वनिकार[2] और क्षेमेंद्र[3] शांत-रस को प्रधानता बतलाते हैं। वे कहते हैं कि विलासी जनों को शांत-रस का स्पष्ट उपदेश रुचिकर नहीं होता, इसलिये उनको उन्मुख करने के लिये इसमें शृंगार-रस उसी प्रकार मिलाया गया है, जिस प्रकार बालकों के लिये कड़ुई दवा को रुचिकर बनाने के लिये उसमें मिश्री आदि मिला दी जाती है। आचार्य मम्मट[4] कहते हैं, यह बात नहीं है। इस पद्य के तीन चरणों में जो शृंगार-रस के विभाव हैं, वे शांत-रस द्वारा बाधित हैं। यहाँ मनुष्य-जीवन की क्षण-भंगुरता बतलाने के लिये कटाक्षों की चंचलता से उपमा दी गई है। कामिनी के कटाक्षों का जीवन से भी अधिक चंचल होना सुप्रसिद्ध है, अतः इसके द्वारा शांत-रस की पुष्टि होती है, और शृंगार-रस की व्यंजना दब जाती है।

---

१ किसी विरोधी रस की सामग्री का समावेश होने पर भी प्रधान रस की प्रबलता होने के कारण विरोधी रस की व्यंजना का रुक जाना। २ देखिए, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १८०। ३ देखिए, औचित्यविचार-चर्चा, पृष्ठ ११२। ४ देखिए, काव्यप्रकाश, वामनाचार्य-संस्करण, सप्तम उल्लास, पृष्ठ ३११।

इसी प्रकार—

है कहाँ काम सजोग ये औ' ससिवंस कहाँ ! फिर हू दिखाय है !
दोष-विनास कों शास्त्र सुने अहो ! रोषहु में मुख मोद बढ़ाय है !
लोग कहा कहिहैं सुकृती ! सपनेहु कहा अब वो दृग आय है !
धीरज क्यों न धरै चित तू धन है जन जो अधरामृत पाय है।

उर्वशी के विरह में राजा पुरूरवा की यह विरहोक्ति है। इस पद्य के प्रत्येक पाद के पूर्वार्द्ध में क्रमशः वितर्क, मति, शंका और धृति व्यभिचारी भावों की व्यंजना है। ये 'शम' स्थायी के अनुकूल होने से शृंगार के विरोधी शांत के पोषक हैं। किंतु प्रत्येक पाद के उत्तरार्द्ध में आए हुए अभिलाषा के अंगभूत औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिंता व्यभिचारी भावों की व्यंजना से उनका तिरस्कार हो जाता है। अर्थात् शांत-रस के भाव दब जाते हैं—उनका बाध हो जाता है। और अंत में उर्वशी-विषयक चिंता ही प्रधानतया स्थित रहती है, जिसके द्वारा विप्रलंभ-शृंगार की व्यंजना होती है।

जिन रसों का परस्पर में विरोध नहीं है, उनका भी प्रबंधात्मक काव्य में प्रधान रस की अपेक्षा अत्यंत विस्तृत समावेश किया जाना अनुचित है—

"अविरोधी विरोधी वा रसेऽङ्गिनि रसांतरे,
परिपोषं न नेतव्यस्तथास्यादविरोधिता।"

(ध्वन्यालोक

रसों के विरोधाविरोध के अतिरिक्त रस-विषयक और भी कुछ दोष हैं।

अन्यान्य रस-दोष

(१) रस, स्थायी और व्यभिचारी भावों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन।

रस व्यंग्यार्थ है, उसका आस्वादन केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है। अतः रस का शृंगार आदि विशेष शब्दों द्वारा अथवा 'रस' सामान्य शब्द द्वारा स्पष्ट कथन अनुचित है। जैसे—

> हौं चलि चलि वाको तिनक जोवै भाजु निहार,
> उमगत है चहुँ ओर छुवि मानहु रस शृंगार।

---

१ "व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता ... ।"
(काव्यप्रकाश ७। ६०-६२)

"रसस्थायिव्यभिचारिणां स्वशब्देन वाच्यत्वं।"
(हेमचंद्र, काव्यानुशासन, पृष्ठ ११०)

"रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि"...
"दोषा रसगतामताः।" (साहित्यदर्पण ७। १४-१५)

"निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृंगारादि शब्दैर्वाभिधानुपुचितः।
अनास्वादापत्तेरतदास्वादस्य व्यंजनमात्रनिष्पाद्य इत्युक्त्वात्।
एवं स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।"
(रसगंगाधर, पृष्ठ ६०)

खेद है, हिंदी के कवियों ने इस दोष पर बहुत कम ध्यान दिया है।

इसमें रस और शृंगार का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है।

और देखिए—

"काहू एक दास काहू साहब की आस में,
कितेक दिन बीते रीझ्यो सबै भाँति बस है;
बिना जो बिनै सों करै उत्तर याही सो करै,
सेवा-फल ह्वै ही रहै, यामें नहिं पस है।
एक दिन हास-हित आयो प्रभु पास तब,
राखे न पुराने आस कोऊ एक पल है;
करत प्रनाम सो बिहँसि बोल्यो यह कहा?
कह्यो कर जोरि देव-सेवा ही को फल है।"

इसे काव्य-निर्णय में भिखारीदासजी ने हास्य-रस के उदाहरण में लिखा है। किंतु यहाँ हास का स्पष्ट कथन हो गया है।

'रति को कलंक कियो होतु आनि सकर के,
करुना के अंकुर ह्वै कंठ सों उदै भए।"

उजियारे कवि ने अपने जुगुलप्रकाश मे इसमें करुण रस माना है। परंतु यहाँ 'करुणा' का स्पष्ट कथन है।

"मीडि मारयो कलह बियोग मारयो बोरि कै,
ज्योरि मारयो अभिमान भारयो भय भान्यो है;
सबको सुहाग अनुराग लूटि लीन्हों दीन्हों,
राधिका कुँवरि कहँ सब सुख सान्यो है।
कपट-कुचालि छाया सिरहि कै कोर सों,
मेरी पहिचानि मन में हू पहिचान्यो है।

जीत्यो रवि-रन मथ्यो मनमथहू को मन,
　　'केसोराइ' कौनहू पै रोप उर आन्यो है।"

रसिकप्रिया में इसमें रौद्र माना है, परंतु यहाँ रोष का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो गया है।

"टूटे टाटि घुन घने धूम-धूम सेन सने,
　　झींगुर छगोरी साँप बिच्छिन की घात जू।
कंटक कलित गात तृन बलित बिगंध जल,
　　तिनके तलप तल ताको ललचात जू।
कुलटा कुचील गात अंधतम अधरात,
　　कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेरी में घुसे कि घर ईंधन के घनश्याम,
　　घर-घरनीनि पहँ जात न घिनात जू।"

रसिकप्रिया में इसमें बीभत्स-रस का उदाहरण दिखाया है। 'घिनात' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन हो जाने से दोष आ गया है। हाँ, 'असूया' संचारी भाव की व्यंजना अवश्य है।

"बीर के बाहुबे के मिस कै हुलसैं अति रावन संग बिहारन में।
पीस परी कटि सों कसिकै कर में हाथ्यो न कलिदी की धारन में।
पै 'ललिताप' कहा कहिए जु बसो अबनाई अपार अपारन में।
बाढ़ी धनिर के कंदन कौं अति ऊचो गुविद करन की हारन में।"

रस पीयूष में इसमें वीर माना है, परंतु यहाँ वीर-रस के उत्साह स्थायी का शब्द द्वारा कथन है।

इसी प्रकार—

"कहा कीन्हीं असमै अनीति दसकंठ कंत,
हरिलायौ सिया कों सु ताको फल पावैगो ;
सेत बाँधि सिंधु में अबिगत पथ कीन्हों उमि,
कौन अब ऐसो समुझाय जु बचावैगो।
बूड़ि-बूड़ि जात मन मेरो भय-सागर में,
कहा जानौं कैसे त्रास आँखिन दिखावैगो ;
बंदी करि सब कीस बारै रघुनंद आय,
हाय-हाय हाथें हाथ लंकहि लुटावैगो।"

रस-पीयूष में इसे भयानक में लिखा है, परंतु यहाँ भयानक रस के भय स्थायी और त्रास संचारी का शब्द द्वारा कथन है।

और—

"हा-हा तुईं चलि देखि भटू अबहूँ वह पाहुने आज परयो है ;
जाहि निहारि कहै 'ससिनाथ' अचंभो महा ब्रज माहिं भरयो है।
ठौर हि ठौर यही चरचा, गृह-काज, समाज सबै बिसरयो है ;
नैक से नंद के छोहरा री, पग सों सकटासुर चूर करयो है।

सोमनाथजी ने रस-पीयूष में इसे अद्भुत रस माना है, किंतु इसमें 'अचंभौ' पद से अद्भुत रस का शब्द द्वारा कथन है।

"दान न दै गई मोसों कह्यो मैं कह्यो नँदगामु में बेचति नाहीं,
कै गयो छीन छुवा चट सों वह तातें परी यहि झंझट माहीं।
चार चमीन है 'बेनीप्रबीन' कहै सपनो सपनो यहि ठाहीं,
है सखि ताको बतावति क्यों न गहे जखिता को न छोड़ति बाहीं।"

लखि जह्नुसुता कों अमर्ष भरे नृ-कपालन सों भय पाय डराए ;
नव-संगम यों रस-युक्त घने गिरिजा दृग वे हमें मोद बढ़ाएँ ।

इसमें व्रीड़ा, त्रास और अमर्ष व्यभिचारी भावों का ; विस्मय तथा भय स्थायी भावों का एवं करुण-रस का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है ।

किंतु इसी पद्य को यदि—

दयितानन देखि विनम्र भए चरमांबर सों भट ही मुकवाएँ ;
लखि सर्प-विभूषन कंपित भे ससि कों लखिकै अनिमेष जनाएँ ।
नृ-कपालन सों अति म्लान तथा लखि जह्नुसुता अति वंक लखाएँ ;
नव-संगम में प्रिय कों लखिकै गिरिजा-दृग सो नित मोद बढ़ाएँ ।

इस रूप में कर दें तो स्थायी और व्यभिचारियों का शब्द द्वारा कथन न होकर, उनकी 'विनम्र' आदि अनुभावों द्वारा व्यंजना होती है ; और दोष नहीं रहता । इसी प्रकार रस, स्थायी और व्यभिचारी भावों की अनुभावों द्वारा ही व्यंजना होना समुचित है ।

कहीं व्यभिचारी भाव का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाने पर भी दोष नहीं माना जा सकता ; परंतु ऐसा वहीं हो सकता है, जहाँ अनुभाव और विभाव के द्वारा उस भाव की, जिसकी प्रतीति कराना अभीष्ट हो, स्वशब्द के कहे बिना स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती हो । जैसे—

पति जम्बुक सौं भट भागे भरीं पुनि बाल सौं जो हरि धाईं भईं ;
समुन्माय-मुन्माय मलीमस सौं प्रिय-सन्मुख जो फिर ठाईं भईं ।

नव-संगम में लखि कै प्रिय को हिय में भय हू कछु पैठि गई।
मुद-मंगल-दायक हौं गिरिजा हँसिके हर हीय लगाई भई।

यहाँ औत्सुक्य और लज्जा आदि व्यभिचारी भावों का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन है, पर दोष नहीं माना जा सकता। क्योंकि इन व्यभिचारी भावों की अनुभावों द्वारा यहाँ स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती है। 'झट' अनुभाव केवल औत्सुक्य का ही व्यंजक नहीं, भय आदि के कारण भी शीघ्रता की जा सकती है। 'पीछे हट जाना' या 'मुँह फेर लेना' अनुभाव केवल लज्जा ही से नहीं किन्तु क्रोध, घृणा या भय से भी हो सकते हैं, अतः यहाँ लज्जा शब्द के स्पष्ट कहे बिना लज्जा की स्पष्ट प्रतीति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार यदि यहाँ भय को विभावादि द्वारा पुष्ट किया जाता तो भयानक रस, शृंगार का विरोधी होने से, दोष हो जाता। अतः यहाँ भय का भी स्वशब्द द्वारा कथन दोष नहीं, किन्तु गुण ही है। और देखिए—

"सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-ऐन, चितइ जानकी लखन तन।
(तुलसीदास)

यहाँ 'बिहँसे' पद में 'हास' स्थायी का शब्द द्वारा कथन है, किन्तु दोष नहीं। क्योंकि केवट के अटपटे वचन जो अनुभाव हैं, उनसे केवल हास्य की ही प्रतीति नहीं, किन्तु इनके द्वारा 'विस्मय' आदि की भी प्रतीति हो सकती है, अतएव इसका स्पष्ट कथन आवश्यक था।

(२) विभाव और अनुभावों की कष्ट-कल्पना[1] से प्रतीति। जैसे—

> चहति न रति यह दिगत मति चितहु न कित ठहराय ;
> विषम दसा याकी भइो कीजै कहा उपाय।

यह वियोगी नायिका की दशा का वर्णन है। 'रति न चहत' आदि अनुभावों द्वारा केवल वियोग ही सूचित नहीं होता, किंतु करुण, भयानक और बीभत्स भी। अतएव यहाँ विप्रलंभ-शृंगार के विभाव 'विरहिणी नायिका' की प्रतीति कष्ट-कल्पना से होती है। और—

> कीन्ह धवल छवि चन्द्रमा भुवि-मंडल दिवि लोक ;
> भ्रू विलास कछु हास-युत रमनी-मुख अवलोक।

यहाँ शृंगार-रस के आलंबन-विभाव नायिका और उद्दीपन-विभाव चंद्रोदय का वर्णन तो है, किंतु नायक के 'रति-कार्य' अनुभावों का वर्णन नहीं। अतः यह समझना कठिन है कि नायिका के 'भ्रू-विलास और हास' अनुभाव स्वाभाविक विलास-मात्र हैं या संभोग-शृंगार के रति-कार्य।

१ 'कष्टकल्पनयाव्यक्तिरनुभावविभावयोः।'

(काव्यप्रकाश ७। ६०)

'व्याक्षेपः कथितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।'

(साहित्यदर्पण ७। १३)

'एवं विभावानुभावयोरसम्यक्प्रत्यये विलम्बेनप्रत्यये वा न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्।'

(रसगंगाधर, पृष्ठ २०)

(३) वर्णनीय रस के प्रतिकूल विभावादि का वर्णन।¹

"मधु कहता है व्रजबाले! उन पद-पद्मों का करके ध्यान,
आओ जहाँ पुकार रहा है श्रीमधुसूदन मोद निधान।
करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथासमय कर मन-विधान,
यौवन के सु रसाल योग में काल रोग है अति बलवान।"

(विरहिणी व्रजांगना)

यहाँ 'काल-रोग' से यौवन की अस्थिरता बतलाई गई है। यह शांत-रस का उद्दीपन विभाव है। इस वियोग-शृंगार के वर्णन में यह अनुचित है। इसी प्रकार—

"ऐहैं न फेरि गई जो निसा तन जोबन है घन की परछाहीं।
त्यों 'पद्माकर' क्यों न मिलै उठि यों बिछुरैंगी न मेह सदाहीं।

---

१ 'विरोधिरससंबंधिविभावादिपरिग्रहः।'
(ध्वन्यालोक ३।१८, पृष्ठ १६१)

'यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये।'
(ध्वन्यालोक, पृष्ठ १६१)

'प्रतिकूलविभावादिग्रहः।'—(काव्यप्रकाश ७।६१)

'विभावादिप्रातिकूल्यं रसादेर्दोषः।'
(हेमचंद्र-काव्यानुशासन, पृष्ठ ११२)

'परिपंथिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः।'
(साहित्यदर्पण ७।१२)

'समयप्रमाणप्रतिकूलरसाङ्गानां निबंधनं तु प्रकृतरसापोषकतायै विरचितमिति दोषः।'
(रसगंगाधर, पृष्ठ ६०)

कौन सयान जो कान्ह सुजान सों ठानि गुमान रही मन माँही ;
एक जो कंज कली न खिली तो कहा कहुँ भौंर को ठौर है नाँहीं।"

'यौवन है धन की परिछाईं' में यौवन की अस्थिरता का वर्णन है।

किंतु कहीं ऐसा नहीं भी होता है। अर्थात् प्रतिकूल विभावादि के वर्णन में भी दोष नहीं होता। जैसे—

पीत-वदन कृस सरस हिय अलसित तू दरसाय ;
सखि ! तेरे तन में बढ्यो कैंधिय रोग जनाय।

वियोगिनी के प्रति उसकी सखी के ये वाक्य हैं। 'पीत-वदन कृस' आदि अनुभाव करुण-रस के व्यंजक हैं, न कि शृंगार के। ध्वनिकार[1] का मत है कि इनके द्वारा वियोग-शृंगार की पुष्टि होने के कारण ये अनुभाव यहाँ विप्रलंभ के अंग हो गए हैं, अतएव विरोध नहीं। किंतु आचार्य मम्मट[2] और पंडितराज जगन्नाथ[3] कहते हैं कि यहाँ पीत-वदन आदि अनुभाव करुण और विप्रलंभ दोनों के समान बल से व्यंजक होने से विरोध नहीं है, क्योंकि समान विशेषणों के प्रभाव से दो परस्पर विरोधी रसों की व्यंजना में विरोध नहीं होता।

---

१ देखिए, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृष्ठ १६६

२ देखिए, काव्यप्रकाश, आनंदाश्रम-सं०, पृष्ठ ३०४ और वामनाचार्य की बालबोधिनी, पृष्ठ ४४२।

३ 'अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधो निवर्तते।'

(रसगंगाधर, निर्णयसागर संस्क०, सन् १८८४, पृष्ठ ७६)

(४) प्रबंध-रचना में रस-विषयक दोष।

रस-विषयक निम्न-लिखित कुछ ऐसे दोष हैं, जो एक पद्य में नहीं, किंतु काव्य या नाटक की प्रबंध-रचना में ही हो सकते हैं। इन दोषों के उदाहरणों में आचार्य मम्मट ने अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्य और नाटकों का नामोल्लेख किया है। और, उनके उत्तरकालवर्ती प्रायः सभी साहित्याचार्य इस विषय में उनसे सहमत हैं।

रस की पुनर्दीप्ति—किसी रस के परिपाक हो जाने पर, अर्थात् 'रस' विशेष का प्रसंग समाप्त हो जाने पर, उस रस का फिर वर्णन (दीप्ति) करना।

परिपुष्ट और उपभुक्त रस, पुनः दीप्त किए जाने पर, परिम्लान पुष्प के समान, नीरस हो जाता है। जैसे महाकवि कालिदास ने, कुमारसंभव-महाकाव्य में, रति-विलाप के प्रसंग में करुण रस का वर्णन[1] समाप्त करके उसे फिर दीप्त किया है[2]।

अकांड प्रथन—असमय रस का वर्णन करना।

वेणी-संहार-नाटक के दूसरे अंक में अनेक वीरों के विनाश के समय बीच ही में रानी भानुमति के साथ दुर्योधन के प्रेमालाप के वर्णन में यह दोष है। वहाँ शृंगार-रस का वर्णन असामयिक है।

---

१ 'अथ मोहपरायणा सती'—(कुमारसंभव, ४।१)

२ 'अथ सा पुनरेव विह्वला'—(कुमारसंभव ४।४) यहाँ से फिर दीप्त किया गया है।

अकांड छेदन—असमय में रस का भंग करना।

भवभूति के महावीर-चरित नाटक के दूसरे अंक में श्रीरघुनाथजी और परशुरामजी का संवाद धारावाहिक वीर-रस का प्रसंग है। इसमें श्रीरघुनाथजी की 'कंकणं मोचनाय गच्छामि' उक्ति में वीर-रस के भंग हो जाने में यह दोप है।

अंगभूत रस की अत्यंत विस्मृति—जिस प्रबंध में जिस रस का प्रधानतया वर्णन न हो, वहाँ उस अप्रधान रस का विस्तृत वर्णन करना।

महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य के आठवें सर्ग में अप्सराओं की विलास-क्रीड़ा के शृंगारात्मक विस्तृत वर्णन में यह दोप है। किरातार्जुनीय शृंगार-रस प्रधान नहीं है।

अंगों का अननुसंधान—रस के आलंबन और आश्रय, प्रबंध के नायक या नायिकादि का बीच-बीच में अनुसंधान न होना अथवा उनका आवश्यक प्रसंग में भूल जाना।

रस के अनुभव का प्रवाह आलंबन और आश्रय पर ही निर्भर है। उनका आवश्यक प्रसंग पर अनुसंधान न होने से रस भंग हो जाता है। महाराजा श्रीहर्ष की रत्नावलीनाटिका के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य द्वारा सागरिका (जो प्रधान नायिका है) को भूलजाने में यह दोप है।

प्रकृति-विपर्यय—काव्य-नाटकों में प्रधान नायक तीन प्रकृति के होते हैं—दिव्य (स्वर्गीय देवता), अदिव्य (मनुष्य) और दिव्यादिव्य (मनुष्य रूप में प्रकटित भगवान् के अवतार)।

इन तीनो के धीरोदात्त[1], धीरोद्धत[2], धीर-ललित[3] और धीर प्रशांत[4], चार-चार भेद होते हैं। ये भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते हैं। जो पात्र जिस प्रकृति का हो उसका उसी प्रकृति के अनुसार वर्णन किया जाना उचित है। जहाँ प्रकृति के प्रतिकूल—अस्वाभाविक—वर्णन किया जाय, वहाँ यह दोष होता है। रति, हास, शोक और विस्मय तो उत्तम प्रकृतिवाले अदिव्य पात्र के समान दिव्य प्रकृति के पात्र में भी वर्णन किए जाने में दोष नहीं; किंतु संभोग-शृंगारात्मक रति का उत्तम प्रकृतिवाले दिव्य पात्रों में (जिनमें हमारी पूज्य बुद्धि रहती है) वर्णन किए जाने में प्रकृति-विपर्यय दोष है।

महाकवि कालिदास-कृत कुमारसंभव में श्रीशंकर और पार्वती के संभोग-शृंगार के वर्णन में यह दोष है। इसी प्रकार स्वर्ग-पातालादि गमन, समुद्र-उल्लंघन आदि कार्य भी दिव्य या दिव्यादिव्य प्रकृति के ही वर्णनीय है, न कि अदिव्य प्रकृति के। क्योंकि अदिव्य प्रकृतियों के अमानुषिक कार्यों के वर्णन में प्रत्यक्ष असत्य की प्रतीत होने के कारण रसास्वाद नहीं हो सकता।

अनंग-वर्णन—ऐसे रस का वर्णन किया जाना, जिससे प्रकरणगत रस को कुछ लाभ न हो।

---

[1] जिनमें उत्साह प्रधान हो। [2] जिनमें क्रोध प्रधान हो। [3] जिनमें स्त्री-विषयक प्रेम प्रधान हो। [4] जिनमें वैराग्य प्रधान

कविराज राजशेखर-कृत कर्पूर-मंजरी सट्टिका में राजा चंडसेन एवं नायिका विभ्रमलेखा द्वारा किए हुए वसंत के वर्णन का अनादर करके बंदी जनों द्वारा किए गए वर्णन की प्रशंसा करने में यह दोष है।

देश, काल आदि के वर्णन में रस-विषयक दोष।

देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि के विषय में लोक और शास्त्र-विरुद्ध वर्णन अनौचित्य है। जैसे स्वर्ग में वृद्धता, व्याधि आदि, पृथ्वी पर अमृत-पान आदि देश-विरुद्ध ; शीत-काल में जल-विहार, ग्रीष्म में अग्नि-सेवन, आदि काल-विरुद्ध ; ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना, शूद्र का वेद पढ़ना, आदि वर्ण-विरुद्ध; ब्रह्मचारी और संन्यासी का तांबूल-भक्षण और स्त्री-सेवन आदि आश्रम-विरुद्ध; बालक और वृद्ध का स्त्री-सेवन आदि अवस्था-विरुद्ध; और दरिद्री का धनाढ्य जैसा और धनवान् का दरिद्री-जैसा आचरण स्थिति-विरुद्ध है। अनुचित वर्णनों से रसास्वाद भंग हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार पानक-रस (शर्बत आदि) में कंकड़, मिट्टी आदि मिल जाने से उसके आस्वाद में आनंद नहीं मिलता, उसी प्रकार अनौचित्य वर्णन से रसानुभव में आनंद प्राप्त नहीं होता—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य—कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा ।'

(ध्वन्यालोक)

रसात्मक काव्य में अलंकार-विषयक दोष

(१) यद्यपि अलंकार रस के उपकारक हैं—शोभाकारक हैं—किंतु रसात्मक काव्य में अलंकारों का प्रासंगिक समावेश ही उपकारक है।

शृंगार-रस में, विशेषतया विप्रलंभ-शृंगार में, यमकादि अलंकारों की रचना त्याज्य है। क्योंकि यमक, सभंग श्लेष एवं चित्रबंध अलंकारों के समावेश से इन अलंकारों की प्रधानता हो जाती है, और इनके चमत्कार में बुद्धि के संलग्न हो जाने से वर्णनीय रस गौण हो जाता है—रस का तादृश आनंदानुभव नहीं हो सकता[1]। शृंगारात्मक काव्य में, विभावादि के आयोजन में, यमक आदि किसी अलंकार का काकतालीयवत्[2] निष्पादन (सिद्ध) हो जाने से तो कोई हानि नहीं है, किंतु आग्रह-पूर्वक अलंकारों का अप्रासंगिक समावेश करना अनुचित है। जैसे—

कर के उर सों जु कपोलन लौं पत्रावलि मंजु मिटाइ रहौं।
पुनि स्वासन सों अधरानहु कों लै सुधा-रस मोहु मनाइ रहौं।
लगि कंठ उरावतु स्वेदहु त्यों कुच-मंडल पाठ दिखाइ रहौं।
यह रोष कियो मनभावतो तू नहिं प्यारी। मैं तोहि गुराय रहौं।

---

१ 'ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।'
(ध्वन्यालोक २।१५)

२ बिना यत्न के स्वयं।

नायिका हथेली पर कपोल रक्खे हुए है, दीर्घ निश्वासों से अधर शुष्क हो रहे हैं, प्रस्वेद टपक रहे हैं, कंठ अवरुद्ध हो रहा है, और हिचकियों से हृदय उछल रहा है; ऐसी कुपित नायिका के प्रति नायक के वाक्य हैं कि 'तूने अब अपना प्रियतम क्रोध ही को बना लिया है, क्योंकि वह तेरे कपोलों की पत्रावली मिटा रहा है, निश्वासों से अधर रस-पान कर रहा है, कंठ से लगकर (गद्गद कंठ हो जाने से) प्रस्वेद छुटा रहा है, और कुच-मंडल को हिला रहा है।

यहाँ प्रियतम द्वारा किए जानेवाले कार्यों की श्लिष्ट (द्व्यर्थक) शब्दों द्वारा क्रोध में समानता दिखाई जाने में श्लेष अलंकार है। क्रोध में प्रियतम का आरोप किया जाने से रूपक अलंकार भी है। तुझे क्रोध, मेरे से अधिक प्रिय है, इस कथन में व्यतिरेक अलंकार भी है। ये नाना ही अलंकार यहाँ वियोग-शृंगार के वर्णन में अनायास सिद्ध हो गए हैं—इनका आग्रह-पूर्वक समावेश नहीं किया गया है। अतः यहाँ इनके द्वारा रस के आनंदानुभव में कुछ बाधा उपस्थित नहीं होती, प्रत्युत ये वियोग-शृंगार के पोषक हैं। अर्थात् ये रस के अंग हो गए हैं, जिससे रस की प्रधानता बनी हुई है। किंतु—

"देखी सो न जुही फिरति सोनजुही से अंग;
दुति लपटनु पट सेत हू करति बनौटी रंग।"

इसमें 'सो न जुही' पद के यमक की प्रधानता ने नायिका-वर्णनात्मक शृंगार-रस को दबा दिया है। इसी प्रकार—

"बस न चलत तुम सों कछू बस न हरहु हरि लाज ;
बसन देहु ब्रज माँहि अब बसन देहु ब्रजराज ।"[1]

गोपी जनों की इस उक्ति में दैन्य संचारी की व्यंजना को 'बसन' पद के यमक ने दबा दिया है।

(२) रसात्मक काव्य में रूपक आदि अर्थालंकारों को रस के अंगभूत रखना उचित है, न कि अंगी अर्थात् प्रधान। जैसे—

"दृग चौंकत कोए चलैं चहुँधा अंग बारहि बार लगावत तू ;
लगि कानन गूँजत मंद कछू मनो मर्म की बात सुनावत तू।
कर रोकति को अधरामृत लै रति को सुखसार बढ़ावत तू ;
हम खोजत जाति ही पाँति मरे धनि रे धनि भौंर ! कहावत तू।"

(राजा लक्ष्मणसिंह का शकुंतलानुवाद)

शकुंतला के मुख पर मँडराते हुए भृंग को स्वाभाविक चेष्टाओं में दुष्यंत ने भ्रमर को धन्य कहकर अपने को अधन्य सूचित किया है, अतः व्यतिरेक अलंकार है। यह यहाँ विप्रलंभ-शृंगार का अंग है, क्योंकि इसके द्वारा दुष्यंत के हृदयगत शकुंतला-विषयक पूर्वानुराग का अतिशय सूचन होने के कारण यहाँ विप्रलंभ-शृंगार की पुष्टि होती है। अतएव अलंकार की प्रधानता न रहने से अनौचित्य नहीं है।

---

१ तुमसे कुछ बस नहीं चलता, बस लज्जा का हरण मत करिए, व्रज में बसने दीजिए, अब वस्त्रों को दे दीजिए।

किंतु—

आलिंगन। ते हीन ही रति-सुख चुंबन-मेस ;

राहु-तिय को कीन्ह हरि चक्रमात्र आदेस।

भगवान् विष्णु का ऐश्वर्य वर्णन है, अतः देव-विषयक रति-भाव है। पर्यायोक्ति[२] अलंकार के चमत्कार ने इस भाव को दबा दिया है। राहु के सिरच्छेदन को सीधे तरह से न कहकर भंग्यंतर से (दूसरे प्रकार से) कहे जाने में पर्यायोक्ति का चमत्कार प्रधान हो गया है, अतएव अनौचित्य है।

(३) रसके अंगभूत अलंकार का भी अवसर पर ही उपयोग करना उचित है। जैसे—

"दोऊ चाह भरे कछू चाहत कह्यो, कहैं न ;

नहिं जाचक सुनि सूम लौं बाहिर निकसत बैन।"

नायक और नायिका के वचनों को यहाँ जो सूम की उपमा दी गई है, वह शृंगार-रस में क्रीड़ा-भाव की पुष्टि करती है; अतः उपमा का अवसर पर उपयोग किया गया है। इसी प्रकार—

"होठन बीच हँसी बिकसै चख भौंह कसै कुच-कोर दिखावै ;

बान-कटाछ को लच्छ करै, परतच्छ ह्वै भौर कयौं दुरि जावै।

---

१ अमृत-दान के समय भगवान् ने मोहिनी रूप में राहु दैत्य का सिर चक्र से काटकर उसकी स्त्री का रति-सुख केवल चुंबन-मात्र ही कर दिया। २ पर्यायोक्ति में किसी बात को सीधी तरह से न कहकर भंग्यंतर से (घुमा-फिराकर दूसरी तरह से) कही जाती है।

घाँह छुवावै छुवांछी न आपुनी लाज नवेली को यों लजचावै,
हाथी कों चाबुक को असवार ज्यों साथ लगायकै हाथ न आवै।"

(कविराज मुरारीदान)

यहाँ नायिका को जो चाबुक, सवार से उपमा दी गई है, वह पूर्वानुराग-शृंगार की पुष्टि करती है; अतः उपमा का उपयोग समयोचित है। किंतु—

लंकापुरी, विमल-वंश, अपार शक्ति—
आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि-भक्ति।
है धन्य, किंतु यदि रावणता[1] नहीं हो,
एकत्र सर्व-गुण-राशि नहीं कहीं हो।

(राजशेखर की बाल-रामायण से अनुवादित)

प्रहस्त ने रावण के लिये जब जनक से सीताजी की याचना की, उस समय के शतानंदजी के इन वाक्यों द्वारा जनक को रावण के विषय में घृणा उत्पन्न कराना कवि को अभीष्ट है। चौथे चरण में अर्थांतरन्यास[2] अलंकार द्वारा उस घृणाभाव की व्यंजना दब जाती है, अतः यहाँ अलंकार का अप्रासंगिक उपयोग है।

(४) ग्रहण किए हुए अलंकार को किसी अवसर पर, रस की अनुकूलता के लिये, छोड़ देना उचित होता है।

---

१ संसार को दुःख देकर रुलानेवाला।

२ अर्थांतरन्यास द्वारा यहाँ रावण की क्रूरता का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। अर्थात् वह क्रूरता घृणोत्पादक न रहकर साधारण बात हो गई है।

तू[1] नव-पल्लव रक्त दिखातु त्यों मैं हू प्रिया-गुन रक्त लखावतु।
आवत तो पै सिलीमुख त्यों कुसुमायुध-प्रेरित मोहू पै आवतु।
कामिनि के पद-घात सौं तू विकसै तिमि मोहू वो मोद बढ़ावतु।
पै तू असोक रु मैं हू स सोक यहां समता अपनी नहिं पावतु।

'रक्त', 'शिलीमुख' आदि श्लिष्ट पदों से यहाँ श्लेष अलंकार की रचना प्रारंभ की गई थी, पर वियोग-शृंगार को पुष्ट करने के लिये चौथे चरण में 'असोक' और 'स-सोक' अश्लिष्ट पदों का प्रयोग करके अंत में श्लेष अलंकार का छोड़ा जाना ही रसानुकूल है।

(५) किसी अवसर पर रस की अनुकूलता के लिये अलंकारों का अत्यंत निर्वाह न करना ही उचित होता है।

जैसे—

"आए भोर गोविंद विभावरी बिताए अंत,
झूमत झुकति गात आलस अतुल तें,
नैन झपकौहें बैन कहत कछू-के-कछू,
सिथलित अंग रति-रंग के बहुल तें।

[1] वियोगी पुरुष की अशोक-वृक्ष के प्रति उक्ति है —'तू नवीन पत्रों से रक्त (अरुण वर्ण) है, मैं भी अपनी प्रिया के गुणों से रक्त (अनुरक्त) हूँ। तुझ पर शिलीमुख (भृंग) आते हैं, मुझ पर भी काम के शिलीमुख (बाण) आते हैं। तू कामिनी के चरण के आघात से प्रफुल्लित हो जाता है, मुझे भी वह आनंद-प्रद है। इन दोनों में ये सभी समानता होने पर भी एक बड़ी असमानता यह है कि तू अशोक है, किन्तु मैं सशोक—प्रिया के वियोग से शोकाकुल हूँ।

मद्दव दली-सी छैल छल सों छली-सी दोसी ,
सूखत अधर घने स्वास की उछुल तें।
बाहु-बल्ली के खास पास में फँसाय बाल,
गाल गुलचावत गुलाबन के गुल तें।"

नायिका की बाहु-लता में पाश का जो आरोप किया गया है, उस रूपक का अत्यंत निर्वाह नहीं किया गया है—पाश में बाँधने के रूपक को दृढ़ करने के लिये, यदि उसके अनुकूल अन्य सामग्रियों का भी वर्णन होता, तो रस भंग हो जाता। जैसे—

"मुरली सुनत बाम काम-जुर लीन भई,
धाई धुर लीक सुनि विधी विधुरनि सों;
पावस नदी-सी यह पावस न दीसी परै ,
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सों।
लाज-काज सुख-साज बंधन समाज नाँघि,
निकसी निसंक सकुचैं नहिं गुरुनि सों;
मीन ज्यों अधीनी-गुन कीनो खैंच लीनी 'देव'
बंसीधर बंसी डार बंसी के सुरनि सों।"

यहाँ बंशी में (मुरली में) बंसी (मछली मारने का यंत्र वडिस) का आरोप करने में रूपक है, और इस रूपक का गोपियों को मीन की उपमा देकर अंत तक निर्वाह किया गया है। ऐसा करने से यहाँ अनर्थ हो गया है, क्योंकि बंसी (वडिस) द्वारा मीनों का प्राण नष्ट होता है। इस प्रकार येमौक़े अलंकारों

का निर्वाह करने में रस भंग हो जाता है, अतः अनौचित्य है।

(६) रसात्मक काव्य में यदि अलंकारों का निर्वाह करना अभीष्ट ही हो, तो औचित्य का विचार रखकर करना चाहिए, अर्थात् वर्णनीय रस का अलंकार को अंगभूत बनाए रखना चाहिए। जैसे—

माधवी की लतिकान बनी जु कलिंद-सुता-तट मंजुल कुंजन;
कैहूजयान की फूल जहाँ मधुरी मधुपावलि की मद-गुंजन।
लै बनसी चनसी सम कै मधुराधर के मधु सों मनरंजन;
श्रीनँदनंदन ने धुनि की व्रज-बालन मानमयी झख-भंजन।

मुरली को यद्यपि यहाँ भी बंसी (मच्छी मारने के यंत्र) की उपमा दी गई है, किंतु इस उपमा का अंत तक निर्वाह करने के लिये गोपी जनों के मान को मीन कल्पना किया गया है, न कि साक्षात् गोपियों को। यहाँ इस उपमा द्वारा शृंगार-रस की पुष्टि होती है, क्योंकि गोपांगनाओं के मान का मुरली की ध्वनि से नष्ट होना सुसंगत है।

और भी—

श्यामाओं में मृदुल-वपु को, दृष्टि भीता मृगी में,
चन्द्राभा में वदन-छवि को, केश बर्हाकृती में।
भ्रू-भंगी को चल लहरि में, देखता मानिनी मैं,
तेरी एकस्थल सदृशता हा! न पाता कहीं मैं।
(हिंदी-मेघदूत-विमर्श)

विरही यक्ष द्वारा अपनी प्रियतमा की श्यामा (प्रियंगुलता)

आदि में उत्प्रेक्षा की गई है, और इस सादृश्य का अंत त निर्वाह भी किया गया है। किंतु महाकवि कालिदास ने इ सादृश्य को यहाँ विप्रलंभ-शृंगार का अंगभूत ही बना रक्खा है। इसी प्रकार—

> "फूँकि-फूँकि मंत्र मुरली के मुख जंत्र कीन्हीं,
> प्रेम परतंत्र लोक-लीक तें हुलाई है;
> तजे पति, मात, तात, गात न सँभारे कुल-
> बधू अधरात बन-भूमिन भुलाई है।
> नाच्यो जो फनिंद इंद्रजालिक गुपाल गुन,
> गारुडू सिंगार रूपकला अकुलाई है;
> लोलि-लोलि लाय दग मीलि-मीलि काढ़ी कान्ह,
> कीलि-कीलि व्यालिनी-सी ग्वालिनी बुलाई है।"

गोपी जनों की इस उक्ति में मुरली में ध्वनि-मंत्र का आरोप किया गया है। गोपांगनाओं को व्यालिनी की उपमा देकर इस रूपक का अंत तक निर्वाह किया गया है। किंतु इसके द्वारा विप्रलंभ-शृंगार की पुष्टि होती है। यहाँ रूपक अलंकार विप्रलंभ का अंग बना हुआ है, अतः यहाँ अलंकार के निर्वाह में अनौचित्य नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि रसात्मक काव्य में रस की व्यंजना के अनुकूल अलंकारों का प्रयोग किए जाने में अनौचित्य नहीं है। जहाँ अलंकार द्वारा रस की व्यंजना में बाधा उपस्थित हो अनौचित्य है।

असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि के प्रधान भेद-रस के विवेचन के पश्चात् अब 'भाव' आदि अन्य भेदों का निरूपण किया जाता है—

भाव

देव आदि विषयक रति-सामाग्री के अभाव में उद्बुद्ध-मात्र (अपुष्ट) रति आदि स्थायी और प्रधानता से व्यंजित निर्वेदादि संचारियों को भी कहते हैं ।

अर्थात् (१) देवता, गुरु, मुनि, राजा और पुत्र आदि जहाँ 'रति' के आलंबन होते हैं, या यों कहिए कि जहाँ इनके विषय में भक्ति, प्रेम, अनुराग, श्रद्धा, पूज्यभाव, प्रशंसा, वात्सल्य और स्नेह व्यंजित होता है, चाहे वे सामग्री से पुष्ट हों अथवा अपुष्ट, वहाँ रति अर्थात् भक्ति आदि 'भाव' कहे जाते हैं ।

(२) जहाँ रति आदि नवों स्थायी भाव उद्बुद्ध-मात्र हों, अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारियों से परिपुष्ट न हों, वहाँ इन स्थायी भावों का भाव कहते हैं । तात्पर्य यह है कि नायक-नायिका आलंबन होने पर भी 'रति' शृंगार-रस में परिणत तभी हो सकती है, जब वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट की गई हो । अन्यथा उस (रति)

को भी 'भाव' संज्ञा दी है। और, इसी प्रकार जब हास आदि भी विभावादि से परिपुष्ट होते हैं, तभी रस अवस्था को प्राप्त हो सकते हैं—अपुष्ट अवस्था में ये भी भाव कहे जाते हैं।

काव्यप्रकाश और रसगंगाधर के भाव-प्रकरण में स्थायी का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु साहित्यदर्पण के—

"संचारिणः प्रधानानि देवादिविषयारतिः ।
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।"

इस वाक्य से अपुष्ट स्थायी भावों की 'भाव' संज्ञा स्पष्ट है। काव्यप्रदीप में भी ऐसा ही स्पष्टीकरण है[1]।

(२) निर्वेदादि संचारी जहाँ प्रधानता से व्यंजित (प्रतीत) होते हैं, वहाँ उनकी भाव संज्ञा है।

जहाँ व्यभिचारी होता है, वहाँ रस भी होता है और रस ही प्रधान रहता है फिर प्रधानता से व्यंजित व्यभिचारी की भाव संज्ञा किस प्रकार मानी जा सकती है ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसका उत्तर यह है कि जैसे मंत्री के विवाह में मंत्री-दूल्हा आगे चलता है, और राजा, स्वामी होने पर भी, दूल्हा के पीछे चलता है, इसी प्रकार जहाँ किसी विशेष अवस्था में 'व्यभिचारी' प्रधानता से प्रतीत

---

१ "रतिरिति स्थायीभावोपलक्षणम् ।...कान्तादि विषयाऽप्र- ... प्राधान्येन व्यंजितो व्यभिचारी ...।" (काव्यप्रदीप आनंदाश्रम-संस्करण, ...)

होता है, वहाँ अपने रस की अपेक्षा प्रधान होकर 'भाव' कहा जाता है।

जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी मिलकर ही, प्रपानक रस के समान, रस का आस्वाद कराते हैं, तो फिर व्यभिचारी का पृथक् आस्वाद और वह भी प्रधानता से किस प्रकार हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि प्रपानक रस में भी जब इलायची आदि किसी पदार्थ का आधिक्य होता है, तो उसका आस्वाद प्रधानता से होता है, उसी प्रकार व्यभिचारी भी किसी विशिष्ट अवस्था में प्रधानता से प्रतीत होने लगता है।

देव-विषयक रति

उदाहरण—

हौं भवसागर में भ्रमि बूड़त हा ! न मिल्यो कोउ पार उतारन ;
नाथ ! सुनौ करुना करिकै सरनागत की यह दीन पुकारन।
चाहौं सदा गुन-गावन कै मनभावन वे उर माहि निहारन ;
कालिंदी - कूल - निकुंजन को भव-भंजन-केलि करी गिरिधारन।

यहाँ श्रीनंदनंदन आलंबन हैं। यमुना-तट का विहार उद्दीपन है। यह विनीत प्रार्थना अनुभाव है। चिंता, विषाद, और औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। भगवान् के विषय में जो अनुराग ध्वनित होता है, वह देव-विषयक रति-भाव है। देव-विषयक रति भक्ति का पर्याय है। और भी—

दिवि में भुवि में निवास हो या, नरकों में नरकांत ! हो न क्यों या ;
रमणीय पदारविंद तेरे, मरते भी स्मरणीय होवें मेरे।

"पान चरनामृत को गान गुन-गानन को,
हरि-कथा सुने सदा हिय को हुलसिबो;
प्रभु के उतारन की गूदरी औ चीरन की,
भाल भुजकंठ उर छापन को लसिबो।
'सेनापति' चाहति है सकल जनम-भरि,
वृंदावन सीमा ते न बाहिर निकसिबो;
राधा-मनरंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरे गुंजन की कुंजनि में बसिबो।"

यहाँ श्रीवृंदावन-विहारी में कवि का जो प्रेम ध्वनित होता
', यह 'भक्ति'-भाव है।

देव-विषयक रति अर्थात् भक्ति-रस को साहित्याचार्यों ने
ाव' संज्ञा दी है। भक्ति-रस को शृंगार-रस नहीं कहा
। सकता, क्योंकि शृंगार की व्यंजना तो कामी जनों
हृदय में ही उद्भूत हो सकती है। यह बात शृंगार
द के यौगिक अर्थ से भी स्पष्ट है। किंतु भक्ति को एक
तंत्र रस न मानना केवल प्राचीन परिपाटी-मात्र है। वास्तव
अन्य रसों के समान सभी रसोत्पादक सामग्री इसमें
है। जैसे भक्ति-रस के आलंबन भगवान् श्रीरामकृष्ण
दे हैं; श्रीमद्भागवत आदि का श्रवण उद्दीपन है;
, वह रोमांच, अश्रुपात आदि द्वारा अनुभव गम्य
हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों द्वारा परिपुष्ट
है।

'रसो वै सः।'

'रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

आनन्देन जातानि आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशंति।'

इत्यादि श्रुति-प्रमाणों द्वारा जिस ब्रह्मानंद पर ही रस का [illegible] अवलंबित होना सभी साहित्याचार्य मानते हैं, उस [illegible]नंद से भी अधिक जो भक्ति-जन्य आनंद तदीय भक्त जनों [illegible] होता है, उसे स्वतंत्र रस न मानना और क्रोध, शोक, [illegible] और जुगुप्सा आदि की व्यंजना को रस-संज्ञा देना [illegible]तः युक्ति-युक्त नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि भक्ति-जन्य आनंद में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यही है कि जब अन्य रसों के आनंदानुभव के [illegible] के लिये सहृदयों के हृदय के अतिरिक्त कोई प्रमाण [illegible] है, तो भक्ति-रस के आनंदानुभव के लिये भी भक्त जनों का [illegible] ही साक्षी है। करंतु।

गुरु-विषयक रति-भाव (प्रेम या श्रद्धा अथवा पूज्य [illegible]व)—

वामन[1] पद-पावन-सलिल भवसागर-मिव जोव;

वंदौ भवसागर-दमन गुरु-पद-पावन सोव।

---

1 वामन भगवान् के चरणों को प्रक्षालन करनेवाला जल अर्थात् श्रीगंगाजी को भवसागर अर्थात् भव (श्रीशंकर) और सागर

यहाँ गुरु के पाद-प्रक्षालन के जल की वंदना में गुरु-विषयक रति-भाव है।

पुत्र-विषयक रति-भाव (वात्सल्य अथवा स्नेह)—

वात्सल्य वह प्रेम है, जो माता, पिता आदि गुरुजनों के हृदय में पुत्रादि के विषय में होता है। इसी कारण 'वात्सल्य' को स्वतंत्र रस न मानकर पुत्र-विषयक रति-भाव माना है।

"तन की दुति स्याम सरोरुह-लोचन कंज की मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे छबि भूरि अनंग की दूर धरैं।
कबहूँ ससि माँगति आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं;
कबहूँ कर-ताल बजाय के नाचत मातु सबै मन मोद भरैं।"

यहाँ कौसल्याजी का श्रीराम-विषयक जो वात्सल्य है, वह पुत्र-विषयक रति-भाव है।

और भी—

"दैहौं दधि मधुर धरनि धर्‍यो छोरि खैहैं,
धाम तें निकसि धौरी धेनु धाइ खोलि हैं;
धौरि जोरि ऐहैं झपटैहैं लटकत ऐहैं,
सुखद सुनैहैं बैन बतियाँ अमोलि हैं।

समुद्र) से प्रेम है, क्योंकि शिवजी की जटा में वह विराजमान है, ... में जाकर मिलती है। किंतु मैं भवसागर (संसार) ... हूँ, अतः भवसागर (संसार) के दुःखों को दूर ... को प्रक्षालन करनेवाले जल को प्रणाम

'आलम' सुकवि मेरे ललन चलन सीखैं,
बलन की बाँह ब्रज-गलिन में डोलि हैं ;
सुदिन सुदिन दिन वा दिन गिनौंगी माई,
जा दिन कन्हैया मोसों मैया कहि बोलि हैं।"

यहाँ यशोदाजी का भगवान् श्रीकृष्ण-विषयक वात्सल्य है।
किंतु—

"वर दंतकि पंगति कुंद-कली अधराधर पल्लव खोलन की ;
चपला चमकै घन-बीच जगै छवि मोतिन-माल अमोलन की ।
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ;
निवछावर प्रान करै 'तुलसी' बलि जाउँ लला इन बोलन की ।"

और—

"पग नूपुर औ' पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिए ;
नव नील कलेवर पीत झँगा झलकै पुलकै नृप गोद लिए ।
अरविंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए ।
मन मैं न बस्यो अस बालक जो 'तुलसी' जग मैं फल कौन जिए ।"

ऐसे वर्णनों में पुत्र-विषयक रति (वात्सल्य) नहीं। गोस्वामी-जी का अपने इष्टदेव बाल-रूप भगवान् रघुनाथजी के प्रति जो प्रेम है, वह भक्ति-प्रधान है, अतः देव-विषयक 'रति-भाव' है।

राजन्-विषयक 'रति-भाव'—

न मृगया[१] रति नित्य नवीन की,
न मधुरा मधु[२] की रस-लीन की।

---

१ शिकार। २ मदिरा।

मद-वश तरुणी रमणीय भी,
न उसकी मति कर्षित की कभी।
न कृपणा सुरराज समीप थी,
न वितथा परिहासमयी कभी।
वह कठोर न थी रिपु साथ भी,
दशरथीय गिरा इस भाँति थी।

(रघुवंश से भावानुवादित)

यहाँ महाराजा दशरथजी के विषय में कवि का प्रेम व्यंजित होता है।

"साहितनै सरजा तव द्वार प्रतच्छन दानकि दुंदुभि बाजै;
'भूषन' भिच्छुक भीरन कों अति भोजहु ते बढ़ि मौजनि साजै।
राजन को गन राजन! को गनै साहिन मैं न इती छबि छाजै;
आजु गरीब-निवाज मही पर तोसो तुहीं सिवराज बिराजै।"

यहाँ महाराज शिवाजी पर भूषन कविराज का प्रेम ध्वनित होता है, अतः राज-विषयक रति-भाव है।

कांता-विषयक अपुष्ट 'रति-भाव'

"हग न राखिबे जोग वह सुमन-सरिस सुकुमार;
कब खेलन इत आइ हैं सखि वह नंदकुमार।"

(नंदरामजी का शृंगार-दर्पण)

यहाँ श्रीनंदनंदन के विषय में राधिकाजी की रति केवल

। मिथ्या।

उद्बुद्ध-मात्र है। अन्य पोषक सामग्रियों के अभाव में शृंगार-रस का परिपाक नहीं है।

अपुष्ट हास

बेसर-मोती-दुति-झलक परी अधर निज आय ;
बहुरि-बहुरि पोंछत प्रिया लखि-लखि पिय बिहसाय ।

यहाँ नकबेसर के मोती की कांति का प्रतिबिंब नायिका के अरुण अधर पर पड़ने पर उसे पान का चूना लगा हुआ समझकर नायिका के बार-बार पोंछने पर नायक के विकसित होने में हास का उद्बुद्ध-मात्र है।

अपुष्ट शोक

"राम के राज-सिंहासन बैठत आनँद की सरिता उमही है ;
त्यों 'नँदरामजू' रावसिरी सियराम के आनन राजि रही है।
भूषन-हार भँडार लुटावत कौसिला आनद बाढ़ि गही है ;
कैकई के पछिताव यहै इहि औसर औध-भुवाल नहीं हैं।"

यहाँ श्रीराम-राज्याभिषेक के आनंदोत्सव में दशरथजी के न होने का कैकेयी को पश्चात्ताप होने में शोक उद्बुद्ध-मात्र है।

इसी प्रकार क्रोध आदि अन्य स्थायी भाव जहाँ अपुष्ट रहते हैं, वहाँ भाव कहे जाते हैं।

प्रधानता से व्यंजित व्यभिचारी

तब एकत हो कर सों हरख्यो मुख सों न कह्यो न किए हग सौंहो ;
भाव अबौ सपने में प्रिया रँगियान भरे भँमुरान रिसौंही।

कै बिनती परि पायँ मनाय, चह्यो भरि अंक में बेह्वे ज्यों ही।
हा! बिधि की सठता का कहौं भट नींद छुड़ाय दई तबहीं ही।

किसी वियोगी की अपने मित्र के प्रति उक्ति है—'मैंने अपनी रूठी हुई प्रिया को मैंने सपने में देखा, किंतु जब तक मैं उसे प्रसन्न करके अंक में लूँ, उसके पहले ही शठ विधाता ने मेरी निद्रा भंग कर दी।' यहाँ विधाता के प्रति जो असूया है वही प्रधानता से ध्वनित हो रही है। यद्यपि विप्रलंभ-शृंगार के उदाहरण—'गेहूँ से मैं लिपटकर तुम्हें' (पृष्ठ १८८) में भी विधाता की क्रूरता के विषय में असूया है, किंतु वहाँ 'मोरे दृष्टी' पद से वियोग-शृंगार ही प्रधानता से व्यंजित होता है। अतएव वहाँ असूया विप्रलंभ-शृंगार का अंग हो जाने में प्रधान नहीं, इसी से वहाँ विप्रलंभ-शृंगार-रस है। और भी—

> "दई निगोड़े नैन ये गहैं न चेत अचेत।
> हौं कसिकै रिसहौं करौं, ये निरखें हँसि देत।"

यहाँ संभोग संचारी प्रधानता से व्यंजित होता है। 'टेढ़ी करी भ्रकुटी न तऊ' (पृष्ठ १८४) पद्य में भी यही संभोग संचारी भाव है। और—

> री सखी कैसी विचित्रता है चरचा चित या दर माँहि गुरावहि।
> दीनदयालु है खाली! सुनौ मनमाखी चहौ अब बेनु बजावहिं।
> भूलहि सों सुनिकै हिय सों चित मोहित ह्वै मृग-वृंद मचावहिं।
> ठाँडत गात छिदू धरि मौन न मौन मे चित्र लिखे-से मचावहिं।

यहाँ 'जड़ता'-भाव की प्रधानता से व्यंजना है।

रसाभास

जब रस अनौचित्य रूप में होता है, तब उसे रसाभास कहते हैं।

सहृदय जनों को अनुचित प्रतीत होना ही अनौचित्य है। यद्यपि अनौचित्य दोष है, किंतु आपात रमणीय होने के कारण क्षण-भर के लिये इसके द्वारा भी रस का आभास होता है। जल में सूर्य के प्रतिबिंब आदि की तरह अवास्तव स्वरूप को 'आभास' कहते हैं[१]। रसाभास में भी वस्तुतः सीप में चाँदी की झलक की तरह रस की झलक-मात्र रहती है[२], इसलिये रसाभास को ध्वनि का एक भेद माना है।

शृंगार-रसाभास—उपनायक (अन्य पुरुष) में अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की रति होना, नदी आदि निरिंद्रियों में संभोग का आरोप करना, पशु-पक्षियों के प्रेम का वर्णन करना, गुरु-पत्नी आदि में अनुराग, नायक-नायिका में उभयनिष्ठ प्रेम का न होना[३], नीच व्यक्ति में प्रेम होना इत्यादि।

हास्य-रसाभास—गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों का हास का आलंबन होना।

---

१ 'प्रतिबिंबादिवदवास्तवस्वरूपम्'—शब्द-कल्पद्रुम।

२ 'शुक्तौरजताभासवद्'—ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ ११।

३ स्त्री का प्रेम पुरुष में हो, पुरुष का स्त्री में न हो, या पुरुष का प्रेम स्त्री में हो, पर स्त्री का पुरुष में न हो।

करुण-रसाभास—विरक्त में शोक का होना।
रौद्र रसाभास—पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना।
वीर-रसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना आदि।
भयानक रसाभास—उत्तम व्यक्ति में भय का होना आदि।
बीभत्स-रसाभास—यज्ञ के पशु में ग्लानि होना आदि।
अद्भुत रसाभास—ऐंद्रजालिक कार्यों में विस्मय होना आदि।
शांत रसाभास—नीच व्यक्ति में शम की स्थिति होना आदि।

उपनायकनिष्ठ रति-शृंगार-आभास

[1]"फिर फिर चित उतही रहत टुटी लाज की लाव।
अंग-अंग-छवि-झौंर में भयो भौंर की नाव।"

यह अंतरंग सखी की नायक के प्रति उक्ति है। 'टुटी लाज की लाव' इस कथन से नायिका की उपनायक में रति का सूचन है, अतः रसाभास है।

बहुनायक-निष्ठ रति-शृंगार-आभास

"यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै।
त्यों 'पदमाकर' एकन के उर में रस बीजनि बै चलै बै चलै।
एकन सों बतराय कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै।
एकन सों तकि घूँघट में मुख मोरि कनैननि दै चलै दै चलै।"

---

1 उसका चित्त तुम्हारे अंगों के छविरूप भौंर के भौंर में फँस गया है। उसकी गति जल के भँवर में फँसी हुई नाव की तरह हो रही है, अर्थात् वहाँ से निकलना असंभव-सा हो रहा है।

यहाँ नायिका की अनेक पुरुषों में रति व्यक्त होने से शृंगार-रसाभास है।

अधम पात्र में रति-शृंगार-आभास

"गेह तैं निकसि बैठि बेचत सुमन-हार,
देह-दुति देखि दीह दामिनि लजा करै;
मदन - उमंग नव - जोबन तरंग उठै,
वसन सुरंग अंग भूषन सजा करै।
'दत्त' कवि कहै प्रेम पावन प्रवीनन सों,
बोलत अमोल बैन बीन-सी बजा करै;
गजब गुजारती बजार में नचाय नैन,
संजुत मजेज भरी मालिन मजा करै।"

यहाँ मालिन में अनुराग सूचन होता है, अतः अधम पात्र-निष्ठ रति होने से रसाभास है।

अनुभय-निष्ठ रति-शृंगार-आभास

"गात पै पातन के कपरा गरे गुंजनि की दुलरी मन मोहै;
लाल कनेर के कानिन फूल सदा बन को बसिबो चित टोहै।
आजु अचानक ही बन में ब्रजराज कुमार चरावतु गो है;
देखि पुलिंद-वधू बस-काम सलाज सों पूछत हौ यह को है।"

(हरिप्रसाद-कृत बालकराम-विनोद)

यहाँ श्रीनंदनंदन को देखकर पुलिंद-रमणियों के रति-प्रेम

उत्पन्न होने में अनुभय-निष्ठ रति है, क्योंकि श्रीकृष्ण की उनमें रति नहीं। अतः रसाभास है।

निरिंद्रियों में रति के आरोप में शृंगार-आभास

देखो जाती सलिल-कृश हो एक वेणी-स्वरूप,
जो वृक्षों के गिर दल पके हो रही पांडु रूप।
तेरे को है उचित, उसका मेटना कार्श्य, क्योंकि—
ऐसे तेरा प्रकट करती मित्र! सौभाग्य वो हि।
(हिंदी-मेघदूत-विमर्श)

यहाँ नदी में विप्रलंभ-शृंगार का आरोप किया जाने से रसाभास है।

पशु-पक्षियों में रति के आरोप में शृंगार-आभास

"सब राति वियोग के जोग जगे न वियोग-सताप सराहत हैं।
पुनि प्रात सँयोग भए पै नए सउ प्रेम बढ़ाइ रहावत हैं।
चकवाइ रहे चकई चकवा सु घुकै चकि मै चकि चाहत हैं,
बिछुरे न मरे इहि लाज मनो सु जोरे जोरे नेह निबाहत हैं।"
(कुलपति मिश्र का रस-रहस्य)

यहाँ चकवा-चकवी पक्षियों में विप्रलंभ का आरोप है।

रौद्र रसाभास

विचार-शील न कहो! देखो कहा ही कथा,
है वह क्षत्रिय-दमन जो श्री-राम ही क्या न था।

वीरों को खरदूषणादि वध भी क्या गण्य सुबुत्व है ?
बाली का वध-कृत्य सत्य कहना ? क्या उस वीरत्व है ?
(उत्तररामचरित से अनुवादित)

यह कुमार लव की गर्वोक्ति है। इस उक्ति में वीर-रस के उद्दीपन के लिये नाटक के प्रधान नायक श्रीरघुनाथजी के लोकातिरिक्त वीरत्व को, ताड़िका-दमन आदि को नगण्य वीरत्व कहकर कवि ने स्वयं ही विनष्ट कर दिया[१] है। अतः पूज्यतम श्रीरघुनाथजी के विषय में क्रोधावेश के कारण लव द्वारा ऐसे कथन में रौद्र रस का आभास-मात्र है।

बीभत्स रसाभास

"दुबरो कानों-हीन स्रवन बिन पूँछ नवाएँ;
घूमो विकल सरीर ज्वार क्षुध तें टपकाएँ।
भरत सीस तें राधि रुधिर कृमि डारत डोलत;
क्षुधा क्षाम अति दीन गरे घट-कंठ कपोलत।
यह दसा स्वान पाई तऊ कुतियन सँग उन्मत फिरत,
देखो मनोज या मदन की मृतकन हूँ मारत फिरत।"

यहाँ कुत्ते के इतने बीभत्स विशेषणों द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि की गई है, किंतु कुत्ते का तो इन घृणित वस्तुओं के आस्वादन का स्वाभाविक धर्म है, अतः इनके द्वारा जुगुप्सा की पुष्टि नहीं हो सकती, इसलिये यहाँ बीभत्स रस का आभास-मात्र है।

---

१ देखो क्षेमेंद्र-कृत औचित्य-विचार-चर्चा।

अवस्था को प्राप्त होकर दूसरे किसी आभास के अंग हो जाते हैं, तब वे भी भावाभास ही कहे जाते हैं।

विस्मृति-पथ मे विषय सब रह्यो न शास्त्र-विवेक ;

केवल वह मृगछोनिनी रहत न हिय छिन एक।

किसी अन्य नायिका का स्मरण करते हुए किसी प्रवासी पुरुष की यह उक्ति है। स्रक्-चंदनादि आनंद-दायक विषयों में विराग, परिश्रम से पढ़े हुए शास्त्रों में कृतघ्नता और उस नायिका का स्मरण कदापि दूर न होना, ये 'स्मृति' संचारी की पुष्टि करते हैं। अतः स्मृति-भाव प्रधान है, और वह स्मृति-भाव यहाँ अन्य नायिका-निष्ठ है, अतः भावाभास है।

और भी—

"नृत्यत कैसे रहत ये कै गति परम विचित्र ;

कैसें बदत मृदंग तें महा मधुर धुनि मित्र।"

यहाँ मृदंग की ध्वनि के विषय में चिंता करना अनुचित है, अतः चिंता-भाव का आभास है।

भाव-शांति

जब एक भाव की व्यंजना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे विरुद्ध भाव की व्यंजना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे भाव-शांति कहते हैं। जैसे—

कंज-मुखी ! कहु क्यों बकती ? पग तेरे परौं कहु कोप निवारन ;

मानिनि ! एतो न मान करौ तें गह्यो अब जेतो कहो ! किन कारन।

पांतु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुंद को।"
(प्रियप्रवास)

उद्धवजी के व्रज में आने के समय ग्वालबालों की श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिये अभिलाषा में जो हर्ष-भाव है उसको, रथ में श्रीकृष्ण को न देखकर, विषाद-भाव से शांति है।

"वह चौहटे की चपेट में आज भली भई आय दुहू घिरगे;
कवि 'देनी' दुहूँन के लालची लोचन ओर सँकोचन सों भिरगे।
समुहाने हिए भर भेटिवे को सु उचाइन की बरषा चिरगे;
फिरगे कर से कर हेरत ही करतै मनु मानिक से गिरगे।"

यहाँ भी हर्ष-भाव की विषाद-भाव से शांति है।

कहीं-कहीं एक से अधिक भावों की भी भाव-शांति होती है। जैसे—

"बहु राम लछिमन देखि मरकट भालु मन अति अपडरे,
जनु चित्र-लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे;
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर-चाप सजि कोसल धनी,
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मरकट अनी।"

यहाँ भय, जड़ता, विस्मय आदि भावों की उत्साह-भाव से शांति है।

और भी—

अन्यत्र पाद गमनार्थ उठा रहीं सो,
वो देख रूप शिव का पुलकांगिनी हो;

जैसे—

मैं हौं हठी तुम हो कपटी मन की उघरी बतियाँ अब प्यारी;
पाँय परे की न मान कियो अपमान निरास भए गिरिधारी।
रूसि चले पिय कों लखिकै छतियाँ धरि हाथ उसास निकारी;
त्यों अँसुवान भरी अखियाँन की दीठ प्रिया सखियान पै डारी।

यहाँ नायक के लौट जाने पर कलहांतरिता नायिका में 'विषाद संचारी भाव' का उदय है, और उसी में चमत्कार है।

'भाव-शांति' में दूसरे भाव का उदय होता है, और भावोदय में पहले भाव की शांति। अतएव भाव-शांति और भावोदय में कोई विशेष भेद नहीं। किंतु रसगंगाधरकार का मत है कि दोनों को समान मानने में चमत्कार नहीं रहेगा, इसीलिये पृथक्-पृथक् दो भेद माने गए हैं। एक मत यह भी है कि जहाँ पहले भाव की शांति में अधिक चमत्कार होता है, वहाँ भाव-शांति और जहाँ पिछले भाव के उदय में अधिक चमत्कार होता है, वहाँ भावोदय समझना चाहिए।

भाव-संधि

जब समान चमत्कारवाले दो भावों की उपस्थिति एक ही साथ होती है, वहाँ भाव-संधि कही जाती है।

जैसे—

मुख घूँघट को पट है न तऊ जुग नैनन कों सरसाय रही;
अति दुर्लभ जानत हौं मिलिबो मन को जु तऊ ललचाय रही।

'मेरा प्राण-आधार कौन होगा' ? यह वितर्क है। 'लोग मुझे क्या कहेंगे' यह 'शंका' है। 'मैं उन लोगों के सम्मुख कैसे देखूँगा' यह 'व्रीड़ा' है। और 'राज रसातल जाहु' इत्यादि में निर्वेद है। इन बहुत-से भावों की प्रतीति होने से यहाँ 'भाव-शबलता' है।

एक मत है कि तिल-तंदुलन्याय से—चावल और तिलों की तरह—पृथक्-पृथक् भावों का एकत्र हो जाना ही भाव-शबलता है। पर दूसरा मत है कि यदि ऐसा माना जायगा, तो इस लक्षण की 'भाव-संधि' में अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः एक भाव के उपमर्दन (निवृत्त) होने के पीछे दूसरे भाव का उदय होकर उपमर्दित भाव का—जो निवृत्त हो गया, उस भाव का—फिर न होना शबलता है। तीसरा मत यह है कि युद्ध में जिस प्रकार कोई योद्धा गिरता हुआ और कोई गिराता हुआ दीख पड़ता है, उसी प्रकार कोई भाव उपमर्दित और कोई उपमर्दन करता हुआ माना जायगा, तो तिल-तंदुल-न्याय के अनुसार 'भाव-संधि' में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

'भाव-शांति' आदि चार अवस्थाओं की तरह 'भावस्थिति' भी एक अवस्था है। किंतु भाव-शांति आदि चारों अवस्थाओं के सिवा भाव का होना ही भाव-स्थिति है, अतएव व्यंजित संचारी और अपुष्ट रति आदि के उदाहरण जो पहले दिखाए गए हैं, वे भाव-स्थिति के ही उदाहरण हैं।

यहाँ तक अभिधा-मूला-ध्वनि के प्रथम भेद असंलक्ष्य क्रम-

मद जोबन की मतवारी भई मन की सुधि को हुलसाय रही,
ढँकि देरत में मुख फेरत में हिय को हुलसाय बताय रही।

यहाँ हर्ष और विषाद भावों की संधि है। और भी—

"मधुरि मिलाइ सुनि मिलाइ महि राजत जोबन जोत
पंकज नवविकसित-सीत मुख अनु शिशुमंजन होत।

"देख्यो चहै पिय को मुख पै अँखियाँ न करै प्रिय की अभिलाखें
चाहति 'संभु' कहै मन में बतियाँ मुख में पुनि आवति न भाखैं
बैठिबे को चाहै मुख पै नहिं लोम ते जाइ नहीं नहीं भाखैं
काम सँकोच दुहूँन बहू थकि जाइ दुराज-दशा करि राखी।

यहाँ औत्सुक्य और व्रीड़ा की संधि है।

भाव-शबलता

जहाँ एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा, इस प्रकार बहुत-से भावों का एक ही स्थान पर सम्मेलन होता है, उसे भाव-शबलता कहते हैं। जैसे—

या विधि की विपरीत कथा हा ! विदेह-सुता कित है अब मैं कित ;
वा मृगनैनी बिना बन में अब होइ सो प्रान अधारहु को इत।
मोहिं कहैंगे कहा सब लोग ? क कैसे जऊँगो जहैं सगुरै चित;
राम रसातल जाहु अबै है धरातल जीवन हू में कहा हित।

यह जानकीजी के वियोग में श्रीरघुनाथजी की कातरोक्ति है। यहाँ 'विधि की विपरीत कथा' में 'असूया' है। 'हाय विदेह-सुता कित' में 'विषाद' है। 'वा मृगनैनी' में 'स्मृति' है।

'मेरा प्राण-आधार कौन होगा' ? यह वितर्क है। 'लोग मुझे क्या कहेंगे' यह 'शंका' है। 'मैं उन लोगों के सम्मुख कैसे देखूँगा' यह 'व्रीड़ा' है। और 'राज रसातल जाहु' इत्यादि में निर्वेद है। इन बहुत-से भावों की प्रतीति होने से यहाँ 'भाव-शबलता' है।

एक मत है कि तिल-तंदुलन्याय से—चावल और तिलों की तरह—पृथक्-पृथक् भावों का एकत्र हो जाना ही भाव-शबलता है। पर दूसरा मत है कि यदि ऐसा माना जायगा, तो इस लक्षण की 'भाव-संधि' में अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः एक भाव के उपमर्दन (निवृत्त) होने के पीछे दूसरे भाव का उदय होकर उपमर्दित भाव का—जो निवृत्त हो गया, उस भाव का—फिर न होना शबलता है। तीसरा मत यह है कि युद्ध में जिस प्रकार कोई योद्धा गिरता हुआ और कोई गिराता हुआ दीख पड़ता है, उसी प्रकार कोई भाव उपमर्दित और कोई उपमर्दन करता हुआ माना जायगा, तो तिल-तंदुल-न्याय के अनुसार 'भाव-संधि' में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

'भाव-शांति' आदि चार अवस्थाओं की तरह 'भाव-स्थिति' भी एक अवस्था है। किंतु भाव-शांति आदि चारो अवस्थाओं के सिवा भाव का होना ही भाव-स्थिति है, अतएव व्यंजित संचारी और अपुष्ट रति आदि के उदाहरण जो पहले दिखाए गए हैं, वे भाव-स्थिति के ही उदाहरण हैं।

यहाँ तक अभिधा-मूला-ध्वनि के प्रथम भेद असंलक्ष्य क्रम-

व्यंग्य का—रस, भाव, रसाभासादि का—निरूपण किया गया है। अब इसी अभिधा-मूला-ध्वनि के दूसरे भेद संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य का निरूपण किया जाता है।

काव्यप्रकाश के 'उद्योत' टीकाकार नागोजी ने यह स्पष्टीकरण किया है कि उक्त असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य-ध्वनि में जहाँ विभावादिकों से व्यक्त होनेवाले स्थायी भावों के उद्रेकातिशय से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहाँ 'रस-ध्वनि' होती है। जहाँ अपने अनुभावों से व्यक्त होनेवाले व्यभिचारी आदि[1] के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, वहाँ 'भाव-ध्वनि' होती है। और संलक्ष्य क्रम-व्यंग्य-ध्वनि में, व्यंग्योभूत व्यभिचारियों की अपेक्षा न करके, केवल विभाव अनुभावों के उद्रेक से आस्वाद उत्पन्न होता है, अर्थात् रस, भाव आदि के बिना वस्तु या अलंकार की ध्वनि होती है।

संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम संलक्ष्य होता है—भले प्रकार प्रतीत होता है—उसे संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि कहते हैं।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर व्यंग्यार्थ प्रतीत

[1] यहाँ 'आदि' पद से अपुष्ट 'रति' आदि नवों स्थायी भाव भी समझना चाहिए।

होता है, वहाँ यह ध्वनि होती है। जैसे घड़ावल के बजने पर पहले चोट का टंकार होता है तदनंतर अनुरणन अर्थात् झंकार होती है, उसी प्रकार टंकार के समान वाच्यार्थ का बोध होने पर झंकार को भाँति इस ध्वनि में व्यंग्य अर्थ की ध्वनि निकलती है। जैसे टंकार की अपेक्षा झंकार मधुर होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ मधुर होता है और जैसे टंकार का झंकार के साथ पौर्वापर्य—पहला-पिछला—क्रम स्पष्ट जाना जाता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ के अनंतर प्रतीत होनेवाले व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम इस ध्वनि में स्पष्ट प्रतीत होता है। अर्थात् इस ध्वनि में रस, भाव आदि की तरह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम असंलक्ष्य नहीं रहता।

संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य कहीं शब्द-शक्ति द्वारा, कहीं अर्थ-शक्ति द्वारा और कहीं शब्द-अर्थ उभय शक्ति द्वारा प्रतीत होता है। अतः इस ध्वनि के तीन भेद हैं—(१) शब्द-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि, (२) अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि और (३) शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि।

शब्द-शक्ति-उद्भव ... ध्वनि

जिस शब्द का प्रयोग ...
से, न कि उसके ...

यह दो प्रकार की होती है—(१) वस्तु-ध्वनि और (२) अलंकार-ध्वनि। वस्तु उस अर्थ को कहते हैं, जिसमें कोई अलंकार नहीं होता है। अतः जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो, जिसमें कोई अलकार न हो, वहाँ वस्तु-ध्वनि कही जाती है। जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो, जिसमें कोई अलंकार हो, वहाँ अलंकार-ध्वनि कही जाती है। अलंकार-ध्वनि के विषय में एक बात का स्पष्ट करना आवश्यक है—

अलंकार और अलंकार्य

दो पदार्थ हैं। अलकार उसे कहते हैं, जो दूसरे को शोभायमान करता है; जैसे हार, कुंडल आदि शरीर को शोभित करते हैं। अलंकार्य उसे कहते हैं, जो दूसरे से शोभित होता है; जैसे मनुष्य का शरीर अलंकारों से शोभित होता है। इसी प्रकार जब उपमा आदि अलंकार शब्दार्थ (वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ) को शोभित करते हैं, तब उन्हें अलंकार कहते हैं। जब वे व्यंग्यार्थ में प्रधानता से प्रतीत होते हैं, तब अलंकार्य हो जाते हैं। अतः उन्हें 'अलंकार-ध्वनि' कहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जो अलंकार्य (व्यंग्यार्थ) है, वह अलंकार (वाच्यार्थ) किस प्रकार कहा जा सकता है ? अर्थात् अलंकार-ध्वनि में जो उपमा आदि अलंकार ध्वनित होते हैं, उनको यदि प्रधान माना जाय, तो उनमें अलंकारता कहाँ रह सकती है—दूसरे को शोभा-

मान करना जो अलंकार का धर्म है, वह उनमें नहीं रहता, क्योंकि दूसरे को शोभित करनेवाला तो अप्रधान होता है। और यदि उनको (ध्वनित होनेवाले उपमा आदि अलंकारों को) अप्रधान माना जाय, तो उनमें ध्वनित्व नहीं रह सकता, क्योंकि जो ध्वनि (व्यंग्यार्थ) है, वह तो प्रधान अर्थ ही होता है। निष्कर्ष यह है कि एक ही पदार्थ को अलंकार और ध्वनि—अप्रधान और प्रधान—किस प्रकार कहा जा सकता है?

इसका समाधान ब्राह्मण-क्षपणक-न्याय द्वारा हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति पहले ब्राह्मण हो और फिर क्षपणक (बौद्ध संन्यासी) हो जाता है, उस अवस्था में उसमें ब्राह्मणत्व न रहने पर भी—शिखा-सूत्र का अभाव रहने पर भी—उसे ब्राह्मण-क्षपणक कहते हैं। उसी प्रकार अलंकारों के अलंकार्य अवस्था को प्राप्त हो जाने पर उनमें यद्यपि वस्तुतः अलंकारता (अप्रधानता) नहीं रहती है, किंतु अलंकार-ध्वनि इसलिये कही जाती है कि उनको पहले अलंकार संज्ञा थी।

शब्द-शक्ति-उद्भव वस्तु-ध्वनि

[1]पत्थर-थल है पथिक! इत सत्थर[2] कहुँ न बसायँ;
उठे पयोधर देखि जो रहो चहत रहि जायँ।

(गाथा सप्तशती से अनुवादित)

यह पथिक के प्रति स्वयं दूतिका नायिका की उक्ति है।

---

1 पत्थर फैला हुआ स्थल अर्थात् पहाड़ी ग्राम। 2 यह शब्द प्राकृत भाषा का है। इसके अर्थ शय्या और बिस्तर (बिछौने) दोनों हैं।

पढ़ते तो यह वाच्यार्थ बोध होता है कि 'यहाँ बिछौने आदि नहीं हैं, पहाड़ी गाँव है। यदि उठे हुए पयोधरों को—बादलों को—देखकर रात्रि के समय, मार्ग में वर्षा की पीड़ा समझकर, रहने की इच्छा हो, तो यहाँ रुक जाइए'। इस वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दों की शक्ति से यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि 'परस्त्री-गमन का निषेध करने-वाले शास्त्रों को यहाँ कोई नहीं पूछता है। यदि मेरे उठे हुए (उन्नत) पयोधरों को (स्तनों को) देखकर इच्छा हो, तो रुक जाइए'। यहाँ यदि 'सत्थर' और 'पयोधर'-शब्दों के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द बदल दिए जायँ, तो उपर्युक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता। शब्द के आश्रय से ही यहाँ व्यंग्य है, अतएव यह शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि है।

यह वस्तु-ध्वनि इसलिये है कि इस व्यंग्यार्थ में कोई अलंकार प्रतीत नहीं होता है। अनुरणन-ध्वनि इसलिये है कि यहाँ वाच्यार्थ का बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ की क्रमशः ध्वनि निकलती है।

शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि

उपादान-संभार[1] बिन जगत-चित्र बिन भीतर[2];
कला-कलापिय[3] हरह ने रच्यो वंदौं उन्हैं विनीत।
(हरविलासमणि से अनुवादित)

---

[1] रचना करने की सारी सामग्रियाँ। [2] दीवार। [3] मनोहर कला (चंद्रमा की कला) धारण करनेवाले अथवा चित्र-कला में प्रवीण शोभित।

यहाँ भगवान् शंकर का चित्र-कला-संबंधी लोकोत्तर उत्कर्ष व्यंग्य द्वारा प्रतीत होता है। प्रवीण चित्रकार रंग और लेखिनी (ब्रुश) आदि सामग्रियों से और दीवार आदि किसी प्रकार के आधार पर ही चित्र बना सकता है, पर श्रीशंकर ने विना ही कोई सामग्री और आधार के—शून्य स्थान पर—जगत् का विचित्र चित्र बनाया है, अतः 'व्यतिरेक' अलंकार की ध्वनि है। इस प्रकार चित्रकार से श्रीशंकर का आधिक्य सूचित होता है। यदि 'चित्र' और 'कला'-शब्द बदल दिए जायँ, तो यह व्यंग्यार्थ प्रतीत नहीं हो सकता, इसलिये शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि है।

और भी—

> मेघकाल करवाल की जल-धारान प्रपातु।
> अरिन प्रतापानल बढ्यो देव ! तुम्हीं विनसातु।

यह राजा के प्रति कवि की उक्ति है—'हे राजन् ! मेघ-जैसी करवाल (तलवार) की जलधारा से, अर्थात् कांति-युक्त तलवार की धार से, शत्रुओं के प्रताप-रूपी बढ़ी हुई अग्नि का तुम्हीं विनाश करते हो'। इस मुख्य अर्थ को बोध कराके अभिधा-शक्ति रुक जाती है, फिर यहाँ व्यंग्य से इंद्र का अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् 'हे देव ! आप कालकर (काली कांतिवाले) बाल (नवीन) मेघों की जल-धाराओं के प्रपात से (डालने से) बल के शत्रु-तेज आदि का ताप विनाश करते हो।' वाच्यार्थ प्राकरणिक राजा है और व्यंग्यार्थ है अप्राकरणिक

इंद्र। राजा को इंद्र की उपमा व्यंग्यार्थ से प्रतीत होती है, अतएव उपमा-अलंकार की ध्वनि है।

जहाँ शब्द-उद्भव-शक्ति द्वारा व्यंग्य से अलंकार ध्वनित होता है, अर्थात् वाच्यार्थ वस्तु-रूप और व्यंग्यार्थ अलंकार-रूप होता है, वहीं शब्द-शक्ति-उद्भव अलंकार-ध्वनि होती है। और, जहाँ शब्द-शक्ति द्वारा एक से अधिक अर्थ व्यंग्यार्थ रूप न होकर वाच्यार्थ होते हैं, वहाँ ध्वनि नहीं, किंतु श्लेषालंकार होता है।

जैसे—

> हैं पूतना-मारण में सुदक्ष,
> जघन्य काकोदर था विपक्ष।
> की किंतु रक्षा उसकी दयालु,
> शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु।

यहाँ शब्द-शक्ति से एक साथ ही श्रीरामचंद्र और श्रीकृष्ण-चंद्र दोनों का वर्णन है। दोनों अर्थ वाच्यार्थ हैं और न इनमें उपमेय और उपमान-भाव ही व्यंग्य है, अतः उपमालंकार को ध्वनि नहीं, केवल शब्द-श्लेषालंकार-मात्र है।

अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि

जहाँ शब्द-परिवर्तन होने पर भी व्यंग्यार्थ [illegible]नि होती है, वहाँ अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि .. है।

शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि में शब्द-परिवर्तन करने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं होता, किंतु इसमें शब्द-परिवर्तन करने पर भी व्यंग्यार्थ सूचित होता है। अतः यह, शब्द पर निर्भर न होने के कारण अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि कही जाती है। व्यंजक अर्थ (जिससे व्यंग्यार्थ सूचित होता है) तीन प्रकार का होता है— (१) 'स्वतः संभवी', (२) 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध' और (३) 'कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध'।

(१) स्वतः संभवी

जो 'अर्थ' (वर्णन) कवि की कल्पना-मात्र ही न हो, किंतु संभव भी हो, अर्थात् लोक-व्यवहार में असंभव प्रतीत न हो, वह स्वतः संभवी है।

(२) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

जो 'अर्थ' केवल कवि की कल्पना-मात्र ही हो, अर्थात् जिसका होना असंभव हो (जैसे काली वस्तु को सफ़ेद करनेवाली चंद्रमा की चाँदनी केवल कवि की कल्पना-मात्र है, क्योंकि लोक में ऐसी चाँदनी नहीं देखी जाती), उसे कवि को प्रौढ़ोक्ति कहते हैं। और ऐसे कवि-कल्पित वर्णन को कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध कहते हैं।

(३) 'कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

जहाँ कवि की स्वयं उक्ति न होकर कवि-कल्पित पात्र की अर्थात् नायक-नायिका आदि की प्रौढ़ोक्ति द्वारा लोकातिरिक्त

केवल कल्पनात्मक वर्णन होता है, वहाँ 'कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध' कहा जाता है। 'कवि-प्रौढ़ोक्ति में' कवि स्वयं वक्ता होता है, और इसमें कवि-कल्पित पात्र। बस यही भेद है।

इन तीनो भेदों में कहीं तो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनो ही वस्तु-रूप या अलंकार-रूप होते हैं, और कहीं दोनो में (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में) एक वस्तु-रूप और दूसरा अलंकार-रूप होता है, अतएव इन तीनो के चार-चार भेद होते हैं।

स्वतः संभवी

(क) स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु-व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी वस्तु-रूप और व्यंग्यार्थ भी वस्तु-रूप।

(ख) स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ वस्तु-रूप और व्यंग्यार्थ अलंकार-रूप।

(ग) स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ अलंकार-रूप और व्यंग्यार्थ वस्तु-रूप।

(घ) स्वतः संभवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य, अर्थात् वाच्यार्थ भी अलंकार और व्यंग्यार्थ भी अलंकार।

कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

(ङ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य।

(च) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य।

(छ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य।

(ज) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य।

कवि-निबद्ध पात्र-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध

(ञ) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य ।

(ञ) कवि-निबद्ध पात्र-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य ।

(ट) कवि-निबद्ध प्रौढ़ोक्ति० अलंकार से वस्तु व्यंग्य ।

(ठ) कवि-निबद्ध प्रौ० अलंकार से अलंकार व्यंग्य ।

इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य

सर सम्मुख आवहिं फिरहिं, फिर आवहिं फिर जाहिं,
मधुप-पुंज अति मधुर ये गुंजत अधिक सुहाहिं ।

यहाँ मधुर गुंजित भौंरों का सरोवर के पास बार-बार लौटकर आना, जो वाच्यार्थ है, वह वस्तु-रूप है । इसमें कोई अलंकार नहीं है। इसके द्वारा यह व्यंग्य प्रतीत होता है कि कमलों का शीघ्र ही विकास होनेवाला है, तथा शरद्-ऋतु भी आ रही है। और यह व्यंग्यार्थ भी वस्तु-रूप है—इसमें भी कोई अलंकार नहीं। भ्रमरों का मधुर गुंजार जो वाच्यार्थ है, वह और शरद् का होनेवाला प्रादुर्भाव दोनो ही स्वतः संभवी हैं, क्योंकि इन बातों का होना संभव है. अतः यहाँ स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य है। और भी—

मृदु पद रख धीरे कंटका भू-त्यक्तो है;
सिर पट ढकिए री! घाम कैसी घनो है।
पथि पथिक-वधू यों मैथिली को सिखातीं;
दृग-सलिल बहातीं, प्रेम को यों दिखातीं।
(बालरामायण से अनुवादित)

श्रीरघुनाथजी के वन-गमन की कथा कहते हुए सुमंत्र की राजा दशरथ के प्रति जो यह उक्ति है, वह वस्तु-रूप वाच्यार्थ है। यहाँ 'जानकीजी' के अंगों की सुकुमारता, उनका पातिव्रत्य और इस दुस्सह अवस्था में भी पति का साथ देना इत्यादि जो भाव पथिकांगनाओं के हृदय में उठे हुए प्रतीत होते हैं, वह व्यंग्यार्थ है, और वह भी वस्तु-रूप है।

(ख) स्वतः संभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य

रवि-प्रताप हू घटत है जब वह दक्खिन जाय,
रघु-प्रताप नहिं सहि सक्यो नृपन तिहीं दिसि माय।
(रघुवंश से अनुवादित)

यह रघु का दिग्विजय-वर्णन है। 'दक्षिण दिशा में जाकर (दक्षिणायन होकर) सूर्य का भी प्रताप—अधिक ताप—घट जाता है, पर उस दिशा में भी महाराज रघु का प्रताप नहीं घटा—उस प्रताप को दक्षिण दिशा (पांड्य देश) के राजा नहीं सह सके।' यह स्वतः संभवी वस्तु-रूप वाच्यार्थ है, कवि-कल्पित नहीं। और इस वाच्यार्थ के द्वारा सूर्य के

तेज से रघु के तेज का उत्कर्ष सूचित होता है। इस व्यंग्यार्थ से 'व्यतिरेक'-अलंकार की ध्वनि निकलती है। अतः वस्तु से अलंकार-व्यंग्य है।

इसी प्रकार—

"गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइकै देह सँवारी;
मेघ सहे सिर सीत सहे तन धूप-समैं जु पँचागिन जारी।
भूख सही रहे रूख तरे पर 'सुंदरदास' सहे दुख भारी,
डासनि छाँडिकै कासन ऊपर आसन मार्यो पै आस न मारी।"

यहाँ गेह आदि सब वस्तुओं के त्यागने पर भी आशा का बना रहना कहा गया है। इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ द्वारा यह व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि 'आशा के त्यागे बिना घर आदि का त्याग वृथा है'। इस व्यंग्यार्थ में विनोक्ति-अलंकार की ध्वनि निकलती है।

(ग) स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु-व्यंग्य

"ऐसे रन रावन बुलाए बीर बान दल,
जानत जे रीति सब संजुग समाज की;
चली चतुरंग चमू चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग राति-चर-राज की।
'तुलसी' बिलोकि कपि भालु किलकित-ललत—
नख ललित ज्यों कँगाल पातरी सुनाज की।
राम-रुख निरखि हरस्यो हिय हनुमान,
मानो खेलवार खोली सीस-ताज बाज की।"

रावण की सेना को देखकर श्रीरघुनाथजी ने, युद्ध क
लिये, हनुमानजी को इशारा किया। उस इशारे से हनुम
को जो हर्ष हुआ, उस हर्ष की शिकारी द्वारा टोपी खोले
बाज पक्षी की उत्प्रेक्षा की गई है। इस उत्प्रेक्षा-अलंकार
यह वस्तु-रूप व्यंग्यार्थ सूचित होता है कि रावण से
करने को हनुमानजी को जो चिरकाल से उत्कट उत्कंठा
वह पूर्ण हो गई।

जीरन बसन विहाय जिमि पहरत अपर नवीन।
तिमि पावत नव-देह नर तजि जीरन तन-छीन।
(श्रीमद्भगवद्गीता से अनुवादित)

भगवान् की इस उक्ति में उपमा अलंकार स्वतः संभ
वाच्यार्थ है। वस्तु रूप ध्वनि यह है कि 'जन्म-मरण तो होत
ही रहता है, पर युद्ध में जीतने से यहाँ सुख और सुकीर्ति
है और मरने से स्वर्ग की प्राप्ति है, अतः उभय-लोक-साधक
युद्ध अवश्य ही कर्तव्य है।'

(घ) स्वतः संभवी अलंकार से अलंकार-व्यंग्य

रिपु-तिय-रद-पद अधर को दुख सब दियो मिटाय।
नृप! तुम रन में कुपित ह्वै अपने अधर चबाय।

कवि राजा से कहता है कि 'संग्राम में कुपित होकर
अपने ओठों को चबाकर तुमने अपने शत्रुओं की स्त्रियों
के अधरों का दुःख (जो उनके पतियों द्वारा किए गए

दंत-क्षतों से होता) दूर कर दिया।' यह वाच्यार्थ है। इसमें 'अपने ओठों को चबाकर दूसरों के ओठों का दुःख दूर करना' यह विरोधाभास-अलंकार है[1]। इस अलंकार द्वारा 'तू अपने ओठ इसलिये चबाता है कि तेरे ओठों के चाहे क्षत हो जायँ, पर दूसरों के क्षत न हों' यह उत्प्रेक्षा की ध्वनि भी निकलती है, अथवा 'अधरों का चबाना' और 'शत्रुओं का मारना' दो क्रिया एक काल में होने में समुच्चय अलंकार की ध्वनि है।

(ङ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध-वस्तु से वस्तु-व्यंग्य

> कुसुम-बान सहकार के मधु केवल न सजात;
> करि सम्मुख तरुनीन के स्मर-कर में पकात।

यह वसंत-वर्णन है। वसंत को बाण बनानेवाला, कामदेव को योद्धा, स्त्री-जनों को लक्ष्य, और आम्र को बाण कहा गया है। किंतु काम योद्धा या उसके चलते हुए बाण देखे नहीं जाते, यह कवि की केवल कल्पना-मात्र है। अतः यहाँ कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु-रूप वाच्यार्थ है, उससे यहाँ 'कामोद्दीपन-काल'-रूप वस्तु-व्यंग्य है।

---

1 कुछ व्याख्याकारों ने यहाँ विरोधाभास न मानकर विरोध-मूलक अतिशयोक्ति-अलंकार बतलाया है।

(च) कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध-वस्तु से अलंकार व्यंग्य

> निशि ही में ससि करत है केवल भुवन प्रकास।
> तेरो जस निसि-दिन करत त्रिभुवन धवल उजास।

राजा के यश से त्रिभुवन में प्रकाश होना कवि-कल्पना-मात्र है, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति है। 'चंद्रमा केवल रात्रि में ही प्रकाश करता है, और तेरा यश दिन-रात', इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ से राजा के यश में चंद्रमा से अधिकता व्यंग्य से सूचित होती है, अतः व्यतिरेक-अलंकार की ध्वनि निकलती है।

और भी—

> "हम खूब शरद से जान गए जैसा आनंद का कंद किया,
> नव-रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन में बंद किया।
> तुम हुस्न प्रभा की बाकी लै फिर विधि ने यह फरफंद किया,
> चंपक-दल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला मंद किया।"
>
> (महंत सीतलदासजी)

यहाँ अंगों के रूप-लावण्य की रचना करके बची हुई सामग्री से चंपक-दल आदि की रचना के कथन में कवि-प्रौढ़ोक्ति है। इसमें व्यतिरेक-अलंकार की व्यंजना है, क्योंकि चंपक आदि से अंगों की कांति की अधिकता सूचित होती है।

(छ) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु-व्यंग्य

रावन सिर के मुकुट सों गिरि मिस सुचि-तज जाय।
मनि-मिस निसिचर-लच्छि के अँसुवा गिरे दराय।

(रघुवंश से अनुवादित)

'श्रीरघुनाथजी के जन्म-समय रावण के मुकुट से मणियों के गिरने का तो बहाना-मात्र था, वास्तव में राक्षसों की लक्ष्मी के आँसू पृथ्वी पर गिरे थे।' इस वर्णन में 'राक्षसों की लक्ष्मी के आँसू' कवि-कल्पित हैं, अतः कवि-प्रौढ़ोक्ति है। 'मणियों के बहाने से आँसू गिरे' इस कथन में 'अपह्नुति'-अलंकार वाच्यार्थ है। इसमें 'आगे को होनेवाला राक्षसों का विनाश'-रूप वस्तु-व्यंग्य है।

(ज) कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से अलंकार-व्यंग्य

"कोप के कटाच्छ तें निहारत ही रिपु-ओर,
काम के कटाच्छ बाम तिनकी बिलात हैं;
मूर्वी-गांडीव ताको सपरस करत परी—
नारिन के कंकन को परस मिटात है।
दसत है होठ आप पीर को सहत बीर
सत्रु-बधू होठनि की पीर सों बिलात है;
बान के सँधानत ही अर्जुन के सत्रुन की—
तियन की चूरिन को चूरन दिखात है।"

अर्जुन के युद्ध के वर्णन में यह कवि की प्रौ
'शत्रुओं पर अर्जुन के कुपित कटाक्षों का गिरना' यह
अन्य स्थान पर और उनकी (शत्रुओं की) स्त्रियों
कटाक्ष का अंत हो जाना' यह कार्य अन्य स्थान पर होने
गति-अलंकार है। इस अलंकार द्वारा कार्य-कारण
साथ होना रूप अतिशयोक्ति-अलंकार की ध्वनि निकल

और भी—

"आहिन ये पावक प्रबल लुवैं चलैं चहुँ पास ;
मानहु विरह-वसंत के ग्रीसम लेत उसास।"

यहाँ अपने प्यारे 'वसंत के विरह में लूओं के रूप में
ऋतु का तत्ते श्वास लेना' सापह्नव उत्प्रेक्षा है। इस
द्वारा "जब स्वयं ग्रीष्म-ऋतु ही तत्ते श्वास ले रही
जीवधारी मनुष्यादिकों के संताप की बात ही क्या है'
'अर्थापत्ति'-अलंकार व्यंग्यार्थ से ध्वनित होता है। और

सुनत बिहारी के ललित दोहन-मोहन मंत्र ;
स-हृदय हृदय न सुधि रहत लगत न जंत्र न तंत्र।

बिहारी कवि के दोहों को मोहन-मंत्र कहने में 'रूपक'
कार वाच्यार्थ है। इसके द्वारा 'अन्य मंत्रों को मोहन
पर जंत्र-तंत्रों का प्रभाव हो सकता है, और इन मोहन
पर कोई जंत्र-मंत्र नहीं चल सकता' यह उत्कर्ष सूचित
है। अतः 'व्यतिरेक' अलंकार व्यंग्य है। यह कवि-कवि
वर्णन है, अतः कवि-प्रौढोक्ति-मात्र है।

(झ) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से वस्तु-व्यंग्य

"करी विरह[1] ऐसी तऊ गैल न छोड़त नीच।
दीन्हेऊ चसमा चखनि चाहत लखै न मीच।"

यहाँ मृत्यु के नेत्र में चश्मे का होना कवि-कल्पित वस्तु-रूप है। वक्ता विरह-निवेदना दूती है, अतः कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति है, और नायिका की अत्यंत कृशता का सूचित होना वस्तु-व्यंग्य है।

(ञ) कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तु से अलंकार-व्यंग्य

मदन-बान तजि पंचता सखि! वे भए अनंत ;
विरहिन कौं अब पंचता आई हाय! बसंत।

कवि-निबद्ध नायिका की उक्ति है—'हे सखी, कामदेव के पुष्प-बाणों को जो पंचता (पाँच की संख्या) थी, वह उन्होंने वसंत-ऋतु में छोड़ दी, अर्थात् वे बाण असंख्य हो गए हैं, अतः वियोगियों को अब पंचता (मृत्यु) आ गई'। यह जो वस्तु-रूप वर्णन है, उसके द्वारा जो बाणों की पंचता थी,

---

[1] विरह ने उसे इतनी दुबली कर दी है कि मृत्यु चश्मा लगाकर भी उसे नहीं देख सकती, फिर भी नीच विरह उसका पिंड नहीं छोड़ता।

रही मानों वियोगी जनों में भा गई, यह उत्प्रेक्षा अलंकार व्यंग्य से प्रतीत होता है।

(ट) कवि-निबद्ध-पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से वस्तु-व्यंग्य

मानिनि ! मालति-कुसुम पै गुंजत भमर सुहाहि;
मानो मदन-नृपाल के सु-मनर संख बजाहि।

मानिनी के प्रति कवि-निबद्ध सखी की यह प्रौढ़ोक्ति है भ्रमर के गुंजार में कामदेव के शंख की उत्प्रेक्षा वाच्यार्थ है। इस उत्प्रेक्षा-अलंकार द्वारा "कामोद्दीपक समय आ गया, फिर भी तू मान नहीं छोड़ती" यह वस्तु-ध्वनि निकलती है। और भी—

"मरबे को साहस कियो बढ़ी विरह की पीर,
दौरति है समुहै ससी सरसिज सुरभि-समीर।"

यह कवि-निबद्ध दूति की प्रौढ़ोक्ति है। मरने के लिये चंद्र और कमलों के सम्मुख दौड़ना इच्छा के विरुद्ध प्रयत्न है, अत विचित्र अलंकार है। इसके द्वारा नायिका का अत्यंत विरह संताप सूचित होना वस्तु-ध्वनि है। और भी—

सब सब मल-रद-धब दियो मेरे दगन सुवेस,
रक्तांसुक सुपसाद यह कुपित न है मानेस!

'तेरे नेत्र अरुण क्यों हो रहे हैं?' इस प्रकार पूछनेवाले नायक के प्रति रक्तनयना कुपित नायिका की यह प्रौढ़ोक्ति

है। 'मेरे नेत्र कोप से नहीं, किंतु तुम्हारे अंग पर नवीन (अन्य स्त्री द्वारा अभी किए हुए) दंत-क्षत और नख-क्षतों द्वारा मेरे नेत्रों को दिया हुआ रक्तांशुक अर्थात् तुम्हारे अंग के क्षतों की अरुण कांति का प्रतिबिंब (श्लेषार्थ—रक्त वस्त्र) रूप प्रसाद है'। यहाँ नायिका का उत्तर जो वाच्यार्थ है, उसी से नायक के पूर्वोक्त प्रश्न का अनुमान होता है, अतः उत्तरालंकार है। इसके द्वारा "तुम केवल अन्य प्रेमिका के किए हुए नख-क्षतादि ही नहीं छिपाते, किंतु तुमने मुझे उसको प्रसाद-पात्र भी बना दिया है (दूसरे की उपभुक्त वस्तु को ही प्रसाद कहते हैं)," यह वस्तु-व्यंग्य है।

(ठ) कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध अलंकार से अलंकार-व्यंग्य

हिय तेरो बहु तिय भर्यो मिलत न वाको ठौर;
छाँड़ि सबहि वह करत नित कृस तन अब कृस और।

यहाँ कवि-निबद्ध दूती की दक्षिण-नायक के प्रति प्रौढ़ोक्ति है। 'बहुत-सी युवतियों के प्रेम से भरे हुए तुम्हारे हृदय में स्थान न मिलने के कारण वह बेचारी अब सब काम छोड़-कर प्रतिदिन अपने कृश देह को और भी कृश कर रही है; यह इसलिये कि अत्यंत क्षीण होने से संभव है हृदय में कुछ स्थान मिल जाय'। यह 'काव्यलिंग' अलंकार वाच्यार्थ है। इसमें

'इस भेद होने पर भी तुम्हारे हृदय में
यह 'विरोधोक्ति' अलंकार व्यंग्य से प्रतीत

शब्द और अर्थ उभय शक्ति

अनुरणन ध्वनि

जहाँ कुछ पदों का परिवर्तन हो
कुछ पदों का परिवर्तन न होने से
सूचित होता है, वहाँ शब्दार्थ उभय
'ध्वनि' होती है।

यह भेद केवल वाक्यगत ही होता है
क्योंकि एक ही पद में दो विरुद्ध धर्म (अर्था
सहन करना और सहन न करना) नहीं र
वस्तु के द्वारा अलंकार-व्यंग्य होता है, न कि
क्योंकि 'वस्तु' शब्दार्थ-उभय-मूलक नहीं होती
में—छिपाने में—केवल शब्द-शक्ति ही समर्
नहीं। उदाहरण—

सोहत चंद्राभरन जुत मनमथ प्रबल
तरल-तारका कलित यह स्यामा ललित

इसके दो अर्थ हैं—(१) चंद्रमा जिसका
कामदेव को बढ़ाती है, और तरल-तारका है,
कल तारागणों से युक्त है; ऐसी यह स्यामा (

हो रही है। (२) जो चंद्र अर्थात् कपूर के भूषणों से अथवा चंद्राभरण से (ललाट के भूषण से) युक्त है, कामदेव को बढ़ानेवाली है, और तरल-तारका[1] है, अर्थात् चंचल नेत्रवाली है (अथवा तारों के समान कांतिवाले छोटे-छोटे हीरों की लटकनवाला हार धारण किए है) ऐसी यह श्यामा-कामिनी शोभायमान है'। ये दोनों वाच्यार्थ वस्तु-रूप हैं। इनमें स्त्री के समान रात्रि शोभित है, अथवा चाँदनी रात्रि-जैसी कामिनी शोभित है, यह उपमा अलंकार व्यंग्य से ध्वनित होता है। 'चंद्र', 'तरल' और 'श्यामा'-शब्दों के स्थान पर इन्हीं अर्थों के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर, दो अर्थ नहीं हो सकते, यह शब्द-शक्ति-मूलकता है, और 'आभरण', 'मनमथ' तथा 'बढ़ात'-शब्दों के स्थान पर इसी अर्थवाले दूसरे शब्द बदल देने पर भी दो अर्थ हो सकते हैं, यह अर्थ-शक्ति-मूलकता है। अतः यहाँ शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति से व्यंग्यार्थ सूचित होने से यह शब्दार्थ-उभय-शक्ति-मूलक 'ध्वनि' है।

यहाँ तक ध्वनि के जिन १८ प्रधान भेदों का निरूपण किया गया है, उन १८ भेदों के यथासंभव, अर्थात् पृष्ठ ८१ और ८२ की तालिका के अनुसार, पद[2] में, वाक्य[3] में,

---

१ तरल=चंचल, तारका=आँखों के बीच का काला मंडल।
२ सुबंत और तिङंत को 'पद' कहते हैं। ३ पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं। अतएव पदों के समूहात्मक वाक्य में और पदों के समास में जो ध्वनि होती है, वह भी वाक्यगत ध्वनि है।

अर्थात् नायिका आदि किसी एक अंग में धारण किए गए भूषण से जैसे कामिनी के सारे शरीर की शोभा हो जाती है, उसी प्रकार एक पद के व्यंग्यार्थ से कवि-कृत सारे पद्य की रचना शोभा को प्राप्त हो जाती है। उदाहरण—

> जाके सुहृद जु सुहृद हो रिपुहू रिपु ही होइ;
> जनम सफल तिहि पुरुष को जीवित हू जग सोइ।

यहाँ 'सुहृद' और 'रिपु' पद में 'अर्थांतर संक्रमित' ध्वनि है। दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद'-शब्द के वाच्यार्थ में 'विश्वास के योग्य' और 'रिपु' के वाच्यार्थ में 'पराश्त के योग्य' व्यंग्यार्थ सूचित होता है। इस ध्वनि की व्यंजना में यहाँ दूसरी बार कहे हुए 'सुहृद' और 'रिपु' पद ही प्रधान हैं, इसी से यह पदगत अर्थांतर संक्रमित ध्वनि है। पदगत 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य' ध्वनि का उदाहरण 'लगि मुख की निश्वास' (पृष्ठ ८६) में है।

पदगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

> भीत-चकित-सी ह्वै कह्यो सुनत मान-उपदेस,
> धीरे कहु सुनि लेहि सखि ! रिषत मो हिय प्रानेस।
> (अमरुशतक से अनुवादित)

यह मान का उपदेश देनेवाली सखी के प्रति भीतानना—भयभीत-से मुखवाली—नायिका की अभ्यंतर से उक्ति है। 'हे सखि ! तू मान करने की बातें बहुत धीरे-धीरे कह, क्योंकि मेरे हृदय में प्राणनाथ रहते हैं, वे कहीं सुन न लें।' यहाँ 'भीत-

संध्या के समय श्मशान में किसी मृतक बालक को उसके बंधुओं द्वारा लाया हुआ देखकर, गीध ने यह चाहा कि 'इस मृतक को छोड़कर ये लोग दिन के रहते चले जायँ, तो मेरा काम बन जाय', और गीदड़ ने यह चाहा कि 'यदि कुछ देर ये यहीं टिके रहें, तो फिर रात में गीध तो इसे न ले जा सकेंगे और मेरा काम बन जायगा।' इस प्रसंग में रात्रि में अंधे हो जानेवाले मांस-भक्षक गीध की मृतक के बांधवों से यह उक्ति है। 'ऐसे भयंकर श्मशान में इस संध्या-काल में तुम लोगों का यहाँ रहना बड़ा भयावह है।' यह स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें 'मृतक को छोड़कर तुम शीघ्र अपने घर लौट जाओ' यह वस्तु रूप व्यंग्य है।

और—

> अथ्यो न रवि अजिमतु भजौं विघन रूप यह काल ;
> रहहु निकट ही जिय परै फिरि कदापि यह बाल।
> भई न याकी तरन वय सुवरन वरन समान ;
> वजव माहिं क्यों मूढ़ मन ! गीध-वचन तुम मान।

यह उस मृतक के उन्हीं बाँधवों के प्रति गीदड़ की उक्ति है। यह भी स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें मृत बालक को छोड़कर जाने का निषेध व्यंग्यार्थ है और वह वस्तु-रूप है। इन दोनो उदाहरणों में किसी एक ही पद या वाक्य से उक्त व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता, किंतु सारे प्रबंध के वाक्य-समूह

संध्या के समय श्मशान में किसी मृतक बालक को उसके बंधुओं द्वारा लाया हुआ देखकर, गीध ने यह चाहा कि 'इस मृतक को छोड़कर ये लोग दिन के रहते चले जायँ, तो मेरा काम बन जाय', और गीदड़ ने यह चाहा कि 'यदि कुछ देर ये यहीं टिके रहें, तो फिर रात में गीध तो इसे न ले जा सकेंगे और मेरा काम बन जायगा।' इस प्रसंग में रात्रि में अंधे हो जानेवाले मांस-भक्षक गीध की मृतक के बांधवों से यह उक्ति है। 'ऐसे भयंकर श्मशान में इस संध्या-काल में तुम लोगों का यहाँ रहना बड़ा भयावह है।' यह स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें 'मृतक को छोड़कर तुम शीघ्र अपने घर लौट जाओ' यह वस्तु रूप व्यंग्य है।

और—

अथ्यो न रवि अलियतु अजौं विघन रूप यह काल;
रहहु निकट ही जिम धरै फिरि कदाचि यह बाल।
मरे न याको तरन यव सुवरन वरन समान;
तजत याहि क्यों मूढ़ जन! गीध-वचन तुम मान।

यह उस मृतक के उन्हीं बाँधवों के प्रति गीदड़ की उक्ति है। यह भी स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें मृत बालक को छोड़कर जाने का निषेध व्यंग्यार्थ है और वह वस्तु-रूप है। इन दोनों उदाहरणों में किसी एक ही पद या वाक्य से यह व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता, किंतु सारे प्रबंध के वाक्य-समूह

चकित' पद 'धीरे कहु' की योग्यता प्रकाश करता हुआ प्रधानता से पति में अनुराग सूचन करता है। अतः इस पद्य पद से संभोग-शृंगार ध्वनित होने से पद में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि है। इसी प्रकार संलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि के शब्द-शक्ति-मूल तथा अर्थ-शक्ति-मूल वस्तु या अलंकार-ध्वनि के पदगत उदाहरण होते हैं।

वाक्यगत ध्वनि

'सुबरन फूलन की धरा' (पृष्ठ ८६) में के कई पदों से बने हुए सारे वाक्य में अत्यंत तिरस्कृत वाक्य-ध्वनि है। असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य-ध्वनि के उदाहरण, रस-प्रकरण में, प्रायः वाक्यगत ही दिए गए हैं।

प्रबंधगत ध्वनि

यह ध्वनि एक वाक्य या एक पद्य में नहीं होती, किंतु प्रबंध के कई पद्यों में हुआ करती है। महाभारत के शांति पर्व के आपद्धर्म की १५३ अध्याय के गृध्र-गोमायु संवाद में बहुत मिलती है, देखिए! यहीं का उदाहरण—

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

संध्या के समय श्मशान में किसी मृतक बालक को उसके बंधुओं द्वारा लाया हुआ देखकर, गीध ने यह चाहा कि 'इस मृतक को छोड़कर ये लोग दिन के रहते चले जायँ, तो मेरा काम बन जाय', और गीदड़ ने यह चाहा कि 'यदि कुछ देर ये यहीं टिके रहें, तो फिर रात में गीध तो इसे न ले जा सकेंगे और मेरा काम बन जायगा।' उस प्रसंग में रात्रि में अंधे हो जानेवाले मांस-भक्षक गीध की मृतक के बांधवों से यह उक्ति है। 'ऐसे भयंकर श्मशान में इस संध्या-काल में तुम लोगों का यहाँ रहना बड़ा भयावह है।' यह स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें 'मृतक को छोड़कर तुम शीघ्र अपने घर लौट जाओ' यह वस्तु रूप व्यंग्य है।

और—

> अथयो न रवि अखियहु धर्यो बिघन रूप यह काज ;
> रहहु विकल ह्वै बिन परे फिरि कदापि यह बाज ।
> भई न पाकी तदन वय सुतनुष बान समान ;
> तजत चाहि क्यों मूढ़ जन ! गीध-वचन तुम मान ।

यह उस मृतक के उन्हीं बाँधवों के प्रति गीदड़ की उक्ति है। यह भी स्वतः संभवी वस्तु रूप वाच्यार्थ है। इसमें मृत बालक को छोड़कर जाने का निषेध व्यंग्यार्थ है और यह वस्तु-रूप है। इन दोनों उदाहरणों में किसी एक ही पद या वाक्य से यह व्यंग्य प्रतीत नहीं हो सकता, किंतु सारे प्रबंध के वाक्य-समूह

यह गृध्रराज के प्रति श्रीरघुनाथजी की उक्ति है। 'जो मैं राम हूँ' यह पद 'मैं सूर्यवंशी महाराज दशरथ का अतुल बलशाली पुत्र यदि राम हूँ' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है, अतः क्या अविवक्षितवाच्य अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि है? या 'जो राम हूँ तो' इस पद से 'मैं जानकी को हरण करनेवाले रावण का शीघ्र ही वध करूँगा' यह अनुरणन रूप व्यंग्य सूचित होने से क्या विवक्षितवाच्य अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि है? यह संशय होता है, क्योंकि एक को स्वीकार करने में साधक और दूसरी का त्याग करने में बाधक प्रमाण नहीं है—दोनों की ही समानता से प्रतीति होती है। अतः यहाँ संशयास्पद संकर-ध्वनि है।

अनुग्राह्य-अनुग्राहक संकर-ध्वनि का उदाहरण संसृष्टि के उदाहरण में दिखाया जायगा।

एकव्यंजकानुप्रवेश संकर का उदाहरण—

उन्नत पीन उरोज लसैं जुग दीरघ चंचल दीठ बिलोकित;
ठाढ़ी है गेह की देहरी पै पिय आगम के उतसाह-प्रलोभित।
कंचन-कुंभ कुसुंभ सजे पर, कंजन चंदनवार सुसोभित;
मंगल ये, उपचार किए बिन ही अस कंजमुखी समयोचित।

'उन्नत उरोजोंवाली और बड़े तथा चंचल नेत्रोंवाली घर के दरवाजे पर खड़ी हुई सुंदरी ने अपने पति के आने के समय समयोचित मांगलिक कार्य—दो पूर्ण कलशों को

शीतल-मंद समीर भले ही चले और मेघ के मित्र मयूरों की भी भले ही कूक होती रहे। मैं अत्यंत कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सहन कर सकूँगा। पर हाय! सुकुमारी वैदेही की क्या दशा होगी?' यहाँ (१) ध्वनि-संसृष्टी, (२) अनुग्राह्य-अनुग्राहक ध्वनि-संकर और (३) एकव्यंजकानुप्रवेश ध्वनि-संकर, तीनों एकत्र हैं— (१) आकाश निराकार है। इस पर लेप नहीं हो सकता, अतः यहाँ 'लीपत' का लक्ष्यार्थ व्याप्त ...। 'मित्रता' चेतन व्यक्ति का धर्म है। जड़ मेघ से मित्रता होना संभव नहीं, इस मुख्यार्थ का बाध ... का लक्ष्यार्थ 'मयूरों को सुख देनेवाला' ग्रहण है। इसमें अतिशय कामोद्दीपकता व्यंग्य है। ... अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि हैं। इनकी यहाँ ... स्थिति होने से संसृष्टी है। (२) इन दोनों ... वाच्य) ध्वनियों के साथ अर्थांतरसंक्रमित का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव से संकर भी है, वक्ता स्वयं राम हैं। केवल 'मैं' कहने से भी हो सकता था, अतः 'मैं राम हूँ' ऐसा कहना ... पर 'राम' पद 'राज्य-भ्रंश, वन-वास, जटा-चीर-... आदि अनेक दुःखों को सहन करनेवाला मैं राम ... में संक्रमण करता है। इस अर्थांतरसंक्रमित ... का अपनी अवज्ञा सूचित करना व्यंग्य ... और 'मित्र' पदों से जो कामोद्दीपकता की

शीतल-मंद समीर भले ही चले और मेघ के मित्र मयूरों की भी भले ही कूक होती रहे, मैं अत्यंत कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सहन कर सकूँगा। पर हाय! सुकुमारी वैदेही की क्या दशा होगी ?' यहाँ (१) ध्वनि-संसृष्टी, (२) अनुग्राह्य-अनुग्राहक ध्वनि-संकर और (३) एकव्यंजकानुप्रवेश ध्वनि-संकर, तीनो एकत्र हैं— (१) आकाश निराकार है। उस पर लेप नहीं हो सकता, अतः यहाँ 'लीपत' का लक्ष्यार्थ व्याप्त करना है। 'मित्रता' चेतन व्यक्ति का धर्म है। जड़ मेघ से मयूरों की मित्रता होना संभव नहीं, इस मुख्यार्थ का बाध होने से मित्रता का लक्ष्यार्थ 'मयूरों को सुख देनेवाला' ग्रहण किया जाता है। इसमें अतिशय कामोद्दीपकता व्यंग्य है। अतः ये दोनो अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि हैं। इनकी यहाँ परस्पर निरपेक्ष स्थिति होने से संसृष्टी है। (२) इन दोनो (अत्यंत तिरस्कृत वाच्य) ध्वनियों के साथ अर्थांतरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव से संकर भी है, क्योंकि यहाँ वक्ता स्वयं राम हैं। केवल 'मैं' कहने से भी राम का बोध हो सकता था, अतः 'मैं राम हूँ' ऐसा कहना अनावश्यक था, पर 'राम' पद 'राज्य-भ्रंश, वन-वास, जटा-चीर-धारण, स्त्रीहरण आदि अनेक दुःखों को सहन करनेवाला मैं राम हूँ' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है। इस अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि में रामचंद्रजी का अपनी अवज्ञा सू[illegible] है। उपर्युक्त 'लीपत' और 'मित्र' पदों से जो

पुरुष प्रकाशित रहता है, उसी प्रकार वसंत-ऋतु का चंद्रमा भी तुषार या बादलों से रहित प्रकाशित रहता है। यहाँ प्रकाश की अधिकता व्यंग्य है। वायु को कामिनियों के मुख की मकरंद के सौहृद्य का गर्व करनेवाला कहा गया है। किंतु वायु में न तो सौहृद्य हो सकता है और न गर्व ही, क्योंकि ये चेतन के धर्म हैं। अतः सौहृद्य का 'सादृश्य' और गर्व का 'उत्कर्ष' लक्ष्यार्थ है, क्योंकि मित्र प्रायः बराबरवाले ही होते हैं और गर्व करनेवाले उत्कृष्ट ही होते हैं। 'जलाय रहे' कहने में वसंत द्वारा जलाना नहीं हो सकता है, इसका लक्ष्यार्थ है 'जलाने के समान दुःख देनेवाला'। इनमें लक्षण-लक्षणा होने से अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। इन तीनो लक्षणाओं में चंद्रमा के प्रकाश की, वायु को सुगंध की उत्कृष्टता की, और *वियोग-दुःख की अधिकता सूचित करना प्रयोजन—व्यंग्य*—है। यहाँ एक ध्वनि किसी दूसरी ध्वनि का अंग नहीं, तीनो पृथक्-पृथक् स्वतंत्रता से प्रतीत होती हैं। अतः ध्वनियों का 'संकर' नहीं, किंतु ध्वनियों की संसृष्टी है।

ध्वनि के भेदों की संख्या

ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के परस्पर एक का दूसरे के साथ मिश्रण होने पर (५१ से ५१ का गुणन करने पर) २६०१ मिश्रित भेद होते हैं। इन २६०१ भेदों के तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टी द्वारा (२६०१ को चार के गुणन

पंचम स्तवक

गुणीभूतव्यंग्य

जो व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से गौण होता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।

'गौण' का अर्थ है अप्रधान, और 'गुणीभूत' का अर्थ है गौण हो जाना। वाच्यार्थ से गौण होने का तात्पर्य है 'वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होना'—'वाच्यार्थ के समान चमत्कारक होना' या 'वाच्यार्थ से न्यून चमत्कारक होना।'

जो व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से प्रधान होता है, उसे ध्वनि कहते हैं, और जो व्यंग्यार्थ अप्रधान रहता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं—इनमें यही भेद है।

(१) अगूढ़, (२) अपरांग, (३) वाच्यसिद्ध्यंग, (४) अस्फुट, (५) संदिग्ध, (६) तुल्यप्रधान, (७) काक्वाक्षिप्त और (८) असुंदर होने से व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है। अतएव गुणीभूत व्यंग्य के प्रधानतः ये ही आठ भेद होते हैं।

सो अब नाँचि रिझावत हौं अरु मेखला की रसरीन बनाइकै ;
जीवत हौं न, अहो धिक है जरि जाय ये क्यों न हियो धधकाइकै ।

विराट राजा के यहाँ गुप्त रूप में पाँडवों के रहने के समय, कीचक की नीचता को सुनाती हुई द्रौपदी से अर्जुन के ये वाक्य हैं। अर्जुन जीता हुआ ही यह कह रहा है, अतः अर्जुन के 'जीवत हौं न' वाक्य के मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ 'मेरा प्रशंसनीय जीवन नहीं है' यह लक्ष्यार्थ है। व्यंग्य यह है कि 'इस जीवन से मरना ही अच्छा है।' यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ, के समान, स्पष्ट है। 'जीवत हौं न' का वाच्यार्थ 'मेरा श्लाघनीय जीवन नहीं' इस अर्थांतर में संक्रमण करता है, अतः जिस प्रकार लक्षणा-मूला अविवक्षित वाच्य में अर्थांतर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है, उसी प्रकार यहाँ अविवक्षित वाच्य अर्थांतर संक्रमित अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य है। इसमें अगूढ़ व्यंग्य उपादान लक्षणा होती है।

और भी—

"औरहू कुंद-कली अली देत गुहे बिन पात सु आनन लागी,
औरहू कोमल विद्रुम-पल्लव ओंठनि सों ठनि मानन लागी।
'बेनीप्रवीन' सुनाल बिना इग औरहू कौल बखानन लागी ;
आवत ही सिखई गुरु-जोबन ये उपमा बर आवन लागी।"

यहाँ 'सिखई गुरु-जोबन' का मुख्यार्थ 'यौवन द्वारा शिक्षा देना' है। शिक्षा देने का कार्य चेतन का है, अतः अचेतन यौवन द्वारा शिक्षा का कार्य असंभव होने से इस मुख्यार्थ

यहाँ भी प्रभात का होना व्यंग्यार्थ है, किंतु 'कंज-पराग-भरचो' 'सीरे समीर' के कथन से प्रभात का होना स्पष्ट प्रतीत नहीं होना—उसकी प्रतीति विचार करने से ही होती है। अतः गूढ़ व्यंग्य होने से यहाँ ध्वनि है। अगूढ़ से गूढ़ व्यंग्य में यही विशेषता है।

अर्थ-शक्ति-मूलक अगूढ़ व्यंग्य

हुआ था फणि-पाश[1]-बंधन यहाँ, द्रोणाद्रि लाया यहाँ;
तेरे देवर[2] के लिये कपि प्रिये! आ मारुती[3] ही यहाँ।
सौमित्री-शर से सुरेंद्र-जित भी स्वर्गस्थ हुआ यहीं;
कीया था दशकंठ का वध यहाँ देखो किसी ने कहीं।

(राजशेखर की बालरामायण से अनुवादित)

विमान पर बैठकर अयोध्या को लौटते समय विजयी श्री-रघुनाथजी की जनकनंदिनी के प्रति यह उक्ति है। चौथे पाद का वाच्यार्थ है—'रावण का वध किसी ने यहीं कहीं किया था'। इसका व्यंग्यार्थ यह है कि—'हमने किया था'। यह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के समान स्पष्ट है, इसलिये अगूढ़ है। जिस प्रकार अभिधा-मूला अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि में वस्तु से वस्तु-रूप गूढ़ व्यंग्य होता है, उसी प्रकार यहाँ वस्तु से वस्तु-रूप अगूढ़ व्यंग्य है। 'किसी ने' के स्थान पर 'उसका भी' कर देने

---

१ नाग-पाश। २ लक्ष्मणजी के लिये। ३ हनूमानजी।

(२) अपरांग व्यंग्य

जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का अंग हो जाता है, उसे अपरांग व्यंग्य कहते हैं।

अर्थात् रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य, या संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ; जहाँ रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के या संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अथवा वाच्यार्थ के अंग हो जाते हैं, वहाँ उन्हें अपरांग व्यंग्य कहते हैं।

जैसे शरीर के अंग हाथ-पैर आदि होते हैं, और कपड़े का अंग सूत, इस प्रकार के अंगों से यहाँ प्रयोजन नहीं है। यहाँ 'अंग' का अर्थ है 'अपने संयोग से अपने अंगी को (वाच्यार्थ आदि को) उद्दीपन करना, जैसे अग्नि को घृत आदि उद्दीपन करते हैं।

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के प्रकरण में रस, भाव आदि को ध्वनि के भेद बता आए हैं। यहाँ इनको गुणीभूत व्यंग्य बताने का कारण यह है कि वहाँ ये प्रधान व्यंग्य होकर ध्वनित होते हैं; अर्थात अलंकार्य रूप (दूसरे से शोभायमान होनेवाले) होते हैं। इसलिये वहाँ इनकी ध्वनि संज्ञा है। यहाँ ये गौण (अप्रधान) होते हैं—अपरांग (दूसरे के अंग) होते हैं, अर्थात् अलंकार (दूसरे को शोभित करनेवाले) होते हैं ; इसलिये गुणीभूत व्यंग्य कहे जाते हैं।

...र्थ था, शरणागतों को अभय देनेवाला और काम के रहस्यों ...समेत था। यहाँ स्मरण किया गया शृंगार-रस, करुण-रस ...पुष्ट कर रहा है; अतः करुण का अंग हो जाने से अपरांग ...गार है। शृंगार करुण का अंग हो गया है, अतः असंलक्ष्य ...म का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अंग है।

...भाव, रसाभास और भावाभास आदि किसी का जब ...न अंग हो जाता है, तब यह (रस का संबंधी हो जाने के ...ारण) 'रसवत्' अलंकार कहा जाता है।

भाव में रस की अपरांगता

> तृष्णा मेरे न धन-जन या काम भोगादिकों की,
> होते हैं ये सुखद न सदा कर्म-आधीन जो कि।
> है तेरे से सविनय यही प्रार्थना मातु! मेरी,
> गंगे! पादांबुज-युगल की दीजिए भक्ति तेरी।

पहले दोनो चरणों में वैराग्य का वर्णन होने से शांत रस की व्यंजना है। उत्तरार्द्ध में श्रीगंगाजी के विषय में जो देव-विषयक रति—भक्ति-भाव—की व्यंजना है, उसको शांत रस की व्यंजना पुष्ट कर रही है। इसलिये यहाँ शांत रस देव-विषयक रति-भाव का अंग हो गया है। यह भाव में रस की अपरांगता है।

भाव में भाव की अपरांगता

जब एक भाव किसी दूसरे भाव का अंग हो जाता है तब उसे, ...कार्यत्व भिन्न हो जाने के कारण, 'प्रेयस्' अलंकार कहते हैं।

यहाँ उभय-निष्ठ रति नहीं। राजा की रिपु-रमणियों का प्रेम भीलों में नहीं है, भीलों का (पुलिंदों का) ही प्रेम उन रमणियों में है। भीलों का प्रेम राज-रमणियों में होना अनुचित है, अतः रसाभास है। यह रसाभास कवि की राज-विषयक रति-भाव का अंग है, क्योंकि इस वर्णन से राजा की प्रशंसा का उत्कर्ष होता है, इसलिये भाव का रसाभाव अंग है।

भावाभास की अपरांगता

इसे भी ऊर्जस्वी अलंकार कहते हैं।

सफल जनम निज हम लिख्यो रम तुव दरसन पाय।
यों अरि नृप हू कहत तुहि बस कैदयो श्रुति माय।

विजयी राजा को शत्रुओं द्वारा प्रशंसा को जाने में जो राज-विषयक रति-भाव है यह भावाभास है, क्योंकि विजित शत्रु द्वारा की गई विजयी राजा की चाटुकारी में प्रशंसा का आभास-मात्र है। यह भावाभास कवि द्वारा की हुई राजा की प्रशंसा का उत्कर्षक है, अतः यहाँ भावाभास राज-विषयक रति-भाव का अंग है।

इसी प्रकार—

"मीच मरे सिगरे मग सोह सराहत तेरेई सीस सुभाइन।
भागे सिरात सुने सबको चहुँ ओर ते चोप चढ़ी चितचाइन।
बरी बधाइ कयो मेरी भट ! सुनि तेरी हौं चेरी भरी इन चाइन।
सौतिहु की अँखियाँ सुख पावति जो मुख देखि सखी मुसकाइन।"

छाँड़ि पर्यंक तें मयंक-मुखी अंक तें सु,
भाजत ससंक तें अतंक भय भीने हैं।"

यहाँ रति-भाव की शांति है, यह राजा के महत्त्व की उत्कर्षक है, अतः राज-विषयक रति-भाव का अंग है।

भावोदय की अपरांगता

इसे 'भावोदय' अलंकार कहते हैं।

"बाजि गजराज सिवराज सेन साजत ही,
दिल्ली दलगीर दसा दीरघ दुखन की।
तनिया न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न,
धामैं घुमरात छोड़ि सेजियाँ सुखन की।
'भूषन' भनत पति-बाँह बहियाँ न तेऊ,
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन१ की,
बालियाँ बिथुरि जिमि आलियाँ नलिन२ पर,
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की।"

यहाँ शिवाजी की सेना के सजने पर यवन-रमणियों में त्रास-भाव का उदय ध्वनित होता है। यह भावोदय कविराज भूषण की की हुई शिवाजी की स्तुति का पोषक है, अतः राज-विषयक रति-भाव का अंग है।

---

१ रूखों (वृक्षों) की छाया। २ अलि (भौंरे) जैसे कमलों पर मँडराते हैं, उसी प्रकार कानों की बालियाँ मुख पर गिर रही हैं।

पट देहु लला ! करि जोरि कहैं बरजोरी भला न इती पकरो ;
हम जाय पुकारहिंगी नृपसों बढ़ि जाइगो भाइक ही झगरो ।
लखि लोग कहा कहिहैं ? समुझो ! ब्रज-गौरिनसों न अनीति करो ;
हँसि चीर बुलायके चीर दिए यदुवीर वही भव-भीर हरो ।

यहाँ 'करजोरि कहैं' में दीनता, 'बरजोरी' में असूया, 'जाय पुकारहिंगी' में गर्व, 'बढ़ि जाइगो झगरो' में स्मृति, 'लखि लोग' में व्रीड़ा, 'कहा कहिहैं' में वितर्क, और 'अनीति न करो' में विबोध भाव है। इन सब भावों का एक साथ प्रतीत होना भाव-शबलता है। यहाँ यह भाव-शबलता श्रीकृष्ण-विषयक रति-भाव का अंग है। अतः यहाँ भाव की शबलता अपरांग है।

कुछ ग्रंथों में इन रसवत् आदि अलंकारों को अलंकार-प्रकरण में लिखा है; पर वास्तव में ये गुणीभूतव्यंग्य ही हैं। इनमें केवल नाम-मात्र को ही अलंकारता है, अतएव इसी प्रकरण में लिखना उचित है।

'उरुजघनन सपरसकरन' (पृष्ठ ३३६) उदाहरण में यह शंका हो सकती है कि जब वहाँ प्रकरणगत करुण-रस की प्रधानता संभव है[1], तब उसे ध्वनि न मानकर गुणीभूत व्यंग्य क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा तो कोई भी विषय नहीं, जहाँ ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य में एक के साथ दूसरे का संकर या संसृष्टी रूप से मिलाव न हो।

---

१ क्योंकि अपने मृतक पति के शोक में उसकी पत्नि का क्रंदन है।

अर्थात् ध्वनि में गुणीभूत व्यंग्य का और गुणीभूत व्यंग्य में ध्वनि का मिश्रण प्रायः रहता ही है। किंतु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अर्थात् जहाँ जिसकी प्रधानता होती है—जिसमें अधिक चमत्कार होता है—उसी के नाम का व्यवहार हुआ करता है। अतएव उक्त उदाहरण में शृंगार-रस की गौणता ही प्रधान है, क्योंकि उसी में अधिक चमत्कार है। इसलिये करुण-रस न मानकर शृंगार-रस की गौणता के कारण गुणीभूत व्यंग्य माना गया है।

शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्य क्रम का वाच्यार्थ के अंगभूत होना

कीन्हों[1] मैं भ्रमन जनथानन त्यों कानन में,
कनक-मृग-तृष्णा सों मति को भ्रमाई है;
खोयो बार-बार सुख वैदेही पुकार धार—
सेती बार आँखन सों अम्बु की ढराई है।
काम लगे खाने ता कलंक भरता के साथ,
धीरज न छाँड़ि सारी घटना घटाई है;
पाई है अवश्य अविराम तासों राम वाकों,
जानकी हू चाई पै न हाथ कहाँ पाई है।

निराशा को प्राप्त होकर किसी राज-सेवक की यह उक्ति है।

---

1 जिस 'जनस्थाने भ्रांत' पद्य का यह अनुवाद है, वह भट्ट वाचस्पति के नाम से कविकंठाभरण में है।

मैंने रामता—श्रीरामचंद्र के समान कर्म करके उनकी समानता—तो अवश्य प्राप्त कर ली, किंतु उन्होंने जिन कामों को करके जानकीजी को प्राप्त किया था, यद्यपि मैंने भी उन कामों को किया, पर मुझे वे (सीताजी) कहीं न पाईं'। यहाँ 'जानकी' और 'पाईं' पदों के शब्द-शक्ति द्वारा दो अर्थ होते हैं। दूसरा अर्थ यह है कि 'मेरे जान की आई अर्थात् भटकते-भटकते प्राणों तक की नौबत आ गई, पर कहीं एक पाई भी हाथ न आई।' ऊपर के तीनों पदों में वही श्रीरामचंद्र के कार्यों की श्लिष्ट पदों द्वारा समानता दिखाई गई है। अर्थात् श्रीरामचंद्रजी ने कनक-मृग की तृष्णा से जनस्थान नाम के कानन में (वन में) भ्रमण किया था, मैं भी जन अर्थात् लोगों के स्थानों में और जंगलों में सुवर्ण की अर्थात् धन की मृग-तृष्णा से भटकता फिरा। उन्होंने वैदेही का (सीताजी का) नाम कह-कहकर आँखों से अश्रुपात छुटाए थे, मैंने भी वै-देही अर्थात् 'जरूर दो' 'कुछ तो जरूर दो' इस प्रकार कह-कहकर दुःख के आँसू बार-बार बहाए। उन्होंने लंका के भर्ता (स्वामी) रावण के ऊपर कान तक तानकर बाण चलाए थे, और धैर्य से बहुत-सी युद्ध की रचना रची थी, मैंने भी भर्ता के (स्वामी के) ताने अर्थात् वचनों के बाण सुने, जो मेरे लिये कलंक रूप थे। और ये घटनाएँ धैर्य से सहता रहा, किंतु जिसके लिये उन्होंने ये कार्य किए थे, वह जानकी उनको तो मिल गई, पर हाय! मैं यों ही रहा! पाई भी कहीं हाथ न आई।

यहाँ 'जनथानन' इत्यादि शब्दों के दो अर्थ होने के कारण श्रीरामचंद्र का सादृश्य (अर्थात् उपमा) शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन ध्वनि द्वारा वक्ता में प्रतीत होता है, इसलिये यह प्रधान व्यंग्य हो सकता था, किंतु शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि से प्रतीत होनेवाला यह सादृश्य चौथे पाद के 'रामता पाई' पद द्वारा प्रकट कर दिया गया। अतः यह वाच्य हो गया—छिपा हुआ व्यंग्य नहीं रहा। अर्थात् ऊपरवाले तीनो पादों में जो-जो व्यंग्यार्थ है—दूसरे अर्थ प्रतीत होते हैं—वे वाच्यार्थ के पोषक हो गए, अतः वाच्यार्थ का अंग हो जाने से वह व्यंग्यार्थ प्रधानता से गिरकर गुणीभूत व्यंग्य हो गया है। यह शब्द-शक्ति-मूलक इसलिये है कि 'जनथान', 'कनक-मृग-तृष्णा' और 'वैदेही' आदि पदों के स्थान पर इसी अर्थ के बोधक दूसरे शब्द बदल देने पर व्यंग्यार्थ सूचित नहीं हो सकता। 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य अनुरणन' इसलिये है कि श्रीरामचंद्र-विषयक जो वाक्यार्थ है, उसके पश्चात् व्यंग्यार्थ सूचित होता है। और, यहाँ शब्द-शक्ति-मूलक अनुरणन रूप जो श्रीरामचंद्र का उपमान भाव और वक्ता का उपमेय भाव अर्थात् व्यंग्य उपमा है, वह व्यंग्य 'रामता पाई' इस वाक्य का अंग होने से अपरांग गुणीभूत व्यंग्य है, न कि वाच्यसिद्ध्यंग। क्योंकि 'रामता पाई' इस वाक्यार्थ की सिद्धि जनस्थान-भ्रमण' आदि विशेषण रूप वाक्यार्थ से ही हो जाती है, इसलिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा नहीं। 'वाच्य सिद्ध्यंग'

में जो व्यंग्यार्थ के विना वाच्यार्थ की सिद्धि नहीं होती है, जैसा कि वाच्यसिद्धयंग के उदाहरणों में आगे स्पष्ट किया जायगा।

अर्थ-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम का वाच्य के अंग-भूत होना

विरह-विकल नलिनी निकट आय अनत रहि रात।
पाद-पतन सों जतन करि अब रवि इहिं विकसात।

अनुनय के बिना ही मान छोड़ देनेवाली नायिका से सखी की यह उक्ति है। हे सखि! देख, सारी रात अन्यत्र रहकर, प्रभात में विरह-व्याकुला कमलिनी के निकट आकर, सूर्य अब पाद-पतन से (पैरों में गिरकर या श्लेषार्थ से अपनी किरणों द्वारा) इसे विकसित कर रहे हैं (प्रफुल्लित कर रहे हैं या मना रहे हैं)।

यहाँ सूर्य और कमलिनी का वृत्तांत वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ से नायक और नायिका का जो वृत्तांत प्रतीत होता है, वह अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यार्थ है। कवि ने यह वर्णन सूर्य-कमलिनी का किया है, पर इसके द्वारा नायक और नायिका के शृंगार-रस का भी आस्वादन होता है; अतएव यहाँ इस व्यंग्यार्थ से उक्त वाच्यार्थ का उत्कर्ष होता है। शब्द बदल देने पर भी इस व्यंग्यार्थ की (नायक-नायिका-वृत्तांत की) प्रतीति हो सकती है, इसलिये अर्थ-शक्ति-मूलक है। यह सूर्य-कमलिनी का वृत्तांत जो वाच्यार्थ है, वह

प्राकरणिक है । इस वाच्यार्थ द्वारा प्रसिद्धि-वश जो अन्यासक्त नायक और नायिका का वृत्तांत समान व्यवहार से प्रतीत होता है, वह व्यंग्यार्थ अप्राकरणिक है, और उस (व्यंग्यार्थ) की प्रधानता नहीं—केवल वाच्यार्थ में आरोपित होकर यह वाच्यार्थ के चमत्कार को बढ़ा देता है। इसलिये व्यंग्यार्थ यहाँ वाच्यार्थ का अंग है, अर्थात् अपरांग-गुणीभूत व्यंग्य है। यहाँ भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के प्रथम ही वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, अतः वाच्यसिद्ध्यंग नहीं। 'समासोक्ति' अलंकार में यही अपरांग-गुणीभूत व्यंग्य होता है। क्योंकि समासोक्ति में वाच्य अर्थ की प्रधानता रहती है। और अपरांग व्यंग्य में अप्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का विषय इसे न समझना चाहिए।

(३) वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करनेवाला होता है, उसे वाच्यसिद्ध्यंग कहते हैं।

जलद-भुजग-विष विषम अति बिरहिन दुखद अपार ;
जाति अवस चित-भ्रम ह्वै करत मरन तन धार ।

अर्थात् मेघ-रूप भुजंग (सर्प) का विष अर्थात् जल (विष का अर्थ जल भी है) अत्यंत विषम है। वह वियोगियों को विषयों से विरक्त करनेवाला एवं उनके मानस, चित-भ्रम

और मरण का कारण है—शरीर को जला देता है। यहाँ मेघ को सर्प कहा है, पर यह तब तक सिद्ध नहीं होता जब तक विष अर्थात् जल में विष (ज़हर) की व्यंजना नहीं होती है। 'जलद'-शब्द के समीप होने के कारण विष का अर्थ जल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है, और व्यंजना द्वारा विष का व्यंग्यार्थ ज़हर प्रतीत होने पर वाच्यार्थ की सिद्धि होती है, अर्थात् व्यंग्यार्थ ही वाच्यार्थ को सिद्ध करता है। और भी—

"करत प्रकास सु दिसिन कों रही ज्योति अति लागि ;
है प्रताप तेरो नृपति ! बैरी - बंस - दवागि ।"

(समाप्रकाश)

यह राजा के प्रति कवि की उक्ति है। 'हे राजन्, सारी दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला तेरा प्रदीप्त यश शत्रुओं के वंश के लिये दावानल है'। यहाँ प्रताप को दावानल कहा गया है। जंगल में लगनेवाली अग्नि को दावानल कहते हैं। अतएव जब तक जंगल की तरह जलनेवाली कोई वस्तु न कही जाय, तब तक प्रताप को दावानल कहना सिद्ध नहीं होता। 'बंस' पद बाँस और कुल दोनो का वाचक है। उसका अर्थ 'बैरी'-शब्द की समीपता के कारण कुल हो जाने पर अभिधा रुक जाती है। व्यंग्य से शत्रु-कुल में बाँस के जंगल की प्रतीति होती है, और इसके द्वारा प्रताप को दावानल कहना सिद्ध हो जाता है; अतः यह वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य है। 'अपरांग-व्यंग्य' में व्यंग्य द्वारा वाच्यार्थ को सिद्ध करने की

आगे द्वै आइकै आदरकै कर पै कर राखि लै आप मुरारी,
भैंचकी हेरि हँसी बिजली तिय भीतर भौन भयो रंग भारी।"

(कुलपति मिश्र का रस-रहस्य)

यहाँ 'भैंचक' और 'बिलखने' में क्या व्यंग्य है, सो प्रतीत नहीं होता। बहुत कठिनता से हर्ष के कारण किलकिंचित् भाव सूचित होता है, अतः अस्फुट है।

(५) संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य

वाच्यार्थ में चमत्कार अधिक है या व्यंग्यार्थ में? जहाँ ऐसा निर्णय नहीं हो सकता है, उसे संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

ऊगत ही ससि उदधि ज्यों कछुइक धीरज छोर।
त्रिनयन तब निरखन लगे उमा-बदन की ओर।

(कुमारसंभव से अनुवादित)

कामदेव द्वारा वसंत-ऋतु का आविर्भाव किया जाने पर पार्वतीजी के सम्मुख श्रीशिवजी की जो अवस्था हुई, उसका यह वर्णन है। 'श्रीशिवजी का पार्वती की तरफ देखना' वाच्यार्थ है और व्यंग्यार्थ है 'अन्य अभिलाषाएँ।' इन दोनों ही अर्थों में समान चमत्कार है। अतः व्यंग्यार्थ की प्रधानता है या वाच्यार्थ की? यह संदेह-जनक है; इसलिये संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य है।

आवश्यकता नहीं रहती—वहाँ व्यंग्य, वाच्यार्थ का केवल उत्कर्षक होता है। यहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि करने के लिये व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रहती है; यही इन दोनो में भेद है।

(४) अस्फुट व्यंग्य

जहाँ व्यंग्य अर्थ स्फुट रूप से—अच्छी तरह से—प्रतीत नहीं होता है, उसे अस्फुट व्यंग्य कहते हैं।

> अन देखे देखन चहैं देखें बिछुरन मीत,
> देखे बिन, देखेहु पै तुमसों सुख नहिं मीत।

मित्र के प्रति किसी की उक्ति है—'जब आप नहीं दीखते हैं—दूर रहते हैं—तब तो आपको देखने की उत्कट इच्छा बनी रहती है, इसलिये सुख नहीं मिलता। जब आप दृष्टि-गत रहते हैं—समीप रहते हैं—तब पुनः वियोग होने का भय रहता है। अतएव न तो आपको बिना देखे ही सुख है, और न देखने पर ही'। यहाँ 'आप सदैव समीप ही रहिए' यह व्यंग्य है, किंतु इसकी प्रतीति बड़ी कठिनता से होती है। अतः अस्फुट है। और भी—

> "साजि सिंगार दुकूल बिलास अवास तें बीथिन-बीच पधारी;
> देह की दीपति देखी परी जिहिं देखत दामिनि कोपित बारी।

आगे ह्वै आइकै आदरकै कर पै कर राखि लै आप मुरारी।
भैंचकी ह्वैरि हँसी बिलखी तिय भीतर भौन भयो रंग भारी।"

(कुलपति मिश्र का रस-रहस्य)

यहाँ 'भैंचक' और 'बिलखने' में क्या व्यंग्य है, सो प्रतीत नहीं होता। बहुत कठिनता से हर्ष के कारण किलकिंचित् भाव सूचित होता है, अतः अस्फुट है।

(५) संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य

वाच्यार्थ में चमत्कार अधिक है या व्यंग्यार्थ में? जहाँ ऐसा निर्णय नहीं हो सकता है, उसे संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

उगत ही ससि उदधि ज्यों कछुइक धीरज छोर।
त्रिनयन तब निरखन लगे उमा-वदन की ओर।

(कुमारसंभव से अनुवादित)

कामदेव द्वारा वसंत-ऋतु का आविर्भाव किया जाने पर पार्वतीजी के सम्मुख श्रीशिवजी की जो अवस्था हुई, उसका यह वर्णन है। 'श्रीशिवजी का पार्वती की तरफ देखना' वाच्यार्थ है और व्यंग्यार्थ है 'अन्य अभिलाषाएँ।' इन दोनों ही अर्थों में समान चमत्कार है। अतः व्यंग्यार्थ की प्रधानता है या वाच्यार्थ की? यह संदेह-जनक है; इसलिये संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य है।

(६) तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान होता है, उसे तुल्यप्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

विप्रन को अपराध नहिं करिबो ही कल्यान।
जामदग्न्य यह मित्र पै दुर्मन ह्वैहि है जानु।

राक्षसों के उपद्रवों से क्रोधित परशुरामजी का रावण के पास भेजा हुआ यह संदेश है। 'ब्राह्मणों का अपराध (तिरस्कार) नहीं करने में ही तुम लोगों का कल्याण है। मैं जामदग्न्य—परशुराम—तुम्हारा मित्र हूँ, किंतु यदि तुम ब्राह्मणों पर आक्रमण करोगे तो हम दुर्मन हो जायँगे' यह वाच्यार्थ है। व्यंग्य यह है कि 'मैं यदि तुम लोगों पर बिगड़ जाऊँगा, तो सारे राक्षस-कुल का सर्वनाश समझना।' यहाँ व्यंग्य और वाच्यार्थ दोनो प्रधान हैं—दोनो में समान चमत्कार है। अतः तुल्यप्राधान्य व्यंग्य है।

(७) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य

'काकु' द्वारा आक्षिप्त अर्थात् खिंचकर आया हुआ व्यंग्य काक्वाक्षिप्त कहा जाता है।

'काकु' एक प्रकार की कंठ की ध्वनि होती है, जिसके द्वारा कहे हुए शब्दों का अर्थ वक्ता के कहने के साथ ही वाच्यार्थ के

विपरीत अर्थ में बदल जाता है। यह व्यंग्य गौण इसलिये है कि तत्काल सहज ही में जान लिया जाता है।

उदाहरण—

"जो हरि कौं तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई ;
ज्यौं अपने भरतारहि छाँड़ि भई बिभिचारिनि कामिनि कोई।
'सुंदर' ताहि न आदर आन फिरै बिमुखी अपनी पति खोई ;
बूड़ मरै किन कूप मझार कहा जग जीवत है सठ सोई ?"

'कहा जग जीवत है सठ सोई ?' यह काकु-उक्ति है। इसके कहने के साथ ही वह जीता नहीं है (जीता हुआ ही मरा है) यह व्यंग्यार्थ, जो वाच्यार्थ से विपरीत है, प्रतीत होने लगता है।

दूसरा प्रकार—

अंध-सुत कौरव सारे सत बंधुन कौं,
ह्वै के युद्ध-मत्त कहा युद्ध मैं पछारौं ना ?
करिकै कबंध ताहि रुधिरौ हू पीवे काज,
दुःसासन उर हू सौं रक्त कौं निकारौं ना।
मारौं ना सुयोधन हू बिदारौं ना ऊरु कहा ?
मेरी का प्रतिज्ञा हू की अवज्ञा बिचारौं ना ?
करौ क्यों न संधि पाँच ग्रामन प्रबंध रूप,
भूप जो तिहारो है न भारो हौ बिचारौं ना ?

(वेणीसंहार-नाटक से अनुवादित)

कौरवों से पाँच गाँव लेकर संधि करने की बात सुनकर

(६) तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान होता है, उसे तुल्यप्राधान्य व्यंग्य कहते हैं।

विप्रन को अपराध नहिं करिबो ही कल्यानु।
जामदग्न्य यह मित्र पै दुर्मन ह्वैहि है भानु।

राक्षसों के उपद्रवों से क्रोधित परशुरामजी का रावण के पास भेजा हुआ यह संदेश है। 'ब्राह्मणों का अपराध (तिरस्कार नहीं करने में ही तुम लोगों का कल्याण है। मैं जामदग्न्य-परशुराम—तुम्हारा मित्र हूँ, किंतु यदि तुम ब्राह्मणों पर आक्रमण करोगे तो हम दुर्मन हो जायँगे' यह वाच्यार्थ है व्यंग्य यह है कि 'मैं यदि तुम लोगों पर बिगड़ जाऊँगा, तो सा राक्षस-कुल का सर्वनाश समझना।' यहाँ व्यंग्य और वाच्यार्थ दोनो प्रधान हैं—दोनो में समान चमत्कार है। अतः तुल्यप्राधान्य व्यंग्य है।

(७) काकाक्षिप्त व्यंग्य

'काकु' द्वारा आक्षिप्त अर्थात् खिंचकर आया हुआ व्यंग्य काक्वाक्षिप्त कहा जाता है।

'काकु' एक प्रकार की कंठ की ध्वनि होती है, जिसके द्वारा कहे हुए शब्दों का अर्थ वक्ता के कहने के साथ ही वाच्यार्थ के

विपरीत अर्थ में बदल जाता है। यह व्यंग्य गौण इसलिये है कि तत्काल सहज ही में जान लिया जाता है।

उदाहरण—

"जो हरि कौं तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई ;
ज्यों अपने भरतारहि छाँड़ि भई बिभिचारिनि कामिनि कोई।
'सुंदर' ताहि न आदर मान फिरै बिमुखी अपनौ पति खोई ;
बूड़ मरै किन कूप मझार कहा जग जीवत है सठ सोई !"

'कहा जग जीवत है सठ सोई ?' यह काकु-उक्ति है। इसके कहने के साथ ही वह जीता नहीं है (जीता हुआ ही मरा है) यह व्यंग्यार्थ, जो वाच्यार्थ से विपरीत है, प्रतीत होने लगता है।

इसी प्रकार—

अंध-सुत कौरव सारे सत बंधुन कौं,
द्वै कै क्रुद्ध-मत्त कहा युद्ध में पछारौं ना ?
फारिकै कबंध ताहि उरसौं जु पीवे काम,
दुःशासन उर हू सों रक्त कों निकारौं ना।
मारौं ना सुयोधन हू बिदारौं ना उरू कहा ?
मेरी का प्रतिज्ञा हू को अपना बिचारौं ना ?
करौ क्यों न संधि पाँच ग्रामन प्रबंध रूप,
भूप को तिहारो है न चारो हौं बिचारौं ना ?

(वेणीसंहार-नाटक से अनुवादित)

कौरवों से पाँच गाँव लेकर संधि करने की बात सुनकर

सहदेव के प्रति कुपित भीमसेन की यह उक्ति है। वाच्यार्थ में तो कौरवों को न मारने के लिये और संधि करने के लिये कहा है। किंतु जिस भीमसेन ने दुर्योधनादि एक सौ कौरव भ्राताओं को मारने की, दुश्शासन के रुधिर पीने की और दुर्योधन की ऊरु भंग करने की प्रतिज्ञा की है, उसके मुख से, क्रोध के आवेश में कंठ की एक विशेष ध्वनि द्वारा, कहे हुए 'क्या मैं कौरव-बंधुओं को न मारूँ' इत्यादि काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ तत्काल यह व्यंग्यार्थ आक्षिप्त हो जाता है कि 'मैं कौरव-बंधुओं को अवश्य मारूँगा' इत्यादि। अतः यह काकाक्षिप्त व्यंग्य है।

पूर्वोक्त काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य में भी 'काकु'-उक्ति के कारण ही व्यंग्य होता है। वहाँ उसे ध्वनि और यहाँ इसे गुणीभूत क्यों माना गया? इस विषय में पहले काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य में लिखा जा चुका है[1]। काकु-उक्ति के वाच्यार्थ रूप प्रश्न के साथ निषेधात्मक व्यंग्य तत्काल जान लिया जाता है, और वाक्य पूरा हो जाता है; उसके पश्चात् जहाँ कोई दूसरा व्यंग्यार्थ नहीं हो सकता वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। जहाँ काकु-उक्ति के प्रश्न का व्यंग्यार्थ रूप निषेध सूचित हो जाने के पश्चात् भी अन्य व्यंग्यार्थ की ध्वनि निकलती है और जो तत्काल प्रतीत नहीं हो सकती—विलंब से काव्य-मर्मज्ञों को ही प्रतीत होती है—वहाँ काकु-वैशिष्ट्य व्यंग्य होता है।

---

१ देखो पृष्ठ ९६।

(८) असुंदर व्यंग्य

व्यंग्यार्थ की अपेक्षा जहाँ वाच्यार्थ चमत्कारक होता है, उसे असुंदर व्यंग्य कहते हैं।

उड़े विहग बन-कुंज में वह धुनि सुनि ततकाल,
सिथिलित तन विकलित भई गृह-कारज-रत बाल।

'समीप के वन की कुंज में पक्षियों के उड़ने के शब्द सुनकर घर के काम में लगी हुई नायिका व्याकुल हो गई'। इस वाच्यार्थ में 'संकेत किया हुआ प्रेमी कुंज में पहुँच गया और नायिका न जा सकी' यह व्यंग्यार्थ है। वाच्यार्थ में पक्षियों के शब्द श्रवण-मात्र से सारे अंगों में शिथिलता और विकलता हो जाने में जैसा चमत्कार है वैसा व्यंग्यार्थ में नहीं, इसलिये असुंदर व्यंग्य है।

गुणीभूत व्यंग्य के भेदों की संख्या

गुणीभूत व्यंग्य के इन प्रधान आठ भेदों के, ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों के ९ भेदों को, जिनमें केवल वस्तु से अलंकार व्यंग्य होता है, छोड़कर, शेष ४२ भेद ध्वनि के समान ही होते हैं। अर्थात्—

१ स्वतःसंभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य—वस्तुगत, वाक्यगत और प्रबंधगत।

२ कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्धवस्तु से अलंकार व्यंग्य—पद, वाक्य और प्रबंधगत।

३ कवि-निबद्ध पात्र की प्रौढोक्ति सिद्धवस्तु से अलंकार व्यंग्य—पद, वाक्य और प्रबंधगत।

ये नौ भेद गुणीभूत व्यंग्य के नहीं हो सकते। प्रथम तो, वस्तु रूप वाच्यार्थ से वाच्यार्थ का अलंकार स्वतः ही अधिक चमत्कारक होता है, क्योंकि अलंकार की योजना ही इसलिये की जाती है। दूसरे, व्यंग्य होने पर अलंकार का चमत्कार और भी बढ़ जाता है। अतएव व्यंग्य-अलंकार गुणीभूत नहीं हो सकता। महान् साहित्याचार्य ध्वनिकार ने कहा है—

'व्यंज्यंते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्।'

(ध्वन्यालोक २।२९)

गुणीभूत व्यंग्य के जो ४२ शुद्ध भेद ऊपर लिखे हैं, वे अगूढ़ आदि आठों प्रकार के होते हैं। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य के ३३६ शुद्ध भेद होते हैं। ३३६ शुद्ध भेदों के, परस्पर में एक दूसरे से मिश्रित होने पर, (३३६ से ३३६ गुणन करने पर) १,१२,८९६ भेद होते हैं। ये १,१२,८९६ भेद तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टी भेद से (चार के गुणन से) ४,५१,५८४ संकीर्ण (मिश्रित) भेद होते हैं। और इनमें ३३६ शुद्ध भेद जोड़ देने पर ४,५१,९२० गुणीभूत व्यंग्य के भेद होते हैं।

सजातीय सजातीय भेद से अर्थात् ध्वनि से ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य से गुणीभूत व्यंग्य और अलंकार से अलंकार जिस प्रकार मिश्रित होकर भेद उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार विजातीय

विजातीय (जैसे ध्वनि से गुणीभूत व्यंग्य एवं अलंकार के) भेदों से मिलकर असंख्य मिश्रित भेद उत्पन्न करते हैं।

ध्वनि से ध्वनि के सजातीय मिश्रण के उदाहरण, ध्वनि-प्रकरण में, संकर और संसृष्टी के दिखाए गए हैं।

ध्वनि के साथ गुणीभूत व्यंग्य के मिश्रण (संकर) का उदाहरण 'उरु जघनन सपरस करन' (पृष्ठ ३३६) है। उसमें करुण-रस की प्रधानता को लेकर ध्वनि है, और शृंगार-रस की गौणता को लेकर गुणीभूत व्यंग्य है, और इनका अंगांगी भाव संकर है।

ध्वनि के साथ अलंकार के मिश्रण का उदाहरण 'करके तल सों जु कपोलन को...' (पृष्ठ २६२) है। उसमें श्लेष, रूपक और व्यतिरेक ये तीनों अलंकार विप्रलंभ-शृंगार के अंग होने के कारण असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और अलंकारों का अंगांगी भाव संकर है।

गुणीभूत व्यंग्य के साथ अलंकार के मिश्रण का उदाहरण—

"बैठी जहाँ गुरुनारि समाज में गेह के काम में है बस प्यारी,
देख्यो तहाँ बनते बनि आवत नंदकुमार कुमार बिहारी।
छीन्हें सखी कर-कंज में मंजुल मंजरी-मंजुल कंज निहारी,
चंदमुखी मुखचंद की कांति सों भोर के चंद-सी मंद निहारी।"

(कुमारमणि भट्ट का रसरसाल)

'कुंज में मिलने का संकेत करके नायिका वहाँ न जा सकी' यहाँ यह व्यंग्यार्थ है। इस व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक है। अतः गुणीभूत व्यंग्य है। नायिका के मुख की म्लानता को

प्रभात के चंद्रमा की जो उपमा दी गई है, उससे उक्त व्यंग्यार्थ की पुष्टि होती है। इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य का उपमा अलंकार अंग हो जाने से *गुणीभूत व्यंग्य* और *अलंकार* का अंगांगी भाव संकर है।

इसी प्रकार अन्य मिश्रित भेदों के उदाहरण होते हैं। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण नहीं दिए गए हैं।

'दीपक' और '*तुल्ययोगिता*' आदि अलंकारों में वाचक शब्द के अभाव में जो उपमा आदि अलंकार व्यंग्य रहते हैं, वे गुणीभूत व्यंग्य होते हैं। वाच्यार्थ अलंकारों में जो अलंकार '*व्यंग्य*' रूप होते हैं (*जिनकी ध्वनि निकलती है और जिन्हें* ध्वनि-प्रकरण में दिखाया जा चुका है), वे अलंकार प्रधानता से ध्वनित होते हैं, अतः उन्हें ध्वनि का भेद माना गया है। किंतु दीपक, तुल्ययोगिता आदि में जो उपमा आदि व्यंग्य होते हैं, वे *प्रधानता से ध्वनित नहीं होते*। इनमें (दीपक आदि में) जो उपमा आदि व्यंग्यार्थ में रहते हैं, उनके ज्ञान के बिना 'दीपक' आदि अलंकारों की रचना के चमत्कार में ही चमत्कार आ जाता है—व्यंग्य रूप से रहनेवाले उपमादि तक दूर जाने की आवश्यकता नहीं रहती, कवि का तात्पर्य वहाँ व्यंग्यार्थ में नहीं रहता। ध्वनिकार ने कहा है—

> 'अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते,
> तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः।'
>
> (ध्वन्यालोक २ । ३०)

अर्थात् वाच्यार्थ के अलंकार में अन्य अलंकार की प्रतीति होने पर भी जहाँ कवि का तात्पर्य उसमें (अन्य अलंकार की प्रतीत में) नहीं होता वहाँ ध्वनि नहीं होती।

जो व्यंग्य शब्द द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है, वह भी गुणीभूत हो जाता है। शब्द द्वारा स्पष्ट कर देने से व्यंग्यार्थ की रमणीयता कम हो जाती है। जैसे—

गोपराग-हत दृष्टि सों कछुइ न सकी निहारु,
स्खलित भई हौं नाथ! अब पतितन लेहु उबारु।
पतितन लेहु उबारु! देहु अवलंबन केसव!
सरन आप ही एक खिन्न सब अबलन को अब।
यों सलेश कहि बचन सुखद मृदु सरस राग-भृत,
मुदित किए नँदलाल, बाल दग-गोपराग-हत।

श्रीकृष्ण के समीप गई हुई किसी गोपी को दूर खड़े हुए श्रीकृष्ण में अन्य गोप का भ्रम हो गया। जब वह समीप पहुँची, तब उस गोपी की श्रीनंदनंदन के प्रति यह उक्ति है—'हे केशव, गो-पराग अर्थात् गौओं के खुरों से उड़ी हुई धूलि से दृष्टि धुँधली हो जाने से मैं स्पष्ट नहीं देख सकी और मार्ग भूल गई हूँ। मुझ भटकती हुई को आप सहारा दीजिए। आप ही दुर्बलों के शरण्य हैं'। इस प्रकार श्लेष से मधुर वाक्य कहकर ब्रजांगना ने श्रीनंदनंदन को प्रसन्न कर लिया। यह वाच्यार्थ है। इसमें व्यंग्यार्थ यह है कि 'मेरी दृष्टि गोप-राग अर्थात् किसी अन्य गोप के राग से हत (भ्रांत) हो जाने से मैं

कुछ देख न सकी—आपको पहचान न सकी—इसलिये मैं स्खलित हो गई हूँ—मैंने भूल की है—अब आपके चरणों में गिरी हुई हूँ। आप मुझे स्वीकार करें। खिन्न अबलाओं के (काम-तापित रमणियों के) आप ही एकमात्र शरण्य हैं।' इस व्यंग्यार्थ को कवि ने 'सलेश' पद द्वारा प्रकट कर दिया है। अतः व्यंग्य की रमणीयता कम हो जाने से यह गुणीभूत व्यंग्य हो गया है। यदि यहाँ 'सलेश' पद न होता, तो यह ध्वनि हो सकती थी।

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का विषय-विभाजन

गुणीभूत होकर भी व्यंग्य रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से ध्वनि अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ध्वनिकार ने कहा है—

> "प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यंग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
> धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः।"
>
> (ध्वन्यालोक ३। ४१)

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब रस आदि के तात्पर्य पर ध्यान देने से गुणीभूत व्यंग्य को भी ध्वनि समझा जायगा, तो गुणीभूत व्यंग्य का कोई विषय ही नहीं रहेगा ? उत्तर यह है कि ध्वनि या गुणीभूत का निर्णय या भेद इनकी प्रधानता पर ही निर्भर है। रसात्मक वर्णन में जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता होगी, वहाँ उसकी ध्वनि संज्ञा होगी, और जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होगा, वहाँ वह गुणीभूत व्यंग्य ही कहा जायगा। कहा है—

'प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ।'

(ध्वन्यालोक ३ । ४०)

अर्थात् ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य, इन दोनों में जहाँ जिसका माना जाना युक्ति-युक्त हो—जिसमें अधिक चमत्कार हो—वहाँ उसी को मानना चाहिए। सर्वत्र ध्वनि नहीं होती।

जैसे—

फूलन को गजरा गुहि श्याम ने प्यारी कों चाह्यो कराइबो धारन ;
टेरत में मुख ते निकस्यो तब भूलिकै सौति को नाम अकारन ।
हास हुलास गयो उड़ि भामिनि बोलि कछू न कियो जु उचारन ;
चेतन भूमि लगी पद के नख और लगी अँसुवा दृग ढारन ।

(किरातार्जुनीय से अनुवादित)

अथवा—

करिबे को सिंगार बिदा के समै हुलसाय हिये जननी मिलि आई ;
पद-पंकज में मेंहदी को रचाय सखी इक यों कहिकै मुसकाई ।
'पिय सीस की चंद्रकला छुइबो करै' आसिष ये है हमारो सदाई ;
सुनि के न कह्यो कछु पै तिरिया मनि-माल को लै तिहि ओर चलाई ।

(कुमारसंभव से अनुवादित)

तात्पर्य का विचार करने पर इन दोनों पद्यों में शृंगार-रस की व्यंजना है। क्योंकि यहाँ पहले पद्य में भाव-शान्ति और दूसरे पद्य में व्रीड़ा, अवहित्था, ईर्ष्या और गर्व-भाव ध्वनित होते हैं, अतः असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य ध्वनि है। किंतु 'चौंक

कछू न कियो है उचारन' और 'मुख ते न कह्यो कछु' इन वाक्यों द्वारा भाव-शांति और व्रीड़ा आदि व्यंग्यार्थ भाव स्पष्ट हो गए हैं, अतएव उनकी ध्वनि संज्ञा न रहकर अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य प्रधान हो गया है।

इसी प्रकार जहाँ रसादि व्यंग्यार्थ केवल नगरी आदि के वर्णन के अंग हो जाते हैं, वहाँ भी गुणीभूत व्यंग्य ही समझना चाहिए। जैसे—

> नीवी ग्रंथी-शिथलित जहाँ चीर विंबाधरों के—
>
> खेंचे जाते चपल कर से काम-रागी-प्रियों के।
>
> वे भोली ह्री-विवश, मणि के दीप चाहें बुझाना,
>
> हो जाता है विफल उनका चूर्ण मुट्ठी-चलाना।
>
> (हिंदी-मेघदूत-विमर्श)

यहाँ संभोग-शृंगार अलकापुरी के वर्णन का अंग है, अतः गुणीभूत व्यंग्य है।

व्यंजनाशक्ति का प्रतिपादन

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि काव्य में व्यंग्यार्थ ही सर्वोपरि पदार्थ है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यंग्यार्थ का बोध होना व्यंजना-शक्ति के ही आश्रित है। किंतु मीमांसक आदि व्यंजना का मानना अनावश्यक बताते हैं—वे अभिधा और लक्षणा ही मानते हैं। इस गंभीर विषय पर काव्यालोक और

काव्यप्रकाश में विस्तृत विवेचना की गई है। व्यंजना-शक्ति के विरोधियों की सारी दलीलों का आचार्य मम्मट ने बड़ा ही मार्मिक खंडन किया है। उसी को यहाँ संक्षेप में लिखा जाता है।

व्यंजना-शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करने के लिये सर्वप्रथम ध्वनि के भेदों पर विचार करना चाहिए।

ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—अविवक्षित वाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षित वाच्य के नाम से ही स्पष्ट है कि जिस अभिधा के बल पर व्यंजना को निर्मूल करने का साहस किया जाता है, उस अभिधा के अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) का अविवक्षित वाच्य ध्वनि में कुछ उपयोग ही नहीं होता। अविवक्षित वाच्य के अर्थांतर संक्रमित वाच्य में अभिधा का वाच्यार्थ, अनुपयोगी होने के कारण, दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है; जैसे 'कदली-कदली ही जु है' इत्यादि में[1]। और अत्यंत तिरस्कृत वाच्य में वाच्यार्थ सर्वथा ही छोड़ दिया जाता है; जैसे 'सुवरन फूलन की धरा' इत्यादि में[2]।

यदि यह कहा जाय कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि में अभिधा का तो उपयोग नहीं होता है, परंतु जब लक्षणा द्वारा ध्वन्यार्थ का प्रतिपादन हो सकता है, तब व्यंजना का आविष्कार करने की क्या आवश्यकता है ? हाँ, यह ध्वनि लक्षणा-मूला अवश्य है और इसमें प्रयोजनवती लक्षणा रहती है; किंतु लक्षणा तो

१ देखो पृष्ठ ८२। २ देखो पृष्ठ ८३।

केवल लक्ष्यार्थ का ही बोध करा सकती है। लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिये लक्षणा की जाती है, उसका लक्षणा कदापि बोध नहीं करा सकती। जैसे—

'गंगा पर घर' उदाहरण में अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। इसमें लक्षणा केवल 'गंगा'-शब्द का लक्ष्यार्थ 'तट' बोध करा सकती है। *जिस प्रयोजन के लिये* (*अपने निवास-स्थान में* शीतलता और पवित्रता का आधिक्य सूचित करने के लिये) इस वाक्य का प्रयोग किया है, वह लक्षणा द्वारा बोध नहीं हो सकता। अर्थात् लक्षणा में जिसे प्रयोजन कहा जाता है वह व्यंग्यार्थ ही है और वह *व्यंजना का व्यापार है। उस (प्रयोजन) का बोध केवल* व्यंजना-शक्ति ही करा सकती है[1]। यदि 'गंगा पर घर' वाक्य में उक्त प्रयोजन न माना जायगा, तो वक्ता के ऐसे वाक्य कहने का अर्थ ही कुछ नहीं होगा। अतएव यह सिद्ध होता है कि *व्यंग्यार्थ के बिना प्रयोजनवती लक्षणा नहीं हो सकती। और, अविवक्षित वाच्य ध्वनि के व्यंग्यार्थ का चमत्कार व्यंजना पर* ही निर्भर है।

'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि में तो लक्षणा को कोई स्थान ही नहीं, क्योंकि इसमें वाच्यार्थ का बाध नहीं होता, और वाच्यार्थ के बाध के बिना लक्षणा हो नहीं सकती। हाँ, अभिधा का उपयोग इस ध्वनि में होता है, क्योंकि वाच्यार्थ

1 देखो पृष्ठ ६०-६१।

विवक्षित रहता है, किंतु वाच्यार्थ व्यंग्य-निष्ठ होता है। अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के जो दो मुख्य भेद हैं, असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य और संलक्ष्य क्रम-व्यंग्य, इनमें असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य तो रसभावादि हैं, वे न तो अभिधा के वाच्यार्थ ही हैं, और न लक्षणा के लक्ष्यार्थ। यदि वे वाच्यार्थ होते, तो रस अथवा शृंगार आदि शब्दों के कह देने-मात्र से ही उनका आनंदानुभव होना चाहिए था; पर ऐसा होता नहीं है। शृंगार-रस, शृंगार-रस कहने से हो कुछ आनंद प्राप्त नहीं हो सकता, प्रत्युत रस या शृंगार आदि शब्दों का प्रयोग किए बिना ही विभावादिकों के व्यंजन व्यापार द्वारा रस का आनंदानुभव होने लगता है।

यदि यह कहा जाय कि विभावादिकों के वाचक जो दुष्यंत आदि शब्द हैं, उनके बिना उन विभावादिकों की प्रतीति नहीं होती, इसलिये रसादिकों को लक्षणा का लक्ष्यार्थ समझना चाहिए—व्यंजना की व्यर्थ ही कल्पना क्यों की जाय? इसका उत्तर यह है कि लक्षणा तो वहीं होती है, जहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि तीन कारण होते हैं। किंतु जहाँ रसादि व्यक्त होते हैं, वहाँ मुख्यार्थ का बाध आदि नहीं होते।

संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के शब्द-शक्ति-मूलक भेदों में अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग होता है, अर्थात् जहाँ अनेकार्थी शब्द होते हैं, वहीं शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य होता है। 'संयोग' आदि कारणों से अभिधा की शक्ति रुक जाने पर ही अनेकार्थ शब्दों

का व्यंग्यार्थ व्यंजना द्वारा बोध होता है। अर्थ-शक्ति-मूलक भेदों में भी अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराके हट जाती है। अतः वाच्यार्थ के पश्चात् जो वस्तु या अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, उसे अभिधा तो बोध करा ही नहीं सकती, और मुख्यार्थ का बाध न होने के कारण न वहाँ लक्षणा को ही स्थान मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में अर्थ-शक्ति-मूलक व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिये एक तीसरी शक्ति की अपेक्षा रहती है, और वह शक्ति व्यंजना के सिवा और कौन हो सकती है ?

व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिये व्यंजना के माने जाने में और भी बहुत-से कारण हैं—

पर्याय शब्द

समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही रहता है, किंतु व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

जैसे—

> सोचनीय अब दो भए मिलन कपाली हेत।
> कांतिमती वह ससिकला अरु तू कांति-निकेत।
>
> (कुमारसंभव से अनुवादित)

तपश्चर्या-रत पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी का कपट-वेष धारण किए हुए श्रीशंकर की यह उक्ति है। 'हे पार्वती, कपाली के (मुंडमाला धारण करनेवाले शिव के) समागम की इच्छा के कारण अब दो—एक तो चंद्रमा की वह कांतिमयी कला, और दूसरी नेत्रानंद-दायिनी तू—शोचनीय दशा को प्राप्त

हो गए हैं; अर्थात् पहले चंद्रमा की कला ही शोचनीय थी, अब तू भी हो गई है, क्योंकि तू भी उसी मार्ग की पथिक होकर कपाली के समागम की इच्छा कर रही है'। यहाँ 'कपाली' के स्थान पर यदि 'पिनाकी' आदि उसी अर्थ के बोधक शब्द रख दिए जायँ, तो भी वाच्यार्थ तो यही रहेगा—शंकर का बोधक ही होगा—पर 'कपाली'-शब्द के प्रयोग में जो 'अशुद्ध नर-कपाल धारण करनेवाला' कहकर श्रीशंकर का अपने को अपूर्व सूचित करना है, वह व्यंग्यार्थ व्यंजनावृत्ति द्वारा प्रतीत होता है, वह पर्याय शब्द से सूचित नहीं हो सकेगा। यदि व्यंजना न मानी जायगी, तो ऐसे पदों के प्रयोग में जो काव्य का महत्त्व है, वह सर्वथा लुप्त हो जाता है।

प्रकरण, वक्ता, बोधव्य, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि की वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता के कारण भी व्यंजना का माना जाना आवश्यक है। देखिए—

'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी को एक यही बोध होगा कि 'सूर्य अस्त हो गया'—इसके सिवा दूसरा कोई वाच्यार्थ बोध नहीं हो सकता। किंतु व्यंग्यार्थ प्रकरणादि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। यदि शत्रु पर आक्रमण करने के प्रकरण में सेनापति अपनी सेना के प्रति यह वाक्य कहेगा तो इसका व्यंग्यार्थ होगा 'शीघ्र धावा करो, यह मौक़ा अच्छा है'। यदि अभिसार के प्रकरण में दूती यह वाक्य नायिका से कहेगी, तो इसका व्यंग्यार्थ होगा कि

अभिसार के लिये प्रस्तुत हो। वासकसज्जा नायिका के प्रकरण में सखी के इस वाक्य में व्यंग्य होगा कि 'तेरा पति आना ही चाहता है।' भृत्य के प्रति स्वामी के इस वाक्य में 'अब हमें काम करने से निवृत्त होना चाहिए' यह व्यंग्य होगा। शिष्य के प्रति गुरु के इस वाक्य में 'संध्यादि कर्म करने चाहिए' यह व्यंग्य होगा। गोपालक के प्रति गृहस्थ के इस वाक्य में 'गौओं को घर में ले आओ' यह व्यंग्य होगा। भृत्यों के प्रति दूकानदार के इस वाक्य में 'बिक्री की वस्तुओं को समेटकर रक्खो' यह व्यंग्य होगा। अपने साथियों के प्रति पथिक के इस वाक्य में 'अब कहीं विश्राम करना चाहिए' यह व्यंग्य होगा; इत्यादि-इत्यादि। निष्कर्ष यह कि प्रकरण और वक्ता तथा बोद्धाओं की भिन्नता से एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न व्यंग्यार्थ होते हैं।

'अहो भगत निधरक विचर...' (देखो पृष्ठ ६१) इस पद्य में उस भक्त को निरशंक आने को कहा गया है, अतः वाच्यार्थ विधिरूप है। पर व्यंग्यार्थ में आने का निषेध है, अतः व्यंग्यार्थ निषेध रूप है। 'कुच के तट चंदन छूट्यो सबै...' (देखो पृष्ठ ६३) इस पद्य में वाच्यार्थ निषेध रूप है, पर व्यंग्यार्थ विधि रूप है। इसी प्रकार—

पूछत हैं मतिमानन सों जब जे मति मासरता तें विहीन के।
सेवन जोग बतावौ निरंतर तिरीन के हैं अथवा तरुनीन के।
त्यों चित ध्याइबे जोग है जोग का जोग-बिलास करो रमनीन के।
त्यौं तन चाहिबे जोग बपून है कै पद पंग हैं चंद्र-मुखीन के।

ऐसे पद्यों में वाच्यार्थ संशयात्मक होता है। अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा यह नहीं जाना जा सकता है कि यह किसी विरक्त की उक्ति है या किसी विलासी पुरुष की, किंतु व्यंग्यार्थ द्वारा विरक्त वक्ता में शांत-रस की और शृंगारी वक्ता में शृंगार-रस की व्यंजना निश्चयात्मक होती है।

और—

> दूती तू उपकारिनी तो सम हितू न ओर;
> अति सुकुमार सरीर में सहे जु क्षत हित-मोर।

यहाँ वाच्यार्थ स्तुति-रूप है, और व्यंग्यार्थ निंदा-रूप। ऐसे स्थलों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप-भेद होने के कारण व्यंजना को मानना पड़ता है।

वाच्यार्थ प्रथम बोध हो जाता है, और व्यंग्यार्थ उसके पीछे प्रतीत होता है, अतः काल-भेद के कारण भी व्यंजना का मानना आवश्यक है।

वाच्यार्थ केवल शब्द ही में रहता है, किंतु व्यंग्यार्थ शब्द, शब्द के एक अंश, शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना विशेष में भी रहता है; जैसा 'ध्वनि'-प्रकरण से स्पष्ट है। अतः आश्रय-भेद के कारण भी व्यंजना की आवश्यकता सिद्ध होती है।

वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, पर व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिमा द्वारा काव्य-मार्मिकों को ही भासित हो सकता है—

'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।'
(ध्वन्यालोक उ॰

अतः यह निमित्त-भेद भी व्यंजना का प्रतिपा
वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ज्ञान होता है,
से चमत्कार (आस्वादन का आनंद) उत्पन्न
यह कार्य-भेद भी व्यंजना के मानने का एक कार

और—

[1]प्रिया-अधर छत-युत निरखि किहिके होइ
बरजत हू स-मधुप कमल सूँघत भई

इसमें वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है
पर क्षत दीख पड़ता था, और जिसे यह वाक
'अधर को भ्रमर ने काटा है, उपपति ने नहीं
विषय नायिका का पति है—उसी को सूचन
व्यंग्योक्ति है। 'मैं अपने चातुर्य से इसका

1 उपपति द्वारा अपनी कांता के अधर को
आए हुए नायक के कुपित होने पर नायिका
उसे निरपराध सिद्ध करने के लिये, नायक
चातुर्य-गर्भित वाक्य है। हे सखि! दंतक्षत
देखकर किसे रोष नहीं होता? यह ते
भी तूने उस कमल को सूँघ ही तो
हुआ था, और उसने तेरे अधर प
के कोप को सहन कर।

हूँ' यह जो दूसरा व्यंग्य है, उसका विषय पड़ोसिन है, क्योंकि यह बात पास में खड़ी हुई पड़ोसिन को व्यंग्योक्ति से सूचन की गई है। और 'मैंने इसके अपराध का समाधान कर दिया' इस तीसरे व्यंग्य का विषय नायिका की सपत्नि है। इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में विषय-भेद होने के कारण भी व्यंजना का मानना परमावश्यक है। इसी प्रकार—

"आयके तैं कब हौं चित हौं निकसी न सदा घर ही मह खेली;
'वृंद' कहै अब हौं मनभावती आइकै खेलि हैं संग सहेली।
कालि ही कंटक कूलन के लगि कंटक चीर कहा गति मेली;
हौं बरजौं चित कै हित तैं बन-कुंजन में जिन जाय अकेली।"

ये नायिका की सखी के वाक्य हैं। यहाँ वाच्यार्थ का विषय वह नायिका है, जिसके अंगों पर उपनायक द्वारा किए गए नख-क्षत दीख पड़ते हैं। 'इसके अंगों में, वन की कुंजों में, कांटे लग गए हैं (अर्थात् नख-क्षत नहीं है)'। इस व्यंग्यार्थ का विषय समीप में बैठा हुआ नायिका का पति है।

लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की विलक्षणता भी देखिए—

जिस लक्षणावृत्ति द्वारा लक्ष्यार्थ लक्षित होता है, वह लक्षणा मुख्यार्थ के बाध और मुख्यार्थ के संबंध आदि की अपेक्षा रखती है, किंतु अभिधा-मूला व्यंजना में—विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि में—मुख्यार्थ के बाध आदि की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि ध्वनि में वाच्य-अर्थ विवक्षित रहता है और उसके द्वारा ही व्यंग्य-अर्थ प्रतीत होता है।

जिस प्रकार व्यंग्य-अर्थ अनेक प्रकार के होते हैं, उस
लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं ; जैसे—'राम हौं कठोर हि
प्रसिद्ध मैं तो......' (पृष्ठ ३२४) में 'राम हौं' का
दुःखों को सहन करनेवाला' लक्ष्यार्थ है ।

और—

क्रूर निसाचर रावन ने निज पावनता हो के ओज कियो
अब कुओचित तेरे हू ओग लिये ! रहियो अत दुःखन को
पै रघुवंस कमाइ कै धीर कहाइ वृथा पनुपालन को
मानन सौं रचि मोह या राम पै हा ! कछु प्रेम के ओज कियो ।

इसमें वियोगी श्रीरामचंद्रजी जनकनंदिनी को उद्देश्य
कहते हैं—'रावण ने तेरा हरण करके अपनी क्रूरता और नी
के योग्य ही कार्य किया, और तू अपने धर्म-पालन के का
असह्य दुःख सहन कर रही है, यह भी सब कुलोचित
योग्य ही है । किंतु अपने प्राणों से मोह रखनेवाले इस
ने प्रेम का पालन नहीं किया' । यहाँ स्वयं राम हैं । अ
'या राम ने' इस वाक्य में राम का अर्थ उपादान लक्ष
द्वारा 'कायर' होता है । इसी प्रकार—

धमहु बिभिष काको भुवन मरन काल-पुर नाहु,
तात नहीं यह राम है त्रिभुवन-बल-विस्तारु ।
(रामचंद्र-वाक्य से अनूदित)

रावण के प्रति विभीषण की इस उक्ति में 'राम' श
का लक्ष्यार्थ है 'आततायियों का वध करनेवाला' ।

जिस प्रकार 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य में अनेक व्यंग्य सूचित होते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों में 'राम' पद के लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। जैसे व्यंग्य के अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य, अत्यंततिरस्कृतवाच्य आदि अनेक भेद होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ के भी अनेक भेद होते हैं। फिर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद ही क्या है? अतएव व्यंजना का लक्ष्यार्थ से पृथक् मानना अनावश्यक है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ भी अनेक अवश्य हो सकते हैं, पर लक्ष्यार्थ, एक या एक से अधिक, वाच्यार्थ को तरह नियत (मर्यादित) रहता है। क्योंकि जिस अर्थ का वाच्य-अर्थ के साथ नियत संबंध नहीं होता, उसकी लक्षणा नहीं हो सकती। अर्थात् जिस प्रकार अनेकार्थी शब्द का अभिधा द्वारा एक ही वाच्य-अर्थ हो सकता है, उसी प्रकार लाक्षणिक शब्द भी उसी एक अर्थ को लक्ष्य करा सकता है, जो वाच्य-अर्थ का नियत संबंधी होता है। जैसे 'गंगा पर घर' में गंगा शब्द के प्रवाह रूप वाच्य-अर्थ का नियत (नित्य)[१] संबंधी 'तट' है, अतः तट ही में गंगा शब्द की लक्षणा हो सकती है, अन्य किसी अर्थ में नहीं। इस प्रकार लक्ष्य-अर्थ भी वाच्य-अर्थ की तरह नियत-संबंध में होता है, पर व्यंग्य-अर्थ प्रकरण आदि के द्वारा (१) नियत-संबंध में, (२) अनियत-संबंध में, और (३)

१ प्रवाह के साथ तट का नित्य संबंध इसलिये है कि जल के प्रवाह का तट के साथ सदैव संबंध रहता है।

संबंध-संबंध में होता है। जैसे—'हौं इन सोवत साथ
(देखो, पृष्ठ ७१) में 'इच्छानुकूल विहार' रूप एक ही व्यंग्य
दूसरा कोई व्यंग्य नहीं, इसलिये यहाँ व्यंग्यार्थ का वाच्य
साथ नियत संबंध है। 'प्रिया अधर-क्षत-युत निरखि...
(देखो, पृष्ठ ३५०) में विषय-भेद से अनेक व्यंग्य-अर्थ हैं।
इन व्यंग्यों का एक ही शाप्य या बोध्य नहीं है, पर भिन्न भिन्न
हैं, अतएव अनियत संबंध है। और—

नाभि-कमल-थित[1] विधिहि लखि रति-विपरीत सभाय।
ढकि दहिनों हरि-दृग दियो कमला तुरत लजाय।

'हरि' पद से दक्षिण नेत्र की सूर्यरूपता व्यंग्य से सूचित होती है, क्योंकि पुराणों में विष्णु भगवान् का दक्षिण नेत्र सूर्य-रूप और वाम नेत्र चंद्र-रूप कहा गया है। दक्षिण नेत्र को ढक देने से सूर्य का अस्त होना दूसरा व्यंग्य सूचित होता है। सूर्यास्त पर कमल का संकुचित हो जाना तीसरा व्यंग्य है। कमल के संकुचित हो जाने पर ब्रह्मा का अदृश्य हो जाना यह चौथा व्यंग्य है। और ब्रह्मा के अदृश्य हो जाने पर लज्जा का कारण न रहने से प्रतिबंध-रहित विलास-रूप पाँचवाँ व्यंग्य है। यहाँ उत्तरोत्तर संबंध से व्यंग्य की प्रतीति होती है, अर्थात्

---

1 विपरीत रति के समय विष्णु भगवान् के नाभि-कमल पर ब्रह्माजी को देखकर लक्ष्मीजी ने लज्जित होकर अपना (विष्णु का) दाहिना नेत्र अपने हाथ से ढककर अपने रमण-कार्य में बाधा की रक्षा कर ली।

एक व्यंग्य की प्रतीति हो जाने पर दूसरे व्यंग्य-अर्थ की प्रतीति होती जाती है, यही संबंध-संबंधिता है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ विलक्षण है, और व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा और लक्षणा द्वारा नहीं हो सकता है। अतएव व्यंजना-शक्ति का मानना अनिवार्यतः आवश्यक है।

महिम भट्ट के मत का खंडन

महिम भट्ट व्यंजना और ध्वनि-सिद्धांत के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने ध्वनि-सिद्धांत के खंडन पर 'व्यक्तिविवेक'-नामक ग्रंथ लिखा है। इनका कहना है कि जिस व्यंजनावृत्ति के आधार पर ध्वनि सिद्धांत का विशाल भवन निर्माण किया गया है, वह व्यंजना पूर्व-सिद्ध अनुमान के अतिरिक्त कोई पृथक् पदार्थ नहीं है।

यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि 'अनुमान' किसे कहते हैं। अनुमान में साधन द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है। साधन कहते हैं हेतु या लिंग को—अनुमान किए जाने के कारण को, अर्थात् जिसके द्वारा अनुमान किया जाता है। साध्य या लिंगी उसे कहते हैं, जो अनुमान के ज्ञान का विषय हो, अर्थात् जिसका अनुमान किया जाय। जैसे धुएँ से अग्नि का अनुमान किया जाता है—'धुआँ' साधन (हेतु) है, और 'अग्नि' साध्य। क्योंकि धुएँ से यह अनुमान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है, अतः यहाँ अग्नि भी है। अनुमान में व्याप्ति-संबंध रहता है,

भयभीत होता था, वह उसी स्थान पर सिंह के रहने की बात सुनकर वहाँ जाने का किस प्रकार साहस कर सकता है। और यह निषेध व्यंग्यार्थ है।'

महिम भट्ट कहते हैं—'जिस वाच्यार्थ में निश्शंक आने के लिये कहा गया है, वह वाच्यार्थ ही न आने को कहने का साधन (हेतु) है; अर्थात् जिसको व्यंग्यार्थ बताया जाता है, वह व्यंजना का व्यापार नहीं, किंतु वाच्यार्थ द्वारा ही उसका अनुमान हो जाता है। जैसे, अग्नि का अनुमान करने के लिये धुएँ का होना हेतु है, उसी प्रकार सिंह के होने की सूचना देना आने के निषेध का हेतु है।' इसी प्रकार की दलीलों से उन्होंने व्यंजना का खंडन किया है।

आचार्य मम्मट ने इन दलीलों का बड़ी सार-गर्भित युक्तियों द्वारा खंडन किया है। श्रीमम्मट कहते हैं—"सिंह का होना जो तुम अनुमान का हेतु बताते हो, वह अनैकांतिक है—निश्चयात्मक नहीं। अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ हेतु निश्चयात्मक होता है। जैसे, अग्नि का अनुमान वहीं हो सकता है, जहाँ धुएँ का होना निश्चित है। यदि धुएँ के अस्तित्व में संशय है, तो अग्नि का अनुमान भी नहीं किया जा सकता। कुलटा द्वारा सिंह का होना बताए जाने में उस भक्त के वहाँ न आने का हेतु निश्चयात्मक नहीं है। क्योंकि गुरु या स्वामी की आज्ञा से या अपने किसी प्रेमी के अनुराग से अथवा ऐसे ही किसी विशेष कारण से डरपोक व्यक्ति का भी भयवाले

षष्ठ स्तवक

गुण

काव्य की आत्मा रस है। गुण रस में रहते हैं, अर्थात् रस के धर्म हैं। गुण रस के अंतरंग हैं और अलंकार बहिरंग, क्योंकि अलंकार रस का धर्म नहीं। इसलिये अलंकारों के पहले गुणों का विवेचन किया जाता है।

गुण के महत्त्व के विषय में भगवान् वेदव्यास ने आज्ञा की है—

'अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्,
वपुष्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्[1]।
(अग्निपुराण ३४६ । १)

गुण का सामान्य लक्षण

जो रस के धर्म एवं उसके उत्कर्ष के कारण हैं, और जिनकी रस के साथ अचल स्थिति रहती है, वे गुण कहे जाते हैं।

---

१ गुण-रहित काव्य, अलंकार-युक्त होने पर भी, आनंद-प्रद नहीं होता। जैसे कामिनी के लालित्य आदि गुण-रहित शरीर पर हार आदि आभूषण केवल भार रूप होते हैं।

जगन्नाथ वर्ण-रचना में भी गुणों की स्थिति मानते हैं[1]। अस्तु।

गुण और अलंकार

गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के उत्कर्षक हैं। किंतु इनके सामान्य लक्षणों पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। 'गुण' रस के धर्म हैं, क्योंकि गुण रस के साथ नित्य रहते हैं। अलंकार रस का साथ छोड़कर नीरस काव्य में भी रहते हैं। गुण रस का सदैव उपकार करते हैं, पर अलंकार रस के साथ रहकर कभी उपकारक होते हैं और कभी नहीं। जैसे—

"हौं ही ब्रज बृंदावन, मोही में बसत सदा,
जमुना - तरंग स्यामरंग अवलीन की;
चहूँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजनि में सुनियत गुंजनि अलीन की।
बंसी - बट - तट नटनागर नटतु मोमैं,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की;
भरि रही भनक - बनक ताल -ताननि की,
तनक - तनक तामैं झनक चुरीन की।"

यहाँ 'तरंग', 'रंग', 'कुंजनि', 'गुंजनि', 'भनक', 'बनक' इत्यादि में अनुप्रास अलंकार है। यह अलंकार पहले तो शब्दों

[1] 'तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैवकल्प्य इति तु मादृशाः' (रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृष्ठ ६९)

छेकानुप्रास अलंकार भी है। किंतु यह अलंकार रस का
कारक नहीं, प्रत्युत अपकर्ष करनेवाला है, क्योंकि 'ट'
की रचना शृंगार-रस के विरुद्ध है।
रस-रहित अलंकार का उदाहरण—

> "दुसह दुराज प्रजानि कों क्यों न बढ़े दुख द्वंद ।
> अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि-चंद ।"

यहाँ पूर्वार्द्ध की सामान्य बात का उत्तरार्द्ध की विशेष
से समर्थन किया गया है, अतः अर्थांतरन्यास अलंकार
किंतु यहाँ कोई रस की व्यंजना नहीं। अतः स्पष्ट है कि
के बिना भी अलंकार की स्थिति हो सकती है।
इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अलंकारों का रस के साथ
ना या उनके द्वारा रस का उपकार होना नियत—निश्य—
है। 'हार' आदि भूषणों से शरीर की शोभा होती अवश्य
पर इनके न होने पर भी शरीर की कुछ हीनता प्रतीत नहीं
ती। इसी प्रकार रस भी अलंकारों से अलंकृत—शोभित—
वश्य होता है, पर उनके न होने से भी रस की कुछ हानि
हीं होती। किंतु 'गुण' रस के साथ अनिवार्य रहते हैं। यह
षय बहुत विवाद-ग्रस्त है। यहाँ केवल काव्यप्रकाश के
द्धांत का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। अस्तु।

गुणों की संख्या

गुणों की संख्या के विषय में मत-भेद है। श्रीभरत मुनि ने १०

विक्षेप[1] चित्तवृत्तियों के न होने पर रति आदि के स्वरूप से अनुगत आनंद के उत्पन्न होने के कारण माधुर्य गुण-युक्त रस के आस्वादन करने से चित्त पिघल जाता है। यह गुण संभोग-शृंगार से करुण में, करुण से वियोग-शृंगार में, और वियोग-शृंगार से शांत रस में अधिकाधिक होता है। यहाँ शृंगार का कथन उपलक्षण-मात्र है, अर्थात् शृंगार के आभास आदि में भी माधुर्य होता है।

ट, ठ, ड, ढ के अतिरिक्त स्पर्श[2] वर्ण अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म; और वर्गांत के ङ, ञ, ण, न, म से युक्त अर्थात् अनुस्वार-सहित वर्ण (जैसे अङ्ग, रञ्जन, कान्त, कम्प) ह्रस्व 'र' और 'ण'; समास का अभाव, अथवा दो-तीन या अधिक-से-अधिक चार पद मिले हुए समास और मधुर, कोमल पद-रचना, ये सब माधुर्य-गुण के व्यंजक हैं।

उदाहरण—

अलि-पुंजन की मद-गुंजन सों, बन-कुंजन मंजु बनाय रह्यो;
लगि संग अनंग-तरंगन सों, रति-रंग उमंग बढ़ाय रह्यो।
बिकसे सर कंजन कंपित कै, रज रंजन लै छिरकाय रह्यो;
मलयानिल मंद दसो दिसि ये, मकरंद अमंद लुटाय रह्यो।

---

१ विस्मय और हास्य आदि से होनेवाली चित्त की अवस्था को विक्षेप कहते हैं। यह अद्भुत और हास्य आदि रसों में होती है।
२ 'क' से 'म' तक के वर्णों की व्याकरण में स्पर्श संज्ञा है।

प्रबल सुभट्ट ठट्ट दंत कटकट्ट हैं,
कट्टे हैं दुपट्टे औ उपट्टे छोम अंग में।
भिंडिपाल पट्टि सपरिघ त्यों, कृपान सूल,
फूटत झनाका पै झनाका; कांपि अंग में;
'रसिक बिहारी' वीर रंचहू न खावैं पीर,
बीरन के प्रान कढ़ि जात तीर संग में।"
(काव्यसुधाकर)

यहाँ 'क्रुद्ध' और 'प्रबल' में रकार मिला हुआ है। 'प्रबुद्ध', 'जुद्ध', 'भट्ट' आदि में पहले वर्ण के साथ उसी वर्ण के दूसरे वर्ण मिले हुए हैं। टवर्ग की अधिकता है, और कठोर रचना है। इसके सिवा रस-प्रकरण में रौद्र और वीर-रस के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे ओज गुण-युक्त हैं।

(३) प्रसाद गुण

सूखे ईंधन में अग्नि की तरह, अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल की तरह जो गुण तत्काल चित्त में व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण है।

प्रसाद गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है—खिल उठता है।

यह सभी रसों में और सारी रचनाओं में हो सकता है। शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसा सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण का व्यंजक होता है।

विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे,
रस समय दिखाते शब्द-चातुर्य सारे;
सब तब उनके पे व्यर्थ है तू बनाती,
जब पिक ! अपनी तू चातुरी है दिखाती।
सघन उपवनों में, वाटिका में कभी तू—
गिरि-सरित-तटों के प्रांत में भी कभी तू।
सुभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू,
सु-मधुर-मतवाली कूक को कूकती तू।
सहृदय जन तेरे शब्द से हैं सुमाते,
कवि जन गुण तेरे नित्य सानंद गाते।
बस अधिक कहें क्या मान काफ़ी यही तू,
अनुपम गुणवाली भाग्यशाली बड़ी तू।

माधुर्य आदि गुणों की व्यंजना के लिये वर्ण-रचना आदि
के उक्त नियम सर्वत्र एक समान हैं। किंतु वक्ता, वाच्य, अर्थ,
अभिधेय और प्रबंध—महाकाव्य या नाटक—की विशेष-विशेष
अवस्था के कारण उक्त नियमों के विपरीत भी कहीं-कहीं वर्ण,
समास और रचना की जाती है। जैसे, आख्यायिका में शृंगार-
रस के वर्णन में भी कोमल पदावली नहीं होती। कथा में रौद्र
रस के वर्णन में भी अत्यंत उद्धत वर्ण आदि नहीं होते, और
नाटकादि में रौद्र रस में लंबे समास आदि नहीं होते। निष्कर्ष
यह है कि उचित-अनुचित का विचार करके वर्णादि का प्रयोग
किया जाता है।

सप्तम स्तवक

दोष

काव्य में 'गुण' आदि का होना आवश्यक है, पर उससे कहीं अधिक उसका निर्दोष होना आवश्यक है।

'स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।'

अर्थात् सुंदर शरीर श्वेतकुष्ठ के एक चिह्न से दुर्भग हो जाता है। इसी प्रकार थोड़े-से 'अनौचित्य' के कारण भी काव्य दूषित हो जाता है। कारण यह है कि दोष काव्य के आस्वाद में उद्वेग उत्पन्न कर देता है—

'उद्वेगजनको दोषः'—अग्निपुराण।

दोष का सामान्य लक्षण

मुख्य अर्थ की प्रतीति की हानि (अपकर्ष) पहुँचानेवाली वस्तु को दोष कहते हैं।

मुख्य अर्थ—कवि जिस वस्तु में जहाँ चमत्कार दिखाना चाहता है, वही 'मुख्य अर्थ' है। जहाँ रस और भावादि में सर्वोत्कृष्ट चमत्कार होता है, वहाँ रसभाव आदि मुख्य अर्थ है। जहाँ वाच्य अर्थ में उत्कृष्टता होती है वहाँ 'वाच्य अर्थ' और जहाँ शब्द में उत्कृष्टता होती है वहाँ 'शब्द' मुख्य अर्थ

(१) श्रुति-कटु

कानों को अप्रिय मालूम होनेवाली कठोर वर्णों की रचना। जैसे—

> कार्तार्थी[1] तब होऊँगी, मिलिहैं जब पिय आय।

यहाँ 'कार्तार्थी' श्रुति-कटु पद है। यह विप्रलंभ-शृंगार का वर्णन है। इसमें कठोर वर्णों की रचना नियम-विरुद्ध है। यह दोष शृंगारादि कोमल रसों में ही होता है। वीर, रौद्र आदि रसों में यह गुण है। 'यमक' आदि अलंकारों में भी यह दोष नहीं होता है।

(२) च्युतसंस्कार

व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग। जैसे—

> "छंद को प्रबंध त्यों ही ध्वंग नायिकादि भेद,
> उद्दीपन भाव अनुभाव पति बामा के।
> भाव संचारी असथाई रस भूषण हू,
> दूषण अदूषण औ कवित्त छदामा के।
> काव्य को विचार 'भानु' लोक उक्ति सार कोष,
> काव्य-प्रभाकर में साजि काव्य सामा के।
> कोविद कवीशन को तुच्छ मानि भेट देत,
> अंगीकार कीजै चारि चाँवर सुदामा के।"
>
> (श्रीजगन्नाथप्रसाद 'भानु'-काव्यप्रभाकर)

---

1 कृतार्थी।

समझना चाहिए। रस, भाव आदि का उपकारक होने के वाच्यार्थ को और रस, भाव आदि तथा वाच्यार्थ का होने के कारण शब्द को भी यहाँ मुख्यार्थ माना है। अतएव रस, भाव आदि व्यंग्यार्थ में, वाक्यार्थ में और शब्द में—इन तीनों में—दोष हो सकता है। फलतः दोष भी सामान्यतः तीन भेदों में विभक्त है—(१) शब्द-दोष, (२) अर्थ-दोष और (३) रस-दोष।

अपकर्ष—अपकर्ष तीन प्रकार से होता है—(१) काव्य के आस्वाद (आनंद) के रुक जाने से, (२) काव्य की उत्कृष्टता को नष्ट करनेवाली किसी वस्तु के बीच में आ जाने से, और (३) काव्य के आस्वाद में विलंब करनेवाले कारणों की स्थिति हो जाने से। इन तीनों में से एक भी जहाँ होता है वहाँ दोष आ जाता है। काव्यप्रकाश में ७० प्रकार के दोष बताए गए हैं—३७ शब्द के, २३ अर्थ के और १० रस के।

रस-विषयक दोषों का निरूपण रस-प्रकरण में किया जा चुका है।

शब्द-दोष

वाक्यार्थ का बोध होने के प्रथम जो दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द के आश्रित हैं। अतः वे शब्द के दोष हैं। शब्द के दोष—(१) पदांशगत, (२) पदगत और (३) वाक्यगत होते हैं। इनके भेद इस प्रकार हैं—

(१) श्रुति-कटु

कानों को अप्रिय मालूम होनेवाली कठोर वर्णों की रचना। जैसे—

कार्तार्थी[१] तब होहुँगी, मिलिहैं जब प्रिय आय।

यहाँ 'कार्तार्थी' श्रुति-कटु पद है। यह विप्रलंभ-शृंगार का वर्णन है। इसमें कठोर वर्णों की रचना नियम-विरुद्ध है। यह दोष शृंगारादि कोमल रसों में ही होता है। वीर, रौद्र आदि रसों में यह गुण है। 'यमक' आदि अलंकारों में भी यह दोष नहीं होता है।

(२) च्युतसंस्कार

व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग। जैसे—

"छंद को प्रबंध त्यों ही व्यंग नायिकादि भेद,
उद्दीपन भाव अनुभाव पति बामा के,
भाव संचारी असथाई रस भूषण हू,
दूषण अदूषण जो कविता ललामा के।
काव्य को विचार 'भानु' लोक उक्ति सार कोष,
काव्य-प्रभाकर में साजि काव्य सामा के,
कोविद कवीशन को कृष्ण मानि भेट देत,
अंगीकार कीजै चारि चाँउर सुदामा के।"

(श्रीजगन्नाथप्रसाद 'भानु'-काव्यप्रभाकर)

---

१ कृतार्थी।

यहाँ 'ममयाईं' पद में च्युत संस्कार दोष है। स्वामी का अपभ्रंश ब्रजभाषा में 'सायी' हो सकता है। पर ममयाईं तो अल्पायी या अधिपर का ही अपभ्रंश हो सकता है, न कि सायी का।

(३) अप्रयुक्त

अप्रचलित प्रयोग।

जैसे—

> [illegible] समय स्पर्श कीन्ह बहु गाय।

यहाँ दान के अर्थ में 'स्पर्श' पद का प्रयोग है। स्पर्श का अर्थ दान भी है—निभापनं निवापं स्पर्शनं प्रतिपादनम्—अमरकोष। दान के अर्थ में इसका प्रयोग काव्यों में देखा नहीं जाता है[1]।

(४) असमर्थ

अभीष्ट अर्थ की प्रतीति का नहीं होना। जैसे—

> कुंज हनन कालिंदि कूल।

यहाँ गमन-अर्थ में 'हनन' पद का प्रयोग है। 'हन्' धातु का गति अर्थ भी है—हन् हिंसागत्योः। किंतु हनन पद की सामर्थ्य से यहाँ 'गमन' अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता।

---

1 श्रीमद्भागवत में दान के अर्थ में 'स्पर्श' का प्रयोग है। किंतु पुराणादि आर्ष ग्रंथों में यह दोष नहीं हो सकता। काव्य-ग्रंथ में ही यह दोष माना जाता है।

(५) निहतार्थ

दो अर्थोंवाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग।
जैसे—

यमुना-शंबर विमल लों, छूटत कलिमल कोस।

यहाँ जल के अर्थ में 'शंबर'शब्द का प्रयोग है। शंबर पद जल का पर्यायवाची है—जैसे 'शंबरंबुशम्बरम्'। किंतु काव्य में 'शंबर' का प्रयोग शंबर नाम के असुर के लिये ही होता है। अतः 'शंबर' शब्द उसी असुर के नाम में योगरूढ़ है। जल के अर्थ में यह शब्द अप्रसिद्ध है। उपर्युक्त 'अप्रयुक्त' दोष एकार्थी शब्द में होता है, पर यह दोष अनेकार्थी शब्द में। इन दोनों में यही भेद है।

(६) अनुचितार्थ

अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार करनेवाला प्रयोग।
जैसे—

ह्वै के पशु रन-यज्ञ में, अमर होहिं जग सूर।

शूर-वीरों को पशु के समान कहने में उनकी कायरता प्रतीत होती है, क्योंकि यज्ञ में पशु स्वेच्छा से नहीं, किंतु परवश होकर मरते हैं। शूरवीर उत्साह-पूर्वक स्वेच्छा से रण में खड़े होते हैं। अतः शूरवीरों को पशु की समता देने में अभीष्ट अर्थ का अर्थात् उनकी उत्कृष्टता का तिरस्कार होता है।

(६) अश्लील

यह दोष तीन प्रकार का होता है—(१) व्रीडा-व्यंजक, (२) घृणा-व्यंजक और (३) अमंगल-व्यंजक । क्रमशः उदाहरण—

> मद-मंथन कौं जय करन तो साधन[1] सु महान ।

यहाँ राजा की प्रशंसा में कहा है कि तेरा साधन (सैन्य बल) महान् है । यहाँ 'साधन'-शब्द व्रीडा-व्यंजक है ।

> पिचकारी प्यारी दई, मुख पै डारि गुलाल,
> मिची आँख पिय की निरखि वायु कीन ततकाल ।

यहाँ 'वायु' पद से अधोवायु का भी स्मरण होता है, इसलिये यह शब्द घृणा-व्यंजक है । यह पदगत घृणा-व्यंजक अश्लील है । वाक्यगत—

> चोरत हैं पर उक्ति कौं जे कवि ह्वै स्वच्छंद,
> वे उत्सर्ग[2] र वांत[3] को उपभोगत मतिमंद ।

यहाँ 'उत्सर्ग[2] और वांत[3]' पद घृणोत्पादक हैं ।

> "दाखि-दाखि तुव नाक सों यों पूछत सब गाँव ;
> किये निवासन नासिकै जियो नासिका गाँव ।"

यहाँ 'नासिकै' पद अमंगल-सूचक है ।

---

1 'साधन' नाम पुरुष के गुह्यांग का भी है । 2 मल । 3 वमन अर्थात् कै ।

(१०) संदिग्ध

शब्द का प्रयोग, जिससे वांछित और अवांछित दो-
ीत हों।

—

वंदा पर कपि हुआ।

का अर्थ वंदनीया और क़ैद की हुई भी है। अत
कि किस अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है।

(११) अप्रतीतार्थ

ाब्द का प्रयोग जो लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध न हो।

—

तत्त्वज्ञान प्रकास सों दुरितासय जो जाहि।
विधि-निषेधमय कर्म सब बाधक होहि न ताहि।

य'-शब्द का अर्थ मिथ्या ज्ञान है। किंतु 'आशय' का
यह योग-शास्त्र में ही होता है—सर्वत्र नहीं।

(१२) ग्राम्य

ब्द का प्रयोग जो केवल साधारण जनों की—ग्रामी
बोलचाल में आता हो।

.

[illegible]

([illegible])

'गाल' शब्द ग्राम्य है। काव्यप्रकाश आदि में 'कटि'-शब्द को भी ग्राम्य माना है, पर यह संस्कृत-काव्य में दूषित है। हिंदी में इस शब्द का प्रयोग प्रायः सभी महाकवियों ने किया है। आजकल के ग्रामीण तो 'कटि'-शब्द का अर्थ तक नहीं जानते। हाँ, कटि शब्द के पर्यायवाची 'कमर'-शब्द को हिंदी में ग्राम्य माना जा सकता है।

(१३) नेयार्थ

असंगत लक्षणावृत्ति।

जैसे—

तेरे मुख ने चंद्र के दई लगाय चपेट।

यहाँ 'चपेट' लगाने के मुख्यार्थ का बाध है। 'तेरे मुख की कांति चंद्रमा से अधिक है' यह अर्थ लक्षणा से होता है। किंतु लक्षणा रूढ़ि या प्रयोजन से ही होती है। यहाँ न रूढ़ि है और न प्रयोजन ही।

(१४) क्लिष्ट

ऐसे शब्द का प्रयोग जिसका अर्थ-ज्ञान बहुत कठिनता से हो।

जैसे—

अहि-रिपु-पति-प्रिय-सदन है मुख तेरो रमनीय।

अहि = सर्प, उसका शत्रु = गरुड़, के पति = विष्णु, उनकी पत्नि = लक्ष्मी, उनका सदन अर्थात् निवास-स्थान = कमल,

श्रीशंकर को पार्वतीजी पर मोहित करने के लिये कामदेव के माया-जाल में श्रीपार्वतीजी के सहायक होने का यह वर्णन है। नितंबों पर से खिसलती हुई कौंधनी में, जिसे पार्वतीजी ऊपर को उठा रही थीं, कामदेव के धनुष की दूसरी प्रत्यंचा—डोरी—की उत्प्रेक्षा की गई है। अर्थात् पार्वतीजी खिसलती हुई कौंधनी क्या उठा रही हैं, मानो कामदेव के धनुष की दूसरी प्रत्यंचा को, जो कामदेव की उनके पास रक्खी हुई धरोहर थी, सजा रही हैं। प्रत्यंचा का दूसरापन बताना ही उत्प्रेक्षा का प्रधान प्रयोजन है। किंतु 'द्वितीय प्रत्यंचा' पद में दूसरेपन का प्रधानत्व नहीं रहता। 'मानो कामदेव के धनुष पर दूसरी ही प्रत्यंचा चढ़ा रही हैं' यदि ऐसा कहा जायगा, तो दूसरेपन का प्रधानत्व हो जाता है।

(२६) विरुद्धमतिकृत

ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनके द्वारा अभीष्ट अर्थ से विरुद्ध र्थ की प्रतीति हो।
जैसे—

> सरद-चंद सम विमल हो सदा उदार-चरित्र ;
> गुन-गन कहे न जातु है आप अकारज मित्र।

यहाँ कहने का अभिप्राय तो यह है कि 'आप कार्य के बिना अर्थात् स्वार्थ-रहित मित्र हैं।' किंतु 'अकारज मित्र' पद

ोत यह होता है कि आप अकार्य में अर्थात् अयो में मित्र हैं, अतः 'अकारज' पद अभीष्ट अर्थ मति उत्पन्न करता है। और—

नाथ अम्बिका-रमन हो मंगलमोद-निधान।

'अंबिका-रमण' पद विरुद्ध मति उत्पन्न करता है (नाम माता का है। 'माता का पति' ऐसा कहने ं अर्थ का तिरस्कार होता है। पूर्वोक्त च्युतसंस्कार ; उदाहृत कवित्त के 'पतिवामा' वाक्य में भी यह ।

शब्दगत १६ दोषों में च्युतसंस्कार, असमर्थ और निर-दोष पदगत ही होते हैं, शेष दोष पद और वाक्य दोनों हैं और निम्न-लिखित शब्दगत २१ दोष केवल वाक्य ते हैं—

(१७) प्रतिकूल वर्ण

ष्ट-रस के अर्थात् प्रकरणगत रस के प्रतिकूल वर्णों य-रचना।

—

"सकुचि सुरत आरंभ ही बिछुरी लाज लजाइ;
ठकि ढार ढुरि ढिंग गई ढीठि दिठाई आइ।"

शृंगार-रस में टवर्ग के वर्णों की प्रतिकूल रचना है।

(१८-२०) आहत विसर्ग, लुप्त विसर्ग और विसंधि

ये दोष संस्कृत ही में हो सकते हैं । हिंदी में प्रायः ये नहीं होते ।

(२१) हतवृत्त

(क) पिंगल-दोष न होने पर भी उच्चारण या श्रवण समुचित न होना ।

(ख) पाद के अंत के लघु वर्ण का गुरु वर्ण का कार्य न दे सकना ।

(ग) रस के अनुकूल छंद का होना ।

"दुसाध्य रोग वियोग का तनिक न मिलती चैन ।"

'दुसाध्य रोग वियोग का' इसमें दोहे के लक्षणानुसार १३ मात्रा हैं, पर बोलने और सुनने में दुःसह है । 'रोग दुसाध्य वियोग का' ऐसा पाठ होने से दोष नहीं रहता है ।

भ चकत न कहै कछु उदार !

विविधर ! सोचत अर्थ तू अपार ।

यह पुष्पिताग्रा छंद है । इसके पदांत में दीर्घ वर्ण होता है । पर यहाँ प्रथम पाद के अंत का ह्रस्व वर्ण है, अतः दोष है । यद्यपि छंद-शास्त्र में पादांत में ह्रस्व वर्ण विकल्प से दीर्घ माना गया है, किंतु 'वसंततिलक', 'इंद्रवज्रा' आदि छंदों में ही प्रथम

से प्रतीत यह होता है कि आप अकार्य में अर्थात् कार्य में भिन्न हैं, अतः 'अकारज' पद अभीष्ट विरुद्ध मति उत्पन्न करता है। और—

माथ अम्बिका-रमन को मेनजमोद-निवास।

यहाँ 'अंबिका-रमण' पद विरुद्ध मति उत्पन्न करता अंबिका नाम माता का है। 'माता का पति' ऐसा का अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार होता है। पूर्वोक्त च्युतसं दोष के उदाहृत कवित्त के 'पतित्रामा' वाक्य में भी दोष है।

इन शब्दगत १६ दोषों में च्युतसंस्कार, असमर्थ और थंक ये दोष पदगत ही होते हैं, शेष दोष पद और वाक्य में होते हैं और निम्न-लिखित शब्दगत ३१ दोष केवल व में ही होते हैं—

(१८-२०) आहत विसर्ग, लुप्त विसर्ग और विसंधि

ये दोष संस्कृत ही में हो सकते हैं। हिंदी में प्रायः ये नहीं होते।

(२१) हतवृत्त

(क) पिंगल-दोष न होने पर भी उच्चारण या श्रवण समुचित न होना।

(ख) पाद के अंत के लघु वर्ण का गुरु वर्ण का कार्य न दे सकना।

(ग) रस के अनुकूल छंद का होना।

"दुःसाध्य रोग वियोग का तनिक न मिलती चैन।"

'दुःसाध्य रोग वियोग का' इसमें दोहे के लक्षणानुसार १३ मात्रा हैं, पर बोलने और सुनने में दुःखद है। 'रोग दुःसाध्य वियोग का' ऐसा पाठ होने से दोष नहीं रहता है।

न चलत न बढ़ै कछू बसात।
छिछिया ! लोचन चपं तू जता।

यह पुष्पिताग्रा छंद है। इसके चरणांत में दीर्घ वर्ण होना है। पर यहाँ प्रथम पाद के अंत का ह्रस्व वर्ण है, अतः दोष है। यद्यपि छंद-शास्त्र में पादांत में ह्रस्व वर्ण विकल्प से दीर्घ माना गया है, किंतु 'वसंततिलक', 'इंद्रवज्रा' आदि छंदों में ही प्रथम

पाद के अंत का ह्रस्व वर्ण, दीर्घ वर्ण का कार्य कर स
है—सर्वत्र नहीं।

करुण-रस में मंदाक्रांता, पुष्पिताग्रा आदि, शृंगार आ
पृथ्वी, स्रग्धरा आदि, वीर-रस में शिखरिणी, शार्दूलवि
क्रीडित आदि छंद अनुकूल होते हैं। हास्य-रस में 'दोधक'
शांत-रस में 'झूलना' छंद प्रतिकूल है।

(२२) न्यून पद

अभीष्ट अर्थ के वाचक-शब्द का न होना।

जैसे—

कृपावलोकन होय तो सुरपति सों का काम।

'कृपावलोकन' के पहले 'आपकी' न होने से अभीष्ट
प्रतीत नहीं हो सकता है।

और भी—

"वंशी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है,
वंशी प्यारी मधुर-सुर की साथ में सोहती है।
धाये धाये सघन वन में घूमते गो चराते,
धाया धाया सघन वन में घूमता गो चराता।"

(लाला भगवानदीन का सूक्ति सरोवर)।

ग्रंथकार लाला भगवानदीनजी ने इसका अर्थ इस प्रक
किया है—"हे कृष्ण ! मैं आपसे कम नहीं हूँ। तुम्हारे पा
मधुर-सुरवाली वंशी है, तो मेरे पास भी मधुर-भाषिणी वंश

ो प्यारी (प्यारी कुलांगना) है, इत्यादि। प्रथम पाद के
र में' पद के पहले आपके और दूसरे पाद के 'साथ में' के
े 'मेरे' का होना आवश्यक है। इसके बिना वाक्य अपूर्ण
ा है। दूसरे पाद के 'वंशी'-शब्द में 'अवाचकता' दोष भी
क्योंकि 'वंशी'-शब्द कुलांगना का वाचक नहीं है।

(२३) अधिक पद

नावश्यक शब्द का प्रयोग।

े—

"लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद।
आवत नारि नवोढ लौं सुखद वायु-गति मंद।"

ा की रज को ही 'पराग' कहते हैं। 'पराग' कहने से
प-रज का बोध हो जाता है। 'पुहुप' पद अना-
है।

(२४) कथित पद

बार कहे हुए शब्द का अनावश्यक दुबारा प्रयोग।

—

ति-लीला-सम को हरत लीला-युत चलि पौन।
लीला'-शब्द का दुबारा प्रयोग अनावश्यक है। 'अर्थां-
त वाच्य' ध्वनि और 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार में
नहीं होता है।

(२५) पतत्प्रकर्ष

किसी वस्तु की उत्कृष्टता कहकर, फिर ऐसा वर्णन करना जिससे उसकी न्यूनता सूचित होती हो।

जैसे—

"कहँ मिश्री कहँ ऊख-रस नहीं पियूप समान;
कलाकंद-कतरा अधिक तो अधरारस पान।"

(विक्रम-सतसई)

अधर-रस को मिश्री, ऊख-रस और पियूप से भी अधिक उत्कृष्ट बताकर फिर उसको कलाकंद से उत्कृष्ट कहना पूर्वोक्त उत्कर्ष का पतन है।

(२६) समाप्तपुनरात्त

वाक्य समाप्त हो जाने पर उसी वाक्य से संबंध रखनेवाले पद का प्रयोग।

जैसे—

मारतु है घन तिमिर कों विरहिन कों दुख देतु।
रजनीकर की कर अहो! कुमुदन को सुख हेतु।

चंद्रोदय-वर्णन-संबंधी वाक्य तीसरे चरण में समाप्त हो गया है। फिर भी चौथे चरण में चंद्रमा का एक और विशेषण जोड़ दिया गया है। अतः दोष है।

(२७) अर्थांतरैकवाचक

छंद के पूर्वार्द्ध के वाक्य के कुछ भाग का छंद के उत्तरार्द्ध
होना।

जैसे—

रजनीकर की सुमकर सजनी ! करत जु भीर,
जग को, तस अब मात्र तू पीतम करत निहौर।

यहाँ पूर्वार्द्ध के वाक्य का कर्म कारक—'जग कों'—उत्त-
र्द्ध में है, यही दोष है।

(२८) अभवन्मतसंबंध

वाक्य का अन्वय भले प्रकार से न होना।

जैसे—

तेरे परत कटाच्छ जे तब स्मर छोड़त थान।

यहाँ 'जे'-शब्द का अन्वय काल-वाचक 'तब'-शब्द के
साथ नहीं हो सकता। 'जे' के स्थान पर 'जब' कहना चाहिए।
शब्द के अर्थ का अन्वय नहीं होने से सारा वाक्य दूषित
हो जाता है। पूर्वोक्त 'अविमृष्टविधेयांश' दोष में वाक्य का
अन्वय तो हो जाता है, पर जिस अंश की प्रधानता होनी
चाहिए, वह नहीं होती।

(२९) अनभिहितवाच्य

आवश्यक वक्तव्य का न कहा जाना।

जैसे—

> तोहो में रत नित रहौं विरत न होहुँ कदापि ;
> कहा दोष को लेश तू लखि सुहि तजत तथापि ।

लेश के साथ 'भी' होना आवश्यक है। 'भी' न होने से य प्रतीत होता है कि तुमने मेरा कोई बड़ा भारी अपराध देख है। लेश-मात्र अपराध देखकर ऐसा नहीं करते । पूर्वोक्त 'न्यून पद' में वाचक पद की न्यूनता रहती है, और इसमें द्योतक पद की। इनमें यही भेद है।

(३०-३१) अस्थानस्थ पद और समास

पद या समास का अयोग्य स्थान पर होना ।

जैसे—

> सौत लखत पिय ने दई निज-कर गूँथि रसाल ;
> म्लान भई हु प्रेम-बस न किहिं तजी यह माल ।
> (किरातार्जुनीय का पद्यानुवाद)

यहाँ कहना तो यह है कि 'सपत्नि के देखते हुए प्रिय के द्वारा बनाकर दी हुई माला को म्लान हो जाने पर भी किसी एक रमणी ने नहीं त्यागा।' किंतु 'न किहिं तजी' वाक्य का 'किसने नहीं तजी अर्थात् सभी ने तजी' यह अर्थ होता है, अतः 'किहिं इक तजी न' पाठ होना चाहिए। यह अस्थान-पद है।

और—

"मतिरामहरी चुरियाँ करकैं।"

मतिराम' कवि ने कहा तो यह है कि 'हरी चूड़ियाँ सन-
। हैं' पर 'मतिरामहरी' का समास हो जाने से 'राम ने मति
' ऐसा अर्थ हो जाता है। यह अस्थान-समास है।

(३२) संकीर्ण

क वाक्य के पद का दूसरे वाक्य में होना।

से—

छोड़ चंद सखि ! गगन में उदय होत अब मान।

यिका के प्रति मान-मोचन के लिये सखी की यह उक्ति
अब तू मान छोड़ दे, आकाश में चंद्रोदय हो रहा है।'
' पहले वाक्य में है और 'मान' दूसरे वाक्य में। अतः
।

(३३) गर्भित

क्य के बीच में दूसरे वाक्य का आ जाना।

—

पर उपकारी सजन को मलिन वचन को संग,
करी प्रीति दोनों करी लखिए परेहु प्रसंग।

का तीसरा पाद बीच में आ गया है, अर्थात् चौथा
हले आकर, उसके बाद तीसरे पाद का कथन करना

चंद्रमा की 'कली' का प्रयोग अप्रसिद्ध है—कहीं देखा-सुना
[जाता ।

(३५) भग्न-प्रक्रम

रस्ताव के योग्य शब्द के प्रयोग का न होना ।

—

> निसानाथ के जात ही गई साथ ही रात ;
> यासों यदि कुल-तियन को और न धर्म दिखात ।

ाई'-शब्द का प्रयोग भग्न-प्रक्रम है । 'निशानाथ के जात
है, अतः 'जात साथ ही रात' ऐसा होना चाहिए। एक जगह
' और दूसरी जगह 'गई' के प्रयोग में क्रम-भंग होता है ।
'-शब्द दो बार हो जाने से कथित पद दोष की शंका नहीं
। चाहिए, क्योंकि उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य भाव में अर्थात् विषय-
ो एक पद का दो बार प्रयोग हो सकता है ।
से—

> उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहि होवत अस्त ;
> संपति और विपत्ति में सज्जन होत न व्यस्त ।

[के उदय और अस्त-काल में रक्तता का विधान है,
ः दूसरी बार के 'रक्त' के स्थान पर 'ताम्र' आदि पर्याय-
शब्द कर देने पर अच्छा प्रतीत नहीं होता है—एक
ः की प्रतीति को—जो यहाँ आवश्यक है—दबा देता
। स्थल पर कथित-पद में दोष नहीं होता है ।

(३६) अक्रम

जिस पद के पीछे जो पद उचित हो, वहाँ उस पद का क्रमशः प्रयोग न होना।

जैसे—

समय सबल निरबल करत कहत मनहु यह बात;
सरद सरस करि हंस-रव बरहिन रव बिरसात।

'यह'-शब्द पहले चरण के अंत में होना चाहिए।

(३७) अमतपरार्थता

किसी रस के वर्णन में उसके विरोधी रस की व्यंजना का होना। शृंगार और बीभत्स, वीर और भयानक, रौद्र और अद्भुत, हास्य और करुण परस्पर में विरोधी हैं।

जैसे—

राम-मदन-सर-हत-हृदय निसिचरि मनहु स-काम;
गई रुधिर-चंदन लगा जीवितेश के धाम।

('रघुवंश' से अनुवादित)

यह ताड़का के वध का वर्णन है। प्रसंगानुकूल बीभत्स-रस है। श्रीरामचंद्रजी में कामदेव का और ताड़का में निशिचरी (रात्रि में गमन करनेवाली अभिसारिका) नायिका का आरोप होने से शृंगार-रस भी सूचित होता है, अतएव दोष है। ये शब्द के ३७ दोष कहे गए, अर्थ के २३ दोष देखिए—

(३८) अपुष्ट

ऐसे अर्थ का होना जिसके न होने पर भी अभीष्ट अर्थ कोई क्षति न होती हो।

जैसे—

उदित विपुल नभ माहिं ससि भयो ! छोड़ अब मान।

यहाँ आकाश का विशेषण 'विपुल' अपुष्ट है। चंद्रमा उदय ही मान-मोचन का कारण हो सकता है। आकाश बड़ा होना मान छोड़ने के कारण की पुष्टि नहीं करता। धेक पद' दोष में अन्वय के समय ही शब्द की निरर्थकता ज्ञान हो जाता है, पर यहाँ निरर्थक शब्द का अन्वय ो जाता है, किंतु अर्थ के समय निरर्थकता का ज्ञान होता इन दोनों में यही भेद है।

(३९) कष्टार्थ

र्थ की प्रतीति का कठिनता से होना।

—

रमत कमल-मित्र-करन-सींचि दिनकर, नहिं घन घट।
सुता सविता-सुता मिली सुर-सरिता सों यह।
रत न को विश्वास करो ! या ध्यान-वचन में;
ह • पूर्ण समुझै न हठ कल रवि-दिखावन में।

प्रस्तुत वाच्यार्थ यह है कि अपनी किरणों द्वारा जीवे र को सूर्य बरसाता है, न कि मेघ। यमुनाजी सूर्य से

उत्पन्न हुई है, और वह गंगाजी में मिलती है। व्यासजी के इन वाक्यों में कौन विश्वास नहीं करता ? अर्थात् जब यमुना और यमी सूर्य से ही उत्पन्न हैं, तो सूर्य की किरणों में जल होना ही चाहिए, फिर भी मूर्ख मृगी सूर्य की किरणों में जल के होने में विश्वास नहीं करती। यह अप्रस्तुत अर्थ बड़ा दुर्बोध है। इस पद्य में मुग्धा नायिका का नायक पर अविश्वास करना जो व्यंग्य-रूप प्रस्तुत अर्थ है, उसका ज्ञान तो हो ही कैसे सकता है ? अतः कष्टार्थ दोष है। पूर्वोक्त 'क्लिष्टत्व' दोष में शब्द का परिवर्तन कर देने से अर्थ की प्रतीति में क्लिष्टता नहीं रहती, पर यहाँ शब्द-परिवर्तन कर देने पर भी क्लिष्टता बनी रहती है। इसमें यही भेद है।

(४०) व्याहत

किसी वस्तु का महत्त्व दिखाकर फिर उसकी हीनता का सूचित होना, या पहले हीनता दिखाकर फिर महत्त्व का सूचित होना। जैसे—

> औरन के मन-हरन को चंद्रकलादि अनेक,
>
> मोहिं सुखद दृग-चंद्रिका प्रिया वही है एक।
>
> ('मालती माधव' से भाषानुवादित)

जिस चंद्रकला को पूर्वार्द्ध में आनंद-जनक नहीं माना है, उसी को उत्तरार्द्ध में—दृग-चंद्रिका पद से सुख-कारक माना है, अतः व्याहत है।

(४१) पुनरुक्त

एक शब्द या वाक्य द्वारा अर्थ-विशेष की प्रतीति हो जाने पर भी उसी अर्थवाले दूसरे शब्द या वाक्य द्वारा उसी अर्थ का प्रतिपादन करना। पूर्वोक्त 'अपुष्ट' दोष में अर्थ की पुनरावृत्ति नहीं होती।

जैसे—

सहसा कबहुँ न कीजिए विपद-मूल अविवेक ;
आपुहि आवत संपदा जहाँ होय सुविवेक।

पूर्वार्द्ध में जो बात है, वही उत्तरार्द्ध में है। पूर्वार्द्ध में अविचार को विपदा का मूल कहा है। इसी बात से यह भी स्पष्ट है कि सुविचार से संपदा मिलती है, तथापि इस बात को उत्तरार्द्ध में 'सुविचार से संपदा मिलती है' इस वाक्य द्वारा दुबारा कहा गया है। यही पुनरुक्त दोष है।

और भी—

इक तो मदन-विशिख लगे मुरछि परी सुधि नाहिं ;
दूजे बद बदरा अरी ! घिरि-घिरि विष बरसाहिं।

(शृंगार-सतसई)

'मुरछि परी' कहकर फिर 'सुधि नाहिं' कहना पुनरुक्त है ; क्योंकि मूर्च्छा में सुधि कहाँ रहती है।

(४२) दुष्क्रम

लोक या शास्त्र-विरुद्ध क्रम का होना।

जैसे—

नृप ! मोको हय दीजिए अथवा मत्त-गयंद।

घोड़े से पहले हाथी माँगना चाहिए, क्योंकि विकल्प जो वस्तु माँगी जाती है, वह उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी की है। जो घोड़ा ही नहीं दे सकेगा, वह हाथी क्या दे सकेगा और भी—

"यह बसंत न, खरी गरम अरी! न सीतल बात,
कह क्यों प्रकटे देखियत पुलक पसीजे गात।"

गर्मी में पसीना हुआ करते हैं, और शीत से रोमांच। पूर्वार्द्ध में पहले गरम और फिर शीतल शब्द है। इसी क्रम से उत्तरार्द्ध में पहले 'पसीजे' और फिर 'पुलक' चाहिए। यहाँ पहले 'पुलक' और तदनंतर 'पसीज' है,; यही अक्रम है।

(४३) ग्राम्य

गँवार-भाषा का प्रयोग।

जैसे—

हौं सोवत मेरे निकट तू भी आ इत सोय।

इसमें सरसता नहीं है। ऐसे वर्णन सहृदयों को उद्वेग-जनक होते हैं।

(४४) संदिग्ध

कोई निश्चित अर्थ का न होना। जैसे—

सेवनीय रमनीय के अथवा गिरिन नितंब।

ँ यह संदिग्ध है कि इस वाक्य का कहनेवाला कोई रसिक है या विरक्त ?

(४५) निर्हेतु

ी बात के हेतु का नहीं कहा जाना ।

—

ा ग्रहण था तुम्हे पिता ने परिभव-भय के ही कारण;
पि था न उचित विप्रों को यह तेरा करना धारण ।
ा दिया है तुम्हे उन्होंने जब कि पुत्र-वध सुना वहीं,
ा शस्त्र मैं भी करता हूँ अब तेरा यह त्याग यहीं ।
(वेणीसंहार से अनुवादित)

ाध के कारण शोकातुर अश्वत्थामा की अपने शस्त्र ह उक्ति है । मेरे पिता ने ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियों होने के भय से ही तुम्हे ग्रहण किया था । उन्होंने ध सुनकर—राजा युधिष्ठिर के मुँह से मेरा मरना तुम्हे त्याग दिया है । मैं भी अब तुम्हे छोड़ता हूँ । द्वारा शस्त्र के त्यागने का हेतु पुत्र-वध को सुनना ा है, इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा शस्त्र त्यागने में हना चाहिए था । पर यहाँ ऐसा कोई हेतु नहीं कहा ः दोष है ।

(४६) प्रसिद्धि-विरुद्ध

अप्रसिद्ध बात का उल्लेख हो।

जैसे—

कंकन यो पार्खों कहैं है बनकी अति मूढ़;
मदन दियो निज-चक्र यह मृगलोचनि कर-मूढ़।

यहाँ हाथ के भूषण—कंकण—को कामदेव का शस्त्र का है। कामदेव का शस्त्र धनुष ही लोक में प्रसिद्ध है, न चक्र। चक्र का संबंध तो भगवान् विष्णु के साथ प्रसिद्ध है यदि स्वयं कामदेव को चक्र-युक्त कहा जाय, तो कोई दो नहीं है, क्योंकि एक का प्रसिद्ध शस्त्र दूसरा धारण क सकता है। पर कामदेव के शस्त्र की उपमा तो उसके धनु से ही दी जा सकती है, न कि दूसरे किसी शस्त्र से।

और भी—

भूलि न अइयो पथिक! तुम तिहिं सरिता-तट ओर;
तरुनि-पदाहत-अंकुरित नव-असोक जहँ ओर।

रक्त अशोक को देखकर विरहानुभवी किसी पथिक क अन्य पथिकों से यह उक्ति है। कामिनी के पाद के आघात अशोक का पुष्पित होना ही कवि-संप्रदाय में प्रसिद्ध है न कि अंकुरोद्गम का होना। अतः यहाँ अप्रसिद्ध बात क उल्लेख है। यदि लोक-विरुद्ध कोई भी बात कवि-संप्रदाय प्रसिद्ध होती है, तो वहाँ दोष नहीं माना जाता है।

(४७) विद्या-विरुद्ध

ास्त्र-विरुद्ध वर्णन।

ैसे—

> रद-छद सद नख-रद लगे कहैं देत सब बात।

हाँ रद-छदों पर—अधरों पर—नख-क्षतों का होना काम-
के विरुद्ध है। इसी प्रकार जहाँ धर्म, नीति आदि शास्त्र
रुद्ध वर्णन होना है, वहाँ भी यह दोष होता है।

(४८) अनवीकृत

ेक अर्थों का एक ही प्रकार से होना, उनमें कोई विलक्ष-
न होना।

—

> सदा कान्त नभ भौन रवि सदा चलत है पौन,
> सदा धरत भुवि सेस सिर धीर सदा रहैं मौन।

। चरणों में 'सदा' पद का प्रयोग है। इसके अर्थ में
ाता नहीं है, अतः दोष है। ऐसे वर्णनों में विलक्षणता
पर दोष नहीं रहता।

—

> ्क हय-युत रवि भौन सेष सदा धरनी धात,
> ंसि दिन बहत जु पौन प्रकृति-धर्म हू है यही।

उपर्युक्त बात का स्वरूप बदल जाने से विलक्षणता
। कथित पद-दोष में पर्याय-वाची शब्द के बदल देने

से दोष नहीं रहता। यहाँ पर्याय-वाची शब्द के बदल देने भी दोष रहता है। इनमें यह भेद है।

(४९) सनियम परिवृत्तता

जिस बात को नियम से कहना चाहिए, उसको नि से नहीं कहना। नियम का अर्थ है किसी वस्तु का स्थान पर नियम किया जाने पर उसका अन्यत्र निषे होना।

जैसे—

> दीखत के रमनीय ये जग में विषय-विलास।
> ह्वै निरास तिनमें वृथा करत कहा सुख-आस।

यहाँ 'दीखत' पद के साथ 'ही' होना चाहिए। 'ही' के कारण यह नियम हो जाता है कि 'विषय-विलास केवल देखने में ही सुरम्य है, वस्तुतः नहीं।'

(५०) अनियम परिवृत्तता

जिस बात को नियम से न कहना चाहिए, उसको नियम से कहा जाना।

जैसे—

> हैं नेत्र नील-अरविंद खिले सुहाएँ,
> दम्पति ! मंजुल मृणालमयी भुजाएँ।
> आवर्त ही ललित नाभि न क्या बता तू!
> लावण्य-इंदु परिपूरित वापिका तू।

यहाँ नायिका को लावण्य-रूप जल की नदी बताया है। नेत्रों में खिले कमल का, भुजाओं में मृणाल का, नाभि में आवर्त (जल के भँवर) का आरोप किया गया है।

'आवर्त' के साथ 'ही' का प्रयोग अनुचित है—केवल आवर्त कहना चाहिए। क्योंकि 'ही' के कारण यह नियम हो गया है कि आवर्त ही नाभि है, और कोई वस्तु नाभि नहीं, अतः दोष है।

(५१) विशेष परिवृत्तता

जिस अर्थ के लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना चाहिए, उसके लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना।

जैसे—

क्यों न करहु कायर हिरक सजनी ! रजनी कारि ;
काहू विधि चूरन करहु ससिहि लिहा पै डारि।

(राजशेखर की 'विद्धशालभंजिका'-नाटक से अनुवादित)

विरहिणी के कहने का अभिप्राय यह है कि इस चाँदनी रात को प्रकाश-हीन कर दो। किंतु 'रजनी'-शब्द अँधेरी और चाँदनी दोनों तरह की रात्रि का बोध कराता है, यह सामान्य शब्द है, इसलिये चाँदनी रात के वाचक 'उजेरी' आदि किसी विशेष शब्द का प्रयोग होना चाहिए था, अर्थात् यहाँ विशेष शब्द के स्थान पर सामान्य शब्द का प्रयोग होने के कारण दोष है।

(५२) अविशेष परिवृत्तता

जिस अर्थ के लिये सामान्य शब्द का प्रयोग करना चाहिए उसके लिये विशेष शब्द का प्रयोग करना।

जैसे—

विद्रुम-निधि तू है! जलधि! महिमा कही न जाय;

समुद्र को एक ही रत्न-विशेष-विद्रुम का निधि कहना अनुचित है; क्योंकि समुद्र केवल विद्रुम का ही नहीं, किंतु अनेक रत्नों का निधि है। अतः विद्रुम के स्थान पर 'रत्न' आदि सामान्य-वाचक शब्द होना चाहिए था।

(५३) साकांक्ष्य

अर्थ की संगति के लिये किसी शब्द या वाक्य को आकांक्षा (आवश्यकता) का रहना।

जैसे—

भंग भई निज याचना पुनि अरि को उतकर्ष;

स्त्री रत्नहु दसमुकुट! तुम क्यों सहि सको अमर्ष।

(महावीर-चरित से भावानुवादित)

सीताजी के लिये याचना करके हताश हुए माल्यवान् की रावण के प्रति यह उक्ति है। 'स्त्री रत्नहु' के आगे 'छोड़िबो' इत्यादि की आकांक्षा रहती है। क्योंकि केवल 'स्त्री रत्नहु' के साथ 'तुम क्यों सहि सको अमर्ष' का अन्वय नहीं हो सकता।

(५४) अपदयुक्त

जहाँ ऐसे अनुचित स्थान में अर्थ का योग हो, जिससे रणार्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो।

जैसे—

> आज्ञानुकारि सुरनाथ, पुरारि-भक्ति,
>
> लंकापुरी, विमल-वंश, अपार-शक्ति।
>
> है धन्य, ये यदि न रावणता कहीं हो,
>
> एकत्र सर्व-गुण किंतु कहीं नहीं हो।
>
> (राजशेखर-कृत बाल-रामायण से पद्यानुवादित)

हाँ रावण में रावणत्व (सब लोगों को रुलानेवाली) रूप दोष दिखलाना ही प्राकरणिक अर्थ है। चौथे के अर्थांतरन्यास के कारण उस दोष में लघुता आ गई अर्थात् रावण की अत्यंत क्रूरता यह कह देने से कि गुण एक स्थान पर नहीं हो सकते' एक साधारण बात है। अतएव चौथे पाद में जो बात कही गई है, उसे नहीं चाहिए था।

(५५) सहचर भिन्न

त्कृष्ट के साथ निकृष्ट का, या निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का होना। जैसे—

> गलित पयोधर कामिनी, सज्जन संपत्ति-हीन;
>
> दुर्जन को सनमान यह हिय दाहक है तीन।

यहाँ कामिनी और सज्जन के साथ में दुर्जन का वर्णन है यही सहचर-भिन्नता है।

(५६) प्रकाशित विरुद्ध

अभीष्ट अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति होना। जैसे—

राज्य-लक्ष्मि को प्राप्त हो नृप ! तव जेष्ठ कुमार।

राजा को यह कहना कि 'आपका जेष्ठ कुमार राज्य-लक्ष्मी को प्राप्त करे' राजा का मरना सूचित करता है। क्योंकि राजा की जीवित अवस्था में राजकुमार को राज्य-श्री नहीं मिल सकती। राजा का मरना सूचित होना प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति है। पूर्वोक्त 'विरुद्धमतिकृत' दोष शब्द के आश्रित है—वहाँ शब्द-परिवर्तन से दोष नहीं रहता है। यहाँ शब्द परिवर्तन कर देने पर भी दोष रहता है, इन दोनों में यही भेद है

(५७) विध्ययुक्त

अविधेय (विधान करने के अयोग्य) का विधान होना जैसे—

बंदिन सो प्रतिबुद्ध ह्वै अब सुख सोय नृपाल !
करौ धरापांडव भुवि अवै कारौं सब रन-साज।
(वेणीसंहार से भावानुवादित)

द्रोणाचार्य के कारण कुपित अश्वत्थामा की दुर्योधन के प्रति यह उक्ति है—'हे राजन्, अब तक तुम्हें पांडवों के भय से निद्रा नहीं आती थी। अब तुम 'बंदीजनों की स्तुति से

उठकर निःशंक सुख से सोना।' कहना यह चाहिए था कि अब सुख से सोकर बंदीजनों की स्तुति से उठना। बंदीजनों की स्तुति से प्रथम सोने का विधान है, यही अविधेय का विधान है।

(५८) अनुवाद अयुक्त

विधि के अनुकूल अनुवाद का नहीं होना। जैसे—

> गोरी पति-मुद्रा भाल! हरन विरहि-जन प्रान;
> निरदयता कीजै न ससि! मुद्दित भवला तिय जान।

विरहिणी की चंद्रमा से प्रार्थना है। चंद्रमा को 'विरहि जन-प्राण-हरण' संबोधन दिया गया है, यह प्रार्थना के प्रतिकूल है। क्योंकि जिसे विरही जनों का प्राण-घातक कहा जाय, उसी से निर्दयता न करने की प्रार्थना करना अनुचित है। यही अनुवाद अयुक्त दोष है।

(५९) त्यक्तपुनः स्वीकृत

किसी अर्थ का त्याग करके फिर उसी का स्वीकार करना। जैसे—

> "प्यारे पानि गह्यो जानि मौन मैं अकेली जानि
> नैनन चढ़ाय के सकोंनों ललचात है,
> नैनन हँसौंहैं दीठि राखत है सौंहैं
> मुसकाय कै लजौंहैं दंग-दंग दरसात है।
> भयो मन भायो ज्यों सुरत सुख पायो
> हिय आनँद बढ़ायो नेह नेकनि जनात है;

मदकि छुटावैं वाहि मिस्यो चाहैं मनमाहिं,
करैं नाहीं-नाहीं वाही मिस नियरात है।"

तीसरे चरण के 'सुख पायो' वाक्य तक रति-क्रीड़ा वर्णन की समाप्ति हो चुकी है, फिर तीसरे चरण के उत्तरार्ध और चौथे चरण में क्रीड़ा की पूर्वावस्था का वर्णन करना व्यक्त पुनःस्वीकृत दोष है।

(६०) अर्थ अश्लील

लज्जास्पद आदि अर्थ की प्रतीति होना।

जैसे—

मारन उद्यत ह्वै रह्यो छिद्रान्वेषी स्तब्ध,
क्यों ह्वै याको पतन पुनि सो न वेगि ह्वै लुब्ध।

यहाँ दूसरे के छिद्र को ढूँढनेवाला, मारने को उद्यत और स्तब्ध ऐसे किसी दुष्ट का पतन करने को कहा गया। यहाँ पुरुष के गुह्यांग-विशेष के वर्णन की भी प्रतीति होती इसलिये अश्लील है।

शब्द और अर्थ के ये ६० प्रकार के दोष कहीं-कहीं दोष नहीं भी होते हैं, और कहीं-कहीं ये प्रत्युत गुण भी हो जाते हैं।

जैसे—

कर्णावतंस इसके अति दर्शनीय,
है शोभनीय श्रुति - कुंडल अद्वितीय।

आमोद से दिसि प्रमोदित हो रही हैं,
सारी प्रमोमित जहाँ अमरावती है।

'अवतंस' और 'कुंडल' कानों में पृथक्-पृथक् स्थानों पर पहनने के 'आभूषण होते हैं। केवल 'अवतंस' और 'कुंडल' कहने-मात्र से यह ज्ञान हो सकता है, कि ये कानों में पहनने के आभूषण हैं। तथापि यहाँ 'कर्ण' और 'श्रुति'-शब्द भी हैं। किंतु इनका प्रयोग पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि कर्ण और श्रुति शब्दों के प्रयोग के कारण कर्ण की समीपता प्रतीत होती है, जिससे कानों में पहने हुए अवतंस और कुंडलों से कामिनी की शोभा का उत्कर्ष सूचित किया गया है। बिना पहने हुए अन्यत्र रक्खे हुए तादृश शोभित नहीं होते। ऐसे वर्णनों में 'पुनरुक्ति' दोष नहीं होता।

और भी—

ललित हाव अरु तरुन वय अरु तरुनी मुखचंद;
कुसुम-माल लखि ललित ज्यों किहि को है न अनंद।

यद्यपि 'माला'-शब्द से ही पुष्पमाला की प्रतीति हो सकती है, किंतु यहाँ पुष्पमाला कहने से अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि द्वारा उत्कृष्ट पुष्पों का सूचन होता है। ऐसे प्रयोगों में पुनरुक्त या अपुष्ट दोष नहीं होता।

लोक-प्रसिद्ध अर्थ में 'निर्हेतुक'-दोष नहीं होता है।

जैसे—

ससि-गत लहत न कमल-गुन कमल-गत न ससि भाम;
मिलहि उमा-मुख पाय सो उभयाश्रित गुन-ग्राम।

(कुमारसंभव से अनुवादित)

रात्रि में चंद्रमा के आश्रित रहकर श्री को (शोभा को) कमल के सारभादि गुण प्राप्त नहीं हो सकते, और दिन में कमल के आश्रित हो जाने से उसे चंद्रमा के कांति आदि गुण प्राप्त नहीं हो सकते; किंतु पार्वतीजी के मुख के आश्रित होकर उस (श्री या शोभा) को कमल और चंद्रमा दोनो के गुण प्राप्त हो गए हैं। यहाँ रात्रि में चंद्रमा के आश्रित श्री को कमल के गुणों के न मिलने में कमल का रात्रि में संकुचित हो जाना ही हेतु है, और दिन में चंद्रमा के गुण न मिलने में दिन में चंद्रमा का निस्तेज हो जाना हेतु है। ये दोनो यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहे गए हैं, पर ये हेतु लोक-प्रसिद्ध हैं। इनके न कहने पर भी स्वयं इनका ज्ञान हो जाता है, इसलिये निर्हेतु दोष नहीं है।

श्लेष और यमक आदि अलंकारों में 'अप्रयुक्त' और 'निहतार्थ' दोष नहीं माने जाते हैं। सुरतारंभ गोष्ठी में व्रीड़ा-व्यंजक अश्लील, वैराग्य की कथाओं में बीभत्स-व्यंजक अश्लील और भावि-वर्णन में अमंगल-व्यंजक अश्लील दोष नहीं माना जाता, प्रत्युत गुण समझा जाता है। जैसे—

उदर फटे मंडूक-सम स्रवत ह रहत उसौन;
अस तिय के मग में कहो ह्वै रत कृमि बिन कौन।

इसमें क्रीड़ा और बीभत्स-व्यंजक वर्णन है, किंतु वैराग्य के प्रसंग में होने के कारण दोष नहीं है।"

वाच्यार्थ के महत्त्व से 'संदिग्ध' दोष, 'व्याजस्तुति' अलंकार आदि में गुण समझा जाता है।

जैसे—

> पृथुकार्तस्वर[1] पात्र है भूषित परिजन देह।
>
> नृप ! अपने दोउन के है समान ही गेह।

यहाँ दो अर्थवाले पद होने से संदिग्ध अर्थ है। किंतु राजा और कवि दोनों में अपने-अपने अनुकूल अर्थ के बोधक होने के कारण दोष नहीं है।

जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों व्यक्ति वर्णनीय शास्त्र-विषय के ज्ञाता होते हैं, वहाँ 'अप्रतीत' दोष नहीं होता है।

जहाँ वक्ता नीच पात्र होता है, वहाँ 'ग्राम्य' दोष नहीं होता है।

---

1 किसी राजा के प्रति उक्ति है—'हे राजन् ! आपके घर में पृथुकार्तस्वर पात्र हैं अर्थात् पृथु (बहुत से) कार्तस्वर (सुवर्ण) के पात्र हैं, मेरे घर में भी पृथुकार्तस्वर पात्र हैं, अर्थात् पृथुक (बालक) आर्तस्वर—क्षुधा-पीड़ित दीन ध्वनि के पात्र—हो रहे हैं। आपके घर में परिजनों के देह भूषित हैं, अर्थात् आभूषणों से शोभित हैं, मेरे घर में परिजनों के शरीर भूषित अर्थात् पृथ्वी पर सोते हैं। अतः आपके और मेरे घर में समानता है।

जहाँ अध्याहार के कारण शीघ्र ही प्रतीति हो सके हो, वहाँ 'न्यून पद'-दोष नहीं होता है।

'अधिक पद' दोष भी कहीं दोष न रहकर गुण जाता है।

जैसे—

> स्वारथ हित खल करत जो ठगिवे मीठी बात;
>
> सो न सुजन जानत न पै जानत कृपा दिखात।

खल पुरुष अपने लाभ के लिये ठगने को मीठी-मीठी बा सज्जनों के सामने करते हैं। उनकी ये बातें क्या सज्जन नहं जानते हैं? जानते हैं, पर जानकर भी उन पर कृपा दिखाते हैं यहाँ 'जानत' पद दो बार है। दूसरी बार का 'जानत' प अधिक होने पर भी यह दूसरे लोगों से सज्जनों को पृथक् दिखाने के लिये है अर्थात् खलों की करतूत को जानते हु भी सज्जन ही उन पर कृपा करते हैं—अन्य नहीं।

'लाटानुप्रास', 'कारणमाला' अलंकारों में और 'अर्थांत संक्रमितध्वनि में, 'कथित पद'-दोष न रहकर प्रत्युत गुण हो जाता है।

जैसे—

> सहृदय जन आदर करैं तब ही गुन प्रकसाहिं।
>
> भानु अनुग्रह पाय ही कमल कमल दरसाहिं।
>
> (चित्रमयाचलीला से अनुवादित)

दूसरी बार के 'कमल' पद में अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि है। दूसरी बार का 'कमल' पद कमल को विकास, सौरभ और सौंदर्य आदि गुण-युक्त सूचित करता है। लाटानुप्रास और कारणमाला के उदाहरण अलंकार-प्रकरण में देखिए।

अनुप्रासादि अलंकारों में एक ही पद्य में कहीं विपर्यांतर हो जाने पर 'पतत्प्रकर्ष'-दोष नहीं माना जाता है।

प्रथम भाग समाप्त। द्वितीय भाग में अलंकार के विषय का निरूपण किया जायगा।

विषयानुक्रमणिका

काव्यालंकारसूत्र—वामन, सि, भूपाल-कृत कामधेनु व्याख्या, विद्याविलास, बनारस, सन् १६००

काव्यालंकार—रुद्रट, नमिसाधु-कृत टिप्पणी, नि० सा०, सन् १८८६

काव्यादर्श—दंडी, पूना संस्करण, सन् १६१४

काव्यानुशासन—हेमचंद्र विवेक व्याख्या, नि० सा०, सन् १६०१

काव्यानुशासन—वाग्भट, नि० सा०, सन् १६१५

कुवलयानंद—अप्पय्य दीक्षित, श्रीवेंकटेश्वर-प्रेस, बंबई, वि० संवत् १६६१

चंद्रालोक—पीयूषवर्ष जयदेव, गुजराती प्रिंटिंग, बंबई, सन् १६२३

चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, नि० सा०, सन् १८६३

दशरूपक—धनिक, नि० सा०, सन् १६२७

ध्वन्यालोक—ध्वनिकार और श्रीआनंदवर्द्धनाचार्य, अभिनवगुप्ताचार्य-कृत लोचन व्याख्या नि० सा०, सन् १८६१

नाट्यशास्त्र—श्रीभरतमुनि, अभिनवगुप्ताचार्य-कृत अभिनव भारती व्याख्या अध्याय १-६, गायकवाड़ बड़ौदा, सन् १६२६

नाट्यशास्त्र—श्रीभरतमुनि मूल, नि० सा०, सन् १८६४

भगवद्भक्तिरसायन—श्रीमधुसूदन स्वामी, अच्युत-ग्रंथमाला, बनारस, वि० सं० १६८४

रसगंगाधर—पंडितराज जगन्नाथ, नि० सा०, सन् १८६४

वक्रोक्ति जीवित—कुंतक या कुंतल, ओरियंटल सीरीज़, कलकत्ता सन् १६२८

व्यक्तिविवेक—महिम भट्ट, नि० सागर, बंबई

वाग्भटालंकार—वाग्भट, नि० सा०, सन् १६२८

वृत्तिवार्तिक—अप्पय्य दीक्षित, नि० सा०, सन् १६१०

शब्दव्यापारविचार—श्रीमम्मट, नि० सा०

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	६	सँधार कै	संधान करै
२००	१६	मुरली में ध्वनि	मुरली-ध्वनि में
२०१	८	को भी कहते	को भाव कहते
२०२	१	संज्ञा दी है	संज्ञा ही है
२८८	६	एक साथ कुरंग	एक कुरंग
३०८	१४	तुम	तुम्ह
३१५	२३	। समास	का समास
३६९	१०	वर्णन है	वसंत का वर्णन
३७६	१९	व्यक्ति का	व्यक्ति को
३१०	६	गोपी	गोरी